लक्षणा अस्मितारूपा 'हीनग्रन्थि' के कारण सर्वथा असमर्थ ही मानते मनवाते हुए इत्थंभूत हीनतेजोवीर्य्य मन्दप्रज्ञ भाग्यहीन–पौरुषहीन मानव ही अपनी इस हीनता से स्वयं ही सर्वात्मना दुःख पाया करते हैं, एवं अपने इस दुःखों से उत्पीड़ित ये नराधम ही 'यत्र तत्र–सर्वत्र सभी क्षेत्रों में सभी के प्रति अपना आक्रोश ही व्यक्त करते रहते हैं, ऐसे इन नराधमों में मैं कदापि निवास नहीं किया करती। क्योंकि मनोरथ तो इनके अवश्य ही बड़े बड़े होते हैं। किन्तु इनके ये मनोरथात्मक मनोमोदक इनके मनोराज्य में हीं परिभ्रममाण बने रहते हैं। न ये नराधम अपने व्यक्तित्वविमोहन के कारण किसी से कुछ कहना चाहते अपने मनोरथों के सम्बन्ध पें, न किसी से कुछ सुनना ही चाहते। अपितु इनके सभी कर्म्म–मनोरथ-गुप्त ही बने रहते हैं। अपने गुप्त षड्यन्त्रों के द्वारा ही ये अपने गुप्त मनोरथों को गुप्तरूप से ही सफल बनाने के लिए निरन्तर आकुल–व्याकुल ही बने रहते हैं, जबकि हीनसत्त्व–हीनप्राण–हीनवीर्य्य–हीनग्रन्थि–हीनप्रज्ञ–हीनपराक्रम–इन मनोराज्यवशवर्त्ती मानवों का एक भी तो गुप्त मनोरथ सफल नहीं हो पाता मेरी तटस्थता के कारण (७)॥

अन्यदपि रुक्मणी देवी! जो मूढधी आत्मानुगता ऐश्वर्य्यविभूति के बोध से वञ्चित रहता हुआ मेरे ऐश्वर्य्यरूप–त्रैलोक्यव्यापक–भूमा-भाव से अपरिचित है अपनी हीनग्रन्थिरूपा **'अस्मिता'** के कारण, वही अपने हृदयस्थ विभूतिशाली आत्मदेव से कभी कोई कामना न कर अपने गुप्त मनोरथों को स्वसमान गुप्ततन्त्रायी अस्मिताशाली हीन मानवाधमों से ही गुप्तरूप से ही दैन्यप्रदर्शन के द्वारा मूकभाव से ही याञ्चा करता रहता है, जो ऐसी याञ्चा कदापि सफल नहीं हुआ करती उन तन्त्रायी मायाचारपरायणों गुप्तपथानुगामियों के द्वारा। यों अपने आत्मदेव से कोई याञ्चा न कर (स्वपुरुषार्थ से कुछ भी काम न लेकर) जो व्यक्ति अनात्मभावानुगत परवञ्चकों के दासानुदास बने रहते हैं, सचमुच स्वावलम्बित्व से वञ्चित ऐसे परावलम्बी मानवों के इस अभ्यास से इनका स्वप्रकृतिरूप स्वभाव, तदनुगत आत्मा सर्वथैव अन्तर्म्मुख बन जाया करते हैं इन मनोवशवर्त्ती हीन-ग्रन्थिमानवों के लिए। अतएव ये कल्पना ही नहीं कर सकते आत्मा, तथा आत्मानुगता प्रकृति के महान् ऐश्वर्य्य की। इसप्रकार एकमात्र अस्मितादोष से यों स्वानुगत ऐश्वर्य्यस्वरूप से वञ्चित ये गुप्तमनोरथवादी हीन मानवाधम परवञ्चकों की दासानुदासता से यदा कदा उपलब्ध होते रहने वाले करपट्टिकाखण्डों * से ही (विकम्पितपुच्छ लालसा-लिप्सु श्वान की भाँति) अपने आपको सन्तुष्ट-परमधन्य-कृतकृत्य-मानते रहने की भ्रान्ति करते हुए इस दैन्यभाव में हीं अपना श्री-लक्ष्मी-विहीन भौतिक-पशुजीवन समाप्त कर लेते हैं। रुक्मिणीजी! सचमुच ऐसे अल्पसन्तोषी–ऐश्वर्य्यकामवञ्चित दीन हीनों की ओर तो मैं प्रयासपूर्वक जानबूझ कर (सम्यक्) ही भ्रूविक्षेप भी नहीं किया करती ÷ **"तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्"** ॥८॥

---

* रोटी के टुकड़ों

÷ संवादभाषा के माध्यम से महात्मा भीष्म ने–**'यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चित्०'** इत्यादि अष्टम पद्य से उन भावुक मानवों को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण वैसा उद्बोधन प्रदान किया है, जिस उद्बोधन को विगत तीन सहस्र वर्षों से भारतीय आत्मनिष्ठ भी मानव अनात्मवादात्मक–शून्यवाद के कारण विस्मृत करता हुआ–**'सन्तोष'** जैसे अनार्य्यजुष्ट शब्द का अनुगामी बन गया है। आत्मभूमा के अनन्योपासक वेदमहर्षि जहाँ–**'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत्–न क्वचिदप्यलंबुद्धिमादध्यात्' [जो विभूति नहीं है, उसे प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा करते रहना चाहिए।** कदापि किसी भी क्षेत्र में **अलंबुद्धि–बस बहुत** हुआ-इस

और सुनो रुक्मिणी देवी ! [धर्मराज युधिष्ठिर ने महात्मा देवव्रत भीष्म से आरम्भ में जो यह प्रश्न किया था मेरे सम्बन्ध में कि—"कीदृशे पुरुषे तात ! स्त्रीषु वा भरतर्षभ !", सो इसके सम्बन्ध में भी मेरा प्रासङ्गिक निर्णय सुनलो कि]—

"स्वधर्म्मशीलेषु च, धर्म्मवित्सु, वृद्धोपसेवानिरते च, दान्ते ।
कृतात्मनि, क्षान्तिपरे, समर्थे,=क्षान्तासु, दान्तासु तथाऽबलासु ॥६॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु, बसामि देवद्विजपूजिकासु" ।

अर्थात्—जो मानव निगमागमपुराणस्मृतिसिद्ध-वर्णाश्रमाचारानुगत—स्व—स्व-वर्णभेदभिन्न—स्व-स्व-प्रकृति-स्वरूपसंरक्षक-स्व—स्व—स्वधर्मों में निष्कारणभाव से आचारनिष्ठ बने रहते हैं, जो मानवश्रेष्ठ ऐसे धर्म्मतत्त्व के रहस्यात्मक—ज्ञानविज्ञानचिन्तन में अपनी गुहानिहितवृत्ति से तल्लीन रहते हैं, जो मानवधुरीण वर्णाश्रम-धर्म्मपरायण वृद्धपुरुषों की सेवा में संलग्न रहते हैं, जो पुरुष अपनी मानसिक—ऐन्द्रियक—शारीरिक, सर्वोपरि बौद्धिक वृत्तियों को मर्य्यादित रखते हुए उच्छृंखल नहीं बन पाते, अतएव जो 'दान्त' कहलाए हैं—उनमें, जो कृतधी बुद्धियोगनिष्ठा के द्वारा अपने अन्तस्थ अव्ययात्मा के साथ अपने कर्म्मभोक्ता देही जीवात्मा का सम्बन्ध कर आत्मसंवित् प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे निष्कामभावापन्न कृतात्माओं में ×, सत्त्वरजस्तमोगुण—बहुला प्रकृति के गुणात्मक प्राकृत विश्व से सम्बन्ध रखने वाले सुख—दुःख—शान्ति—हर्ष—शोकादि द्वन्द्वभावों के साथ

प्रकार का सन्तोष नहीं करना चाहिए"] यह आदेश—प्रदान कर रहे हैं, श्रुत्यर्थानुसारिणी मनुस्मृति जहाँ विस्पष्ट शब्दों में—

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत्-नैनां मन्येत दुर्लभाम्" [मनुः ४।१३७।]

इत्यादिरूप से यह उद्बोधन प्रदान कर रही है कि—**"मानव को अपने अतीत जीवन की असमृद्धि—असफलताओं-निराशाओं से कभी भी अपने आपको निराश नहीं कर लेना चाहिए। अपितु उसे तो मृत्युक्षणपर्य्यन्त ऐश्वर्य्य—लक्ष्मी की ही कामना करते रहना चाहिए, जोकि लक्ष्मी आत्मनिष्ठ मानव के लिए कदापि दुर्लभा—दुष्प्राप्या नहीं है"**, वहाँ—आत्मैश्वर्य्य से सर्वथा विपरीत—अनात्म-मूलक—सन्तोष, श्रुतिस्मृतिविरुद्धा इत्थंभूता अनार्य्यजुष्टा हीनता कदापि भारतीय आत्मनिष्ठ—आस्तिक मानव का तो मन्तव्य नहीं माना जा सकता, नहीं माना गया। **'तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नाहं निवसामि'** वाक्य स्पष्ट रूप से इसी अस्मितामूलक-राष्ट्रैश्वर्य्यविनाशक—सन्तोष का प्रचण्ड विरोध कर रहा है। **ऐश्वर्य्यसंग्रह में जहाँ असन्तोष ही माना है, वहाँ ऐश्वर्य्यभोग में हीं सन्तोष विहित हुआ है शास्त्र में। सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य का संग्रह करते हुए तत्प्रति आसक्त न होना हीं भारतीया आत्मतुष्टि की नैगमिक—व्याख्या है,** जिस इस मर्म्म को न समझने के कारण यह ऐश्वर्य्यसंग्रह के प्रति ही सन्तोष करने लग पड़ा है अनात्मवादी—कल्पित त्यागवादी—शून्यवादी मानव, जिसके इस ऐश्वर्य्यसंग्रहविरोधी सन्तोष से ही राष्ट्रलक्ष्मी का आततायीवर्ग ने अपहरण कर लिया है, इति नु महतीयं विडम्बना कल्पितसन्तोषवादस्य।

× **"कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः"** (उपनिषत्)

धैर्य्यपूर्वक संघर्ष करते रहने वाले, इन द्वन्द्वों से आत्मबुद्धिधृति से विकम्पित न होने वाले, इत्थंभूत सहनशील-क्षान्त मानवों में, अपने मानसिक सत्यसंकल्प, प्राणानुगत दृढ़तम अध्यवसायरूप तप (प्राणव्यापार), तथा वागनुगत श्रम-परिश्रम से सभी मानवीय-शक्तियों से सर्वसमर्थ बने रहने वाले मानवों में हीं मेरा निवास हुआ करता है। तथैव-तथाविधा क्षान्ता-(धैर्य्यगुणान्विता), तथा दान्ता (मर्य्यादानुगता) नारियों में हीं मैं निवास करती हूँ ॥९॥ सत्यभाषण-परायणा, मृदु-सरल-स्वभावानुगता, देव-द्विज-श्रद्धापरायणा-इत्थंभूता सहधर्म्मचारिणी गृहदेवियों में हीं मेरा निवास रहता है। एवं ठीक इसके विपरीत—

"प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं, सदा च भर्त्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ॥१०॥
परस्य वेश्माभिरतां-अलज्जां-एवंविधां तां परिवर्ज्जयामि ॥
पापां-अचोक्षां-अवलेहिनीं च-व्यपेतधैर्य्यां-कलहप्रियां च ॥११॥
निद्राभिभूतां-सततं शयानां-एवं विधां तां परिवर्ज्जयामि ॥

अर्थात्-जो कुलस्त्रियाँ स्वगृहस्थ के अन्नपरिग्रहादि-रक्षासाधनभूत भाण्डों की सुव्यवस्था करने में असमर्थ हैं, फलस्वरूप जिसके सभी गार्हस्थ्य-परिग्रह अस्तव्यस्त बने रहते हुए मलीमस-यातयाम-विविध-कीटाणुदोषयुक्त बने रहते हैं, ऐसी अकुशला नारी का, अपने पति की प्रत्येक बात का विपरीत-कुटिल-विरुद्ध ही उत्तर देते रहने में पारङ्गता नारी का, स्वगृहस्थव्यवस्था की उपेक्षा कर दूसरों के घरों में (अपनी मानसिक-वाचिक-कण्डूशान्त करने के लिए)-भटकते रहने वाली नारी का, तथा कुल-मर्य्यादा-विरुद्ध-शील-लज्जा-विनयादि सद्गुणों को जलाञ्जलि समर्पित कर निर्लज्जभाव से इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा नारी का मैं सर्वथा ही परित्याग कर दिया करतीं हूँ। और सुनो! जो नारी सहजसुलभ मातृवात्सल्य के सर्वथा विपरीत क्रूरता-दमन-हिंसा-आदि पाप्भावों में निरता रहती है, जो नारी गृह्यधर्म्मानुगत व्रतोपवासादि शौचधर्म्मों की अवहेलना कर सदा ही मनसा-वाचा-कर्म्मणा अशुचि-मलिनभाव में परिणत रहती है, जो सदा ही क्रोधावेश से अपनी दंष्ट्रा को, दाँतों को, तथा जिह्वा को घट्टिकावत् (चाकी की भाँति) चक्रायित रहती है-- (आवेश से सदा दाँत पीसती रहती है, जिह्वा को बहिर्विनिःसृत कर सुतीक्ष्णरूपेण गर्ज्जन तर्ज्जन करती रहती है), जो सदा ही नारीसुलभ धृतिगुण से पराङ्मुख रहती हुई क्षणे क्षणे रुष्टा-आक्रुष्टा-अभिनिविष्टा बनती हुई प्रतिक्रियावादिनी बनी रहती है, यों अथ से इतिपर्य्यन्त जो गृहस्थ को अपनी कलहप्रियता का ताण्डवक्षेत्र बनाए रहती है, (११) कलह से परिश्रान्त होकर जो गाढनिद्रा से अभिभूत हो जाती है, एकाकी दशा में जो सदा घोरनिद्रा में निमग्न रहने को ही अपना पुरुषार्थ मानती है, निश्चयेन ऐसी नारी का मैं परित्याग ही कर दिया करती हूँ। और ठीक इसके विपरीत-निम्नलिखित स्थानों में अपने भावात्मक-विभूतिभावों से निवास कर रही हूँ—

सत्यासु, नित्यं प्रियदर्शनासु, सौभाग्ययुक्तासु, गुणान्वितासु ॥१२॥
वसामि नारीषु पतिव्रतासु, कल्याणशीलासु, विभूषितासु ॥
यानेषु-कन्यासु-विभूषणेषु-यज्ञेषु-मेघेषु च वृष्टिमत्सु ॥१३॥
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु-नक्षत्रवीथिषु च शारदीषु ।

गजेषु--गोष्ठेषु--तथासनेषु--सरः सुफुल्लोत्पलपङ्कजेषु ॥१४॥
नदीषु--हंसस्वननादितासु--क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु ॥
विकीर्णकूलद्रूमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु ॥१५॥
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु ॥
मत्ते गजे--गो वृषभे--नरेन्द्रे--सिंहासने--सत्पुरुषेषु नित्यम् ॥१६॥
यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति, गो--ब्राह्मणं चार्चति, देवताश्च ॥
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियन्ते, तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ॥१७॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्म्माभिरते सदैव ॥
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि--शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥१८॥

सर्वान्ते च—

नाहं शरीरेण वसामि देवि ! नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन्निवसामि पुँसि स वर्द्धते धर्म्म--यशो--ऽर्थ--कामैः ॥

—महाभारत अनुशासन पर्व ११ अध्याय

९७--महालक्ष्मी के आराधन--पूजनात्मक--दीपावली--पर्व के सापेक्ष--कृत्स्वर्थ अङ्ग--कर्म्मों का स्वरूपोपक्रम

लक्ष्मी, एवं तत्प्रतिद्वन्द्विनी अलक्ष्मी का तात्विक स्वरूप क्या है ?, कहाँ लक्ष्मीरूपा रोहिणी कमला निवास करती है ?, कहाँ अलक्ष्मीरूपा अवरोहिणी ज्येष्ठा--धूमावती निवास करती है ?, किन कर्म्मों से धूमावती--अलक्ष्मी का प्रभुत्त्व हो जाता है ?, एवं किन स्वस्त्ययनकर्म्मों से कमला--लक्ष्मी स्थिरा--निश्चला बन जाती है ?, प्रकरणारम्भ से अबतक इन्हीं कतिपय प्रश्नों के समाधान--समन्वय की चेष्टा प्रक्रान्त रही । अब लक्ष्मीभूत 'दीपावलीपर्व' से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक सापेक्ष--प्रसङ्गों की ओर ही लक्ष्मीप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

९८--लक्ष्मीपति विष्णुभगवान् से सम्बद्धा एकादशी के षड्विंश (२६) महिमाविवर्त्त, एवं आषाढशुक्लपक्षीया 'पद्मा' एकादशी, तथा कार्त्तिकशुक्लपक्षीया--'प्रबोधिनी' एकादशी—

वैष्णवजगत् में सुप्रसिद्धा, तदाराध्या वैष्णवी 'एकादशी' तिथि का पुराणशास्त्र में महतोमहीयान् यशोवर्णन हुआ है, जिन वार्षिक 'एकादशी' तिथियों के आधार पर सांस्कृतिक--आयोजनात्मक अनेक पर्व--व्रतोत्सव महता समारम्भेण विहित हैं । मलिम्लुचमास के समावेश से एक सम्वत्सर में १३ मास, अतएव

२६ 'एकादशी' तिथियाँ होजातीं हैं, जिनका यत्रतत्र पुराणों में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। * इन २६

*१—मार्गशीर्षकृष्ण —एकादशी-'उत्पन्ना'	[१]	१	द्वैप्राणविकासकालोऽयं सम्वत्सरस्य जाग्रता अत्र देवाः, असुराश्च सुप्ताः
२—मार्गशीर्षशुक्ल —एकादशी-'मोक्षा'	[२]		
१—पौषकृष्ण —एकादशी-'सफला'	[३]	२	
२—पौषशुक्ल —एकादशी-'पुत्रदा'	[४]		
१—माघकृष्ण —एकादशी-'षट्तिला'	[५]	३	
२—माघशुक्ल —एकादशी-'जया'	[६]		
१—फाल्गुनकृष्ण —एकादशी-'विजया'	[७]	४	
२—फाल्गुनशुक्ल —एकादशी-'आमर्दकी'	[८]		
१—चैत्रकृष्ण —एकादशी-'पापमोचनी'	[९]	५	
२—चैत्रशुक्ल —एकादशी-'कामदा'	[१०]		
१—वैशाखकृष्ण —एकादशी-'वरूथिनी'	[११]	६	
२—वैशाखशुक्ल —एकादशी-'मोहिनी'	[१२]		
१—ज्येष्ठकृष्ण —एकादशी-'अपरा'	[१३]	७	
२—ज्येष्ठशुक्ल —एकादशी-'निर्जला'	[१४]		
१—अषाढकृष्ण —एकादशी-'योगिनी'	[१५]	८	
२—अषाढशुक्ल —एकादशी-'पद्मा'	[१६]		आसुरप्राणप्रधानकालोऽयं सम्वत्सरस्य जाग्रता अत्र-असुराः, देवाश्च सुप्ताः
१—श्रावणकृष्ण —एकादशी-'कामिका'	[१७]	९	
२—श्रावणशुक्ल —एकादशी-'पुत्रदा'	[१८]		
१—भाद्रपदकृष्ण —एकादशी-'अजा'	[१९]	१०	
२—भाद्रपदशुक्ल —एकादशी-'वामना'	[२०]		
१—आश्विनकृष्ण —एकादशी-'इन्दिरा'	[२१]	११	
२—आश्विनशुक्ल—एकादशी-'पापांकुशा'	[२२]		
१—कार्तिककृष्ण —एकादशी-'रमा'	[२३]	१२	
२—कार्तिकशुक्ल —एकादशी-'प्रबोधिनी'	[२४]		
१—मलिम्लुचकृष्ण -एकादशी-'कमला'	[२५]	१३	
२—मलिम्लुचशुक्ल-एकादशी-'सुभद्रा'	[२६]		

— त्रयोदशमासाः—सम्वत्सरस्य —

एकादशियों में से प्रकृत में आषाढ़शुक्लपक्षीया 'पद्मा' नाम की एकादशी, तथा कार्तिकशुक्लपक्षीया 'प्रबोधिनी' नाम की एकादशी, इन दो एकादशियों की ओर ही पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित करना है।

९९--क्रान्तिवृत्तीय--सम्वत्सरचक्रानुगता देवासुरप्रतिद्वन्द्विता, एवं देवता, तथा असुरों की जाग्रत--सुषुप्ति--अवस्थाओं का विपर्य्यय—

'आपो वै पुष्करपर्णम्' इत्यादि वेदवचनानुसार पुष्करात्मक पद्म को ही 'आपः' कहा गया है, जिससे निदानविधि के द्वारा 'आपोमय–परमेष्ठी' ही परिगृहीत हैं। आषाढशुक्ल एकादशी से आरम्भ कर कार्तिकशुक्ल दशमी पर्य्यन्त इस चतुर्मासात्मक प्रावृट्काल (चातुर्म्मास्य–चौमासे) में भूपिण्ड अपने परिभ्रमणात्मक क्रान्तिमण्डल के साथ आपोमय (पुष्करपद्मरूप) पारमेष्ठ्य–समुद्र के ही अभिमुख हो जाता है, जिस इस आभिमुख्य के सर्वात्मना तत्त्वसमन्वय के लिए तो–'पारमेष्ठ्यनुगत–सौरसम्वत्सर–चक्र' से सम्बन्ध रखने वाली खगोलस्थिति का ही स्वाध्याय करना चाहिए। जिसप्रकार विश्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र **'ध्रुव'** कहलाया है, एवमेव सम्वत्सरचक्रात्मक–त्रिकेन्द्रात्मक-दीर्घवृत्तात्मक-साम्वत्सरिक क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र **'कदम्ब'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस कदम्ब के चारों ओर २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बना कर विष्वद्-वृत्तीय–पृष्ठीकेन्द्रात्मक ध्रुव चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं, जोकि ध्रुवपरिक्रमा **'अयनपरिक्रमा'** नाम से प्रसिद्ध है, जोकि २५ सहस्र वर्षों में सम्पन्न होती है। यही कदम्ब निगमभाषा में–**'नाक'** कहलाया है, जोकि परमेष्ठी–विष्णु का ही खगोलीय प्रतिनिधि माना गया है। वर्षात्मक चातुर्म्मास्य में पार्थिव विवर्त्त इसी नाकमण्डल में अन्तर्भुक्त हो जाता है, जिसका अर्थ है-इन चार महीनों में पार्थिवजगत् में आपोमय पारमेष्ठ्य वारुणप्राण का ही प्राधान्य हो जाता है, जो कि वारुणप्राण ऐन्द्रदेवप्राणों का प्रतिद्वन्द्वी माना गया है।

उदाहरण के लिए अहोरात्र को लक्ष्य बनाइए, जो उदगयन, एवं दक्षिणायनरूप सम्वत्सर के प्रतीक बने हुए हैं। अहःकाल इन्द्रप्रधान है, रात्रिकाल वरुणप्रधान है, जैसाकि–**'ऐन्द्रमहः–रात्रिर्वारुणी'** इत्यादि निगम से प्रसिद्ध है। ऐन्द्र–अहःकाल में ऐन्द्रदेवता जाग्रत हैं, वारुण असुर सुप्त हैं, तो वारुण–रात्रिकाल में वारुण असुर जाग्रत हैं, ऐन्द्रदेवता सुप्त हैं। यों अहोरात्रि के भेद से ज्योतिर्म्मय देवप्राण, तमोमय असुर–प्राणों की जाग्रत–सुषुप्ति व्यवस्थित हो रही है। यही अनुपात कृष्ण–शुक्ल–पक्षों में समन्वित है। शुक्ल–पक्ष देवताओं की जाग्रदवस्था है, कृष्णपक्ष सुप्तावस्था है, जबकि कृष्णपक्ष असुरों की जाग्रदवस्था है, शुक्ल–पक्ष असुरों की सुप्तावस्था है। एवमेव षण्मासात्मक उत्तरायणकालात्मक अर्द्ध सम्वत्सर देवताओं की जाग्रद–वस्था है, दक्षिणायनकाल सुप्तावस्था है। एवमेव दक्षिणायनकाल असुरों की जाग्रदवस्था है, तो उत्तरायण–काल सुप्तावस्था है। यों इन्द्र–वरुण–प्राणों के विकास, अभिभवरूप कालभावों के तारतम्य से देवता और असुरों की जागृति, तथा निद्रास्थिति की व्यवस्थाएँ प्रकृतिमण्डल में व्यवस्थित हैं।

१००--मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल, तदनुगत असुरप्राणप्राधान्य, एवं तदनुगत इन्द्राग्नि-प्रमुख-प्राणदेवताओं की सुषुप्ति, तथा सुषुप्ति की उपक्रमभूता-'पद्मा' नाम की आषाढ़शुक्लपक्षीया एकादशी-देवशयनी—

वही पारमेष्ठ्य आपः तत्त्व अपने भृगुप्रधान वारुणभाव से जहाँ तमोमय असुरप्राणों की प्रतिष्ठा है, वहाँ वही आपः तत्त्व अङ्गिराप्रधान ऐन्द्रभाव से–(सोमात्मक बनता हुआ अतएव–**'त्वं ज्योतिषा वि तमो**

ववथे' के अनुसार ज्योतिष्मान् बनता हुआ देवप्राणों की प्रतिष्ठा है। मासचतुष्टयात्मक वर्षाकाल में पारमेष्ठ्य वारुणप्राण की प्रधानता रहती है, अतएव ऐन्द्राग्नदेवप्राण (सौर–पार्थिवदेवप्राण *) अभिभूत रहते हैं– इस काल में। और वही देवताओं की सुषुप्ति मानली गई है, जोकि मान्यता तत्त्वमूला बनती हुई आस्था–लक्षणा निष्ठा से ही समन्विता है। सचमुच देवता सोते ही रहते हैं इन चार महीनों में। सचमुच सौर–पार्थिव–मण्डलानुगता ज्योतिर्म्मयी–लक्ष्मी इन चार महीनों में तदारम्भ की आषाढशुक्ल–एकादशी तिथि में अपने वरुणालयरूप पद्मालय से समन्विता बनती हुई तमोभाव में ही परिणत हो जाती है। ऐन्द्राग्न–लक्ष्मी यों मानो ऐन्द्राग्न देवताओं से रुष्ट होकर स्वधाम–परमेष्ठीरूप–पद्मालय का ही आश्रय ले लेती है, जैसाकि पूर्वाख्यान में निवेदन किया गया है। इसी वारुण–पाद्म पारमेष्ठ्यभाव को निदानभावेन सूचित करने के लिए ही पुराणपुरुष भगवान् व्यास ने आषाढशुक्लैकादशी को '**पद्मा**' नाम से व्यवहृत किया है। यही '**देवशयनी**' कहलाई है।

१०१–देवशयनकालात्मक–वर्षाकाल में देवप्राणानुगता आस्तिकप्रजा के दिव्य कर्म्मों की तटस्थता का प्राकृतिक–समन्वय—

सौरपार्थिव-ऐन्द्राग्नप्राणात्मक देवशक्तिनिबन्धन सम्पूर्ण देवकर्म्म इस देवसुषुप्तिकाल में भारतीय सांस्कृतिक-प्रजा के लिए अवरुद्ध बन जाते हैं। अपनी जीवनधारा में सर्वत्र आत्मदेवभावों को ही मूलप्रतिष्ठा बनाने वाली सांस्कृतिक–प्रजा इस वारुणकालात्मक–देवसुषुप्तिकाल में कदापि किसी भी विवाह-यज्ञोपवीत–वास्तुशान्ति–आदि आदि देवकर्म्म का आरम्भ नहीं कर सकती, नहीं करती। हाँ, जो इस आत्मबुद्धिमूलक देवभाव को विस्मृत कर अपने मनःशरीरभावात्मक भूतभावों को ही प्रधान मान लेंगे, वे सदा सभी अवस्थाओं में स्वच्छन्दतापूर्वक सभी कुछ कर सकते हैं। उनके लिए तो न पहिले कोई मर्य्यादाबन्धन था, न आज ही है। उन्मर्य्यादात्मिका अमर्य्यादा ही, स्वच्छन्दता ही तथाविध प्राकृत जीवों की मर्य्यादा मानी है वेद ने, जैसाकि–'**यथाकामं वोऽशनम्**' इत्यादि मूलक सुप्रसिद्ध वैदिक–'**दायादाख्यान**' से प्रमाणित है।

१०२–कार्त्तिकशुक्लैद्वादशी, और देवजागरण, एवं देवजागरणनिबन्धना प्रबोधिनी एकादशी का महामहिमत्त्वस्थापन—

प्राणाग्नि की वर्षाकालीना सुषुप्ति के आधार पर ही तो यहाँ के प्राणाचार्य्यों (वैद्यों) नें '**वर्षासु दोषा कुप्यन्ति–तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे**' (अष्टाङ्गहृदय) यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है। अग्निमांद्य सहज है वर्षाऋतु में। अतएव आहारादि की लघुता का ही आदेश दिया है भिषग्वरोंनें वर्षाऋतु में। वर्षाकालानुगत देवता उद्बुद्ध होते हैं कब ?, इसी प्रश्न का समाधान वह कार्त्तिक–मास है, जिसके उपक्रम से ही देवजागरण–महोत्सव आरम्भ हो जाता है सांस्कृतिक–प्रजा में। देवजागरण का अर्थ है–सौरपार्थिव–ऐन्द्राग्न देवप्राणों का स्वस्वरूप में अवस्थान। इन की स्वस्वरूपावस्थिति का अर्थ है लक्ष्मी का पद्मालय से विष्णुप्रेरणा के द्वारा पुनः पद्मासना बनना, अर्थात् पार्थिव सौरमण्डल में प्रबुद्ध होना। इस प्रबोधन से ही चतुर्म्मासान्ता–कार्त्तिकशुक्ल–एकादशी–'**प्रबोधिनी**' नाम से प्रसिद्ध हुई है। देवप्राण को ही अपनी मूल-

---

* यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। [श्रुतिः]

प्रतिष्ठा बनाने वाली भारतीय-सांस्कृतिक-प्रजा के लिए इस से बड़ा माङ्गलिक पर्व दूसरा और क्या होगा, जिसमें देवप्राण पुनः प्रबुद्ध होकर लोकलक्ष्मीरूप से इसकी जीवनधारा का अनुगामी बन जाता हो। फलस्वरूप जो माङ्गलिक-विधिविधान चार मास से अवरुद्ध थे, वे पुन: उपक्रान्त हो जाते है इसी उद्‌बुद्धा-प्रबोधिनी तिथि से। देवप्राणोद्‌बोधनरूप इसी महतोमहीयान्-महान्-माङ्गलिक-भाव को व्यक्त करने के लिए पुराणपुरुष ने प्रबोधिनी एकादशी का अत्यन्त ही उल्लास से यशोवर्णन कर दिया है, जैसाकि निम्नलिखित कतिपय वचनों से प्रमाणित है—

तावद्‌गर्जति विप्रेन्द्र ! गङ्गा-भागीरथी क्षितौ ॥
यावन्नायाति पापघ्नी कार्त्तिके हरिबोधिनी ॥१॥
तावद्‌गर्जन्ति तीर्थानि आसमुद्रसरांसि च ॥
यावत् प्रबोधनी विष्णोस्तिथिर्नायाति कार्त्तिके ॥२॥
वाजपेयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च ॥
एकेनैवोपवासेन प्रबोधिन्यां लभेन्नरः ॥३॥
दुर्लभं चैव दुष्प्रापं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥
तदपि प्रार्थितं विप्र ! ददाति हरिबोधिनी ॥४॥

—स्कन्दपुराणे, हरिवंशे च।

१०३—स्वतन्त्र भारत की धर्म्मनिरपेक्षता से भारतीय संस्कृति-वैज्ञानिक-धर्म्म-सापेक्ष-महान् माङ्गलिक सांस्कृतिक आचार-आयोजनों की अन्तर्म्मुखता, इति नु महती विडम्बना वर्त्तमान-स्वतन्त्रसत्तायाः—

कार्त्तिकमासानुगत प्रदोषस्नान, आकाशीय दीपदान, अन्यान्य व्रतोपास, आदि आदि सभी धार्म्मिक कर्म्म कार्त्तिकमासानुगता-महालक्ष्मी-महोत्सव के ही अङ्गोपाङ्ग बने हुए हैं, जिन की इतिकर्त्तव्यता विशेषरूपेण गृहलक्ष्मियों के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं (होतीं थीं भारतवर्ष के वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष-स्वातन्त्र्ययुग से पूर्व)। आज तो इस धर्म्मनिरपेक्षता से सभी कुछ सांस्कृतिक-धार्म्मिक-कर्म्मकलाप-मङ्गलाचार निरपेक्ष ही बना दिए गए हैं। और तत्स्थान में सापेक्ष बन गए हैं वे नाच-गान मात्र, जिनसे मानवीय मनःशरीर उत्तरोत्तर खिन्नमान ही बनते जारहे हैं, इति नु महद्‌दुःखास्पदम्। महतीयं विडम्बना च स्वतन्त्रसत्तायाः।

१०४—देवजागरण की मूलप्रतिष्ठालक्षणा श्री से समन्विता लक्ष्मी का जागरण, एवं कार्त्तिकी अमावास्या—

देवशयन, देवोत्थापन, रूप यही वह सापेक्ष प्रसङ्ग था, जिसे कार्त्तिक की अमावस्या-तिथि से अनुप्राणित कमलामहोत्सवानुबन्ध से यहाँ प्रसङ्गतः उद्धृत कर दिया गया है। लक्ष्मी का जागरण ही देवजागरण का निमित्त बनता है। अतएव देवजागरण की प्रतिष्ठा लक्ष्मीजागरण ही बना हुआ है। लक्ष्मी

के जागरण का उपक्रम हो जाता है कार्त्तिककृष्ण–त्रयोदशी से ही, जिस इस लक्ष्मीजागरणमहोत्सव के साथ साथ ही माता धूमावती के गमन से सम्बन्ध रखने वाला महोत्सव भी सापेक्षरूप से समाविष्ट रहता है दीपावलीमहोत्सवप्रसङ्ग में। यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, धूमावतीरूपा अलक्ष्मी का जहाँ वारुण असुरों से सम्बन्ध है, वहाँ कमलारूपा लक्ष्मी का ऐन्द्राग्न देवदेवताओं से सम्बन्ध है। त्रयोदशी से अमावास्या–पर्य्यन्त, विशेषः द्वितीया पर्य्यन्त, और भी सूक्ष्मदृष्ट्या कार्त्तिकशुक्ल–एकादशी पर्य्यन्त, तत्रापि कार्त्तिकमास-समाप्ति–पर्य्यन्त ही असुर, एवं देवता, दोनों का संक्रमणकाल प्रक्रान्त रहता है। वर्षा का अवसान वैसे तो कार्त्तिक कृष्णपक्षान्त में ही हो जाता है। किन्तु चातुर्मास्यानुबन्ध से वर्षा का पूर्ण अवसान कार्त्तिक की समाप्ति पर ही माना गया है। शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल, रूप से सम्वत्सर के ४–४-४ मास के तीन काल भी मान लिए गए हैं *। मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन पर्य्यन्त चतुर्म्मासात्मक शीतकाल है, चैत्र से आषाढ–पर्य्यन्त ग्रीष्मकाल है, एवं श्रावण से कार्त्तिक पर्य्यन्त वर्षाकाल है। यों कार्त्तिकसमाप्ति पर्य्यन्त वर्षा का प्रभुत्त्व बन जाता है, जो कि वर्षाऋतु आप्य–वारुण-प्राण के सम्बन्ध से आसुरकाल ही माना जायगा। अतएव **'समस्तः कार्त्तिको मासो यमदंष्ट्रे ति गीयते'** इत्यादिरूप से कार्त्तिकमास **'यमद्रंष्ट्रा'** नाम से प्रसिद्ध होगया है।

१०५–धूमावतीरूपा ज्येष्ठालक्षणा अलक्ष्मी के सहयोगी वरुण, और यमदेवता, तथा कमलारूपा रोहिणीलक्षणा लक्ष्मी के सहयोगी इन्द्र, और कुबेरदेवता—

वरुणात्मिका अलक्ष्मी का नाम हीं धूमावती है आगम में, जबकि निगम में यही घोरा पाप्मा 'निर्ऋ ति' नाम से प्रसिद्ध है। इस निर्ऋ तिरूपा अलक्ष्मी के सहयोगी देवता माने गए हैं **वरुण**, और **यम**, जबकि श्रीरूपा कमला के सहयोगी देवता **इन्द्र**, एवं **कुबेर** नाम से प्रसिद्ध हैं। इसप्रकार **वरुण-निर्ऋ ति-यम**, तीन देवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग हो जाता है, एवं **इन्द्र-कमला-कुबेर**, इन तीन देवताओं का एक स्वतन्त्र विभाग बन जाता है।

१०४–इन्द्र–कुबेर–लक्ष्मी–रूप दिव्यभाव, एवं वरुण–यम–अलक्ष्मी–रूप आसुरभाव, तथा दीपावलीपर्वानुगत–'१३–१४–३०–१–२' रूप तिथिपञ्चक में दोनों भावों का सह सङ्क्रमण—

दीपावलीमहोत्सव में दोनों त्रिक-देवताओं का सापेक्षभावानुगत–पारस्परिक सङ्क्रमण प्रक्रान्त रहता है। अतएव १३–१४–३०–१–२ (त्रयोदशी–चतुर्द्दशी–अमावास्या–प्रतिपत्–द्वितीया) यह तिथिपञ्चक लक्ष्मी, एवं अलक्ष्मी–प्रवर्त्तक प्राणदेवताओं का संक्रमणकाल मान लिया गया है। जिसप्रकार ग्रहणदशा ग्रहणकाल से पूर्व ही लग जाती है (जो कि ग्रहणदशा लोकव्यवहार में–'सूतक' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी सांक्रामिकता से त्राण पाने के लिए उपभोग्य–गृहस्थपरिग्रहों में संक्रमणदोषनिरोधक पवित्र–दर्भ (कुशा) रख दिए जाते हैं), तथैव अमावास्यातिथि से सम्बन्ध रखने वाली कमला-लक्ष्मी के आगमन की दशा त्रयोदशी से ही आरम्भ हो जाती है। चतुर्द्दशी की मध्यरात्रि–पर्य्यन्त स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहने वाली

*– **त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य** (शत० ३।४।४।१७।)

निऋ॑तिरूपा धूमावती–अलक्ष्मी की भोगकालात्मिका त्रयोदशी तिथि में ही कमला की प्रतिच्छाया का भी समावेश हो जाता है । अतएव यह त्रयोदशी–'**धनत्रयोदशी**' नाम से प्रसिद्ध होगई है ।

१०७–धनत्रयोदशी, और अलक्ष्मीनिर्गमनप्रयुक्त निऋ॑ति का स्वागत, तथा तदनुबन्धी यमदीपदान—

घर का कूड़ा–कर्कट निऋ॑तिप्रधान माना गया है अपने मलभाव से । क्योंकि धनत्रयोदशी में कमलादशा का प्रवेश हो जाता है । अतएव द्वादशी की रात्रि के अवसानकाल से पहिले पहिले ही गृह–लक्ष्मियाँ घर का समस्त कूड़ा सञ्चित कर सूर्य्योदय से पूर्व ही उसे गृहद्वार से बाहिर प्रक्षिप्त कर एकस्थान में उसे सुरक्षित कर उस पर दीप प्रज्ज्वलित कर दिया करतीं हैं । इस दीपदान से एकओर जहाँ जातीं हुईं निऋ॑तिदेवी का सम्मान है, तो दूसरी ओर ज्योतिरूपा लक्ष्मी के आगमन का भी सम्मान होजाता है । निऋ॑ति के साथ–यम का, और वरुण का साहचर्य्य बतलाया गया है । वर्षाजनित दुर्गन्ध–सड़ान वारुणपाश का सूचक है, तज्जनित मलानुगत रोगप्रवर्त्तक–अशुचिभाव यम का सूचक है, स्वयं मलभाव निऋ॑ति का सूचक है । यों इस दीपदान से निऋ॑ति–यम–वरुण–तीनों हीं सहयोगी देवताओं का सम्मान होजाता है । कुबेर–प्रतिद्वन्द्वी यम के सम्बन्ध से ही यह दीप–'**यमदीप**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है निबन्धग्रन्थों में । यों द्वादशी की रात्रि के अवसान में घर के कूड़े पर प्रदत्त दीपदान तथाकथित उभय–त्रिक देवताओं की निर्गच्छत्–आगच्छत्–रूपा संक्रमणदशा का ही सूचक बन रहा है । घर से निकलते हुए निऋ॑ति–यम–वरुण की सत्कारसूचना, तथा घर में आते हुए लक्ष्मी–कुबेर–इन्द्र की सत्कारसूचना, दोनों कर्म्म इसी 'यमदीपदान' से गतार्थ बन जाते हैं । एक सामान्य से इस आचार से महान् स्वस्त्ययनभाव सम्पन्न होजाता है । इस सामान्यता ने हीं तो भारतीय संस्कृति को सर्वसाधारण के लिए सुकर–सुगम बनाए रक्खा था । **महारम्भ, और फलांश में शून्यता, यह वर्त्तमान आयोजनों के अमाङ्गलिक दुष्परिणाम हैं । एवं स्वल्पारम्भ,-तथा फलांश में पूर्णता, यह भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों के मङ्गलमय सुपरिणाम हैं ।**

१०८–आगच्छत् लक्ष्मीभाव के सम्मानोपलक्ष में नवीन पात्रक्रय, एवं धनत्रयोदशी–

यों दीपदान के द्वारा, एवं स्वयं धनत्रयोदशी–तिथि में कमलागमन–सूचक–महान् स्वस्त्ययनभाव के संग्रहार्थ क्रीत नूतन पात्रद्वारा, उभयथा दोनों हीं देवताओं की स्वस्ति प्राप्त करली जाती है । पार्थिव लक्ष्मी का नैदानिकरूप 'धातु' ही माना गया है । वस्त्र–ओषधि–वनस्पत्यादि इतर परिग्रह तो पृथिवी (भूपिण्ड) के शरीरपृष्ठ पर उत्पन्न होने वाले गौणभाव हैं, जबकि कांस्य–पित्तल–सुवर्ण–रजतादि–धातु भूपिण्ड के मौलिक–स्वरूप में अन्तर्भुक्त हैं । अतएव नवीन परिग्रहक्रय में धातुपात्रों (वर्त्तनों) को ही प्रधानता दी जाती है । राजस्थान के महान् सांस्कृतिक निगमागमनिष्ठ जयपत्तन (जयपुर) नगर के पात्रविक्रेता (ठठेरे) धनत्रयोदशी को पात्रों से अपने आपणस्थानों (दूकानों) को सुसज्जित करते हुए अपने सहजसिद्ध इसी माङ्गलिक–लोकाचार का यशःख्यापन करते रहते हैं । और भाग्यशालिनी–आस्थाश्रद्धापरायणा सांस्कृतिक–प्रजा तो 'यथापूर्वमकल्पयत्' न्याय से आज भी धनत्रयोदशी को यहाँ से नूतन–पात्रक्रय करना अपना माङ्गलिक–आचार ही मानती चली आरही है ।

१०९–तैलमर्द्दन, स्वच्छजलस्नान, कृष्णवस्त्रपरिधानादि कर्म्मों से समन्विता कार्त्तिक-कृष्णाचतुर्द्दशी का आसुरभावानुगत–'नरकचतुर्द्दशीत्व', एवं रूपज्योतिरनुगत-ऐन्द्राग्नदेवभावानुगत–'रूपचतुर्द्दशीत्व', तथा कनिष्ठा दीपावली (छोटी-दीवाली)—

धनत्रयोदशीरूप अङ्गकर्म्म उपरत हुआ। अब क्रमप्राप्ता चतुर्द्दशी हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। आप्य-असुरप्राणात्मक **वरुण**, अवसानाधिष्ठाता **यम***, एवं अलक्ष्मीरूपा **निर्ऋति**, इन तीनों का निर्गमन तो होगया द्वादशी की रात्रि के अवसान में होने वाले दीपदान के साथ ही। किन्तु अनुशय अब भी विद्यमान है तीनों का, जिसका सर्वात्मना निराकरण तो होगा कार्त्तिकशुक्ल–प्रबोधिनी एकादशी को ही, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। अतएव तदवधिपर्य्यन्त लक्ष्मी, और तत्सहयोगी इन्द्र–कुबेरादि के पूजन के साथ साथ वरुण–यम–निर्ऋति का भी सत्कार–सम्मान प्रक्रान्त ही रहता है। 'चतुर्द्दशीतिथि' भी इसी सम्मान–सत्कार का समर्थन कर रही है अपनी आचारपद्धति से। इस दिन **तैलमर्द्दन**, तथा **स्वच्छ जलस्नान**, एवं **कृष्णवस्त्रपरिधान**, ये तीन आचार प्रमुख माने गए हैं, चौथा महान् आचार **'दीपप्रज्ज्वलन'** है विशेष संख्या में। विशेष दीपदानों से ही लोकव्यवहार में यह चतुर्द्दशी–**'छोटी दीवाली'** नाम से प्रसिद्ध है। यह दीपदान इन्द्र–कुबेरानुगता–कमला–लक्ष्मी का ही सम्मान है, जो त्रयोदशी से ही आगमनोन्मुखा बन गई है।

११०–वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित इन्द्रात्मक तैल, वरुणद्वारा प्रतिमूर्च्छित अग्न्यात्मक घृत, एवं तदनुगत वारुण–ऐन्द्र–आग्नेय–भावों से दीपावली–अनुगत दैवासुरप्राणों का सम्मानातिथ्य—

वैज्ञानिक कहते हैं–वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र का ही नाम तैल है, एवं वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि का ही नाम 'घृत' है। अतएव तैल ऐन्द्र पदार्थ माना गया है, एवं घृत आग्नेय द्रव्य माना गया है। ऐन्द्राग्न-यज्ञों में तिलमिश्रित–आज्य (घृत) की आहुति क्यों दी जाती है ?, प्रश्न का यही समाधानबीज है। वरुणसत्कार के लिए ही इस तिथि में तैलाभ्यञ्जन (मर्द्दन) विहित हुआ है। तैलाभ्यञ्जनकर्म्म से, एवं वारुणप्राणात्मक जलस्नान से एक ओर जहाँ वरुणदेवता सम्मानित–सत्कृत होते हैं, वहाँ दूसरी ओर इस स्नानशुद्धि से अभिव्यक्ता शरीरानुगता रूपज्योति (सौन्दर्य्य–कान्ति–आभा) रूपज्योतिर्लक्षण ÷ इन्द्र के, तथा ज्योतिर्म्मयी लक्ष्मी के सम्मान–आतिथ्य का भी कारण बन रही है। कृष्णवस्त्रपरिधान से यम, और निर्ऋति सत्कृत हैं। यों यह आचारकर्म्म चतुर्द्दशी के दोनों त्रिकदेवताओं के सम्मानातिथ्य का कारण बन रहा है। वरुण–निर्ऋति–यम–सत्कारानुबन्ध से जहाँ यह चतुर्द्दशी–**'नरकचतुर्दशी'** (नरकचौदस) कहलाई है, वहाँ इन्द्र–लक्ष्मी–कुबेर–आतिथ्यानुबन्ध से यही चतुर्द्दशी **'रूपचतुर्दशी'** (रूपचौदस) नाम से प्रसिद्ध हो रही है।

---

*–**अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्याः।** —यजुःसं० १२।४५।

÷–**रूपं रूपं मघवा बोभवीति।** —ऋक्सं० ३।५३।८।

१११-अमोत्तरा प्रतिपत् (पड़वा) तिथि, और अन्नकूटमहोत्सव—

तदनन्तर अमावास्या-तिथि का आगमन होता है, जो दीपावलीपर्व का प्रमुख दिवस माना गया है । तत्सम्बन्ध में क्योंकि कुछ विशेष निवेदन करना है, अतएव सूचीकटाहन्याय से पहिले अमोत्तरा प्रतिपत्, तथा तदुत्तरा द्वितीया तिथि से सम्बन्ध रखने वाले दो दिवसों के आचारों का ही दो शब्दों में दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है । अमावास्या के अनन्तर आगता प्रतिपत् (कार्त्तिकशुक्ल-पड़वा) तिथि से यम-निर्ऋति-सहयोगी वरुण का प्रभाव तो उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है, एवं कुबेर-लक्ष्मी-सहयोगी इन्द्र का प्रभाव उत्तरोत्तर-प्रबल बनता जाता है । अतएव यह दिवस-'**ऐन्द्रमहः**' (इन्द्रदिन) मान लिया गया है आचार-जगत् में । इन्द्र की प्रधानता से ही तत्सहयोगी प्राणाग्नि भी (शरीराग्नि भी) प्रबल होने लग पड़ता है । वरुणनिर्गमन से दधि-दुग्ध ओषधि-वनस्पति-आदि भोग्य पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले वर्षाजनित (वरुणप्राणजनित) विकार भी निकल जाते हैं । सर्वत्र ऐन्द्री शुद्धि का साम्राज्य उदित होजाता है । इसी उपलक्ष में इस दिन '**अन्नकूटमहोत्सव**' मनाया जाता है, जिसकी गरिमामयी महिमा का वे प्राकृत मानव स्वप्न में भी अनुभव नहीं कर सकते, जो अपनी महान्-मङ्गलमयी परम्पराओं की उपेक्षा कर सर्वथा-सारहीन लेह्य-चोष्य-चर्व्य-भक्ष्याभक्ष्य-हीन-रूक्ष-कर्कश-पदार्थाभासों से समलङ्कृत रेस्टोरेन्टों से अपने आपको प्रभावित किए हुए हैं- सर्वनाशकारिणी-परदर्शनमूला-भावुकता के निबिड़तम-वारुणपाशबन्धन-निग्रह से ।

११२-मतवादानुगत गिरिगोवर्द्धनपूजनमहोत्सव की प्रधानता, एवं निगमनिष्ठा के अभिभव से धर्म्मानुगत 'इन्द्रपूजनमहोत्सव' की विस्मृति—

वस्तुतः इस उत्सव की नैगमिक--अभिधा है-'**इन्द्रपूजनमहोत्सव**' । लक्ष्मी--सहयोगी कुबेर, तथा इन्द्र का पूजन अमावास्यातिथि में लक्ष्मीपूजन के साथ भी यद्यपि विहित है । तथापि देवप्राणों में सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठ इन्द्र की प्रमुखता के कारण अमोत्तरा प्रतिपत् तिथि स्वतन्त्ररूप से इन्द्रपूजनार्थ नियत हो गई है । क्या प्रकार है-इस 'इन्द्रपूजन' का ?, प्रश्न जितना सरल है, वर्त्तमानयुग के लिए उत्तर वैसा ही दुर्बोध्य इस लिए है कि, साम्प्रदायिक-मतवादों के निग्रह से हमारी वे सभी तो निगमागमपुराणपरम्पराएँ सर्वथा अन्तर्मुख ही प्रमाणित होचुकीं हैं, अथवा तो तत्स्थान में वैसे साम्प्रदायिक व्यामोहन समाविष्ट हो पड़े हैं, जिनसे उनका आचारात्मक-सांस्कृतिक पक्ष तो होगया है तिरोहित, एवं साम्प्रदायिक-तात्कालिक-मतवादात्मक-दृष्टिकोण बन गया है प्रधान ।

११३-इन्द्रात्मक गौतत्त्व, एवं तदनुगत उत्सव की 'गोवर्द्धनोत्सवता'—

उदाहरण के लिए इस इन्द्रपूजनमहोत्सव को ही लीजिए । निगमागम-सांस्कृतिक-परम्परा के अनुसार अमोत्तरा प्रतिपदा तिथि में आर्षप्रजा इन्द्रपूजनमहोत्सव ही मनाती आरही थी । किन्तु आगे जाकर इसी ने '**गोवर्द्धनपूजन**' का स्थान ग्रहण कर लिया । कहते हैं—भगवान् कृष्ण ने इन्द्र का दर्पदलन करने के लिए इन्द्रपूजन तो कर दिया अवरुद्ध, एवं तत्स्थान में व्रजगोप-गोपियों को इन्द्रकोप से बचाने के लिए गिरिगोवर्द्धन उठा कर तत्प्रातिनिध्य में स्वयं अपना हीं पूजन 'गोवर्द्धन' रूप से कराना आरम्भ कर दिया । सम्भव है, ऐसा हुआ हो । किन्तु भगवच्चरित्रों का श्रवणमात्र ही भागवतसम्प्रदायानुगत माना गया है, तदाचरण नहीं । भगवान् ने जैसा किया है, वैसा हमें कर डालने का न तो अधिकार ही है, एवं न सामर्थ्य

ही। लोकभावुकतासंरक्षण के माध्यम से मान लेते हैं हम भी गोवर्द्धनपूजन भी आवश्यक। किन्तु सांस्कृतिक-परम्परा के अनुरोध से तो हमें निगमागमसिद्ध 'इन्द्रपूजन' को ही प्रमुख कहना पड़ेगा, कहना चाहिए। इस इन्द्रपूजन से भी तो-'**गोवर्द्धन**' तत्त्व सर्वात्मना अक्षुण्ण बना रह जाता है। कैसे ?, यही तो उत्तर की वह दुर्बोध्यता है, जिसका पूर्व में हमनें उल्लेख किया है।

११४-लक्ष्मीशक्ति के प्राणलक्ष्मी--भूतलक्ष्मी--रूप दो महिमाविवर्त्त, एवं सौर इन्द्र-प्राणात्मक गौतत्त्व का नैगमिक--स्वरूपसमन्वय—

प्राणलक्ष्मी–भूतलक्ष्मी, भेद से लक्ष्मीशक्ति के दो महिमाविवर्त्तों का पूर्व में यत्रतत्र उल्लेख हुआ है। प्राणलक्ष्मी को ही–'**तद् प्राणा वै श्रियः**' रूपेण–'श्री' कहा गया है, एवं भूतलक्ष्मी ही 'लक्ष्मी' नाम से प्रसिद्ध हुई है। क्या स्वरूप है इस भूतलक्ष्मी का ?, उत्तर है '**इन्द्रप्राणात्मक-गौपशु**'। '**आयं गौः पृश्निरक्रमीदसनन्मातरं पुरः**' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार इन्द्रप्राणात्मक–सूर्य्य 'गौ' नाम से ही प्रसिद्ध है। यही इन्द्र अपने उक्थरूप से गौतत्त्व का संरक्षक भी बना हुआ है। अतएव इसे-'**अयं वै गोपाः**' इत्यादि रूप से 'गोपा' भी कहा गया है। अधिदैवत–अध्यात्म-अधिभूत–से सम्बन्ध रखने वाली सामान्य परिभाषा के अनुसार 'गौ' शब्द भी तीनों प्राजापत्य विवर्त्तों में भुक्त हो रहा है। भारतीय–संस्कृति के मूलस्तम्भ "**वेद, ब्राह्मण, गौ,**" ये तीन ही तो तत्त्व माने गए हैं। संस्कृति, तन्मूलक साहित्य, तत्प्रतिपादित धर्म्म, सांस्कृतिक आचार, सांस्कृतिक आयोजन, अन्यान्य जीवनपद्धतियाँ, आदि आदि समस्त–इतिकर्त्तव्यताकलाप इन्हीं तीनों मूलस्तम्भों पर ही प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों स्तम्भों के आधिदैविक–आध्यात्मिक-रूप सूक्ष्म स्वरूपों से अपरिचित रहने के कारण ही आज के प्राकृत मानव के लिए तीनों का महिमामय स्वरूप अन्तर्मुख ही बन गया है। तत्त्वात्मक वेद का शरीरस्थानीय शब्दात्मक वेदशास्त्र, तत्त्वात्मक ब्राह्मण का शरीरस्थानीय भौतिक ब्राह्मण, एवं तत्त्वात्मक गौ का शरीरस्थानीय भौतिक गौपशु अपने इन प्रत्यक्षदृष्ट–भौतिक शरीरों के अन्तर्भाग में तत्त्वात्मक किन गौ--ब्राह्मण--वेद--भावों को प्रतिष्ठित किए हुए है ?, यह प्रश्न ही आज की भूतदृष्टि से सर्वात्मना पराःपरावत बन चुका है। तीनों में से प्रकृत में तो 'गौपशु' ही हमारा लक्ष्य बना हुआ है।

११५–भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–'गोपाष्टमीपर्व्व', एवं तदनुबन्धी राष्ट्रप्रतिष्ठात्मक गौपशु—

भूतदृष्टिपरायण वर्त्तमानयुग के नीतिकुशल–अन्तर्राष्ट्रीय–यशोलिप्सु भारतीय सत्ताधीशों की दृष्टि में सम्भव है गौपशु का भी वही स्थान हो, जो कि स्थान अन्यान्य पशुओं का है। यद्यपि अपने अपने प्राणस्वरूप से सभी प्राणी अपना अपना विशेष महत्त्व रख रहे हैं। तथापि उन सब में भारतीय–संस्कृति की दृष्टि से 'गौपशु' का एक विशेष स्थान इसलिए माना गया है कि, इस में प्रतिष्ठित गौप्राण सृष्टिविज्ञान के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में आरम्भ से श्रीसमन्विता जिस लोकलक्ष्मी का यशोगान किया जारहा है, उस लोकलक्ष्मी की मूलप्रतिष्ठा भी यही 'गौपशु' बना हुआ है। कैसे ?, और क्यों ?, के लिए तो–'**गोपाष्टमी और गौतत्त्व**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध ही देखना चाहिए। निबन्ध-विस्तारभिया इच्छा रहते हुए भी अत्र उसका सन्निवेश नहीं हो सका है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही निवेदन कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा कि, अधिदैवत में स्वायम्भुव-'**ऋषिप्राण**' ही प्रथम, एवं प्रमुख गौतत्त्व

है। पञ्चपर्वात्मक महाविश्व में प्रथम स्थान अव्यक्त स्वयम्भूब्रह्म, किंवा ब्रह्मा का है। यहीं ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेदतत्त्व प्रतिष्ठित है। तदनुगत यजुःप्राण का ही नाम 'ऋषि' है। 'यदरिषन्' ही 'ऋषि' शब्द का निर्वचन है (शत० ६।१।१।१।)। **'प्राणा वा ऋषयः'** प्रसिद्ध है। 'यत्--जू' रूप यजुः का 'यत' रूप प्राण ही गतिरूप ऋषि है। और 'गच्छति' निर्वचन से यही ऋषिप्राण--**'गौः'** है। वेदावच्छिन्न वेदमूर्त्ति ऋषिप्राण ही गौ है, तदभिन्न स्वयम्भू ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रतिष्ठारूप ब्राह्मण है। और यों स्वायम्भुव विवर्त्त ही क्रमशः वेद--ब्राह्मण--गौ--भावों में परिणत हो रहा है। यह स्वायम्भुवी गौ ही--**'ब्रह्मगवी'**--**'वैश्वदेवी'** गौ कहलाई है, जैसाकि--**'प्राणो हि गौः'** (शत० ४।३।४।२५)--**'वैश्वदेवी वै गौः'** (गो० ब्रा० उ० ३।१६) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है।

११६–गौपशु के प्रतिष्ठारूप गौप्राण की विश्वव्यापकता के दर्शन—

स्वयम्भू से आपोमय परमेष्ठी का आविर्भाव हुआ। पारमेष्ठ्य वेद सोमात्मक–अथर्ववेद कहलाया। पारमेष्ठ्य प्राण **'पितर'** नाम से प्रसिद्ध हुआ। पारमेष्ठ्य यही सौम्य पितरप्राण मनोताविज्ञान के अनुसार 'इट्' रूप 'अन्न' कहलाया, और इसी आधार पर **'इडा हि गौः** (शत०२।३।४।३४)–**'अन्नं वै गौः'** (शत० ४।३।४।२५।) इत्यादि निगम प्रसिद्ध हुए। बुद्धमताभिनिविष्ट कतिपय आधुनिक विद्वानोंनें इन वचनों के पारिभाषिक अर्थों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट रहते हुए अपने मान्यतानुबन्धी–काल्पनिक जिस निबन्ध में आर्ष–महर्षियों की जीवनपद्धति पर धूलिप्रक्षेप की धृष्टता की है, वह इसलिए क्षम्य है कि, बालबुद्धियों के सभी उपलालन इस राष्ट्र ने सदा से ही क्षम्य ही मानें हैं। पारमेष्ठ्य सौम्य गौप्राण ही 'इट्' रूपेण पार्थिव ओषधि–वनस्पतिरूप भूतान्न का आधार बनता है। यही **'अन्नमु वै गौः'** का तत्त्वार्थ है। वैसे इसके–**'अघ्न्या'** नाम श्रवण का सौभाग्य तो उन **'वोल्गा से गङ्गा'** की कल्पना के स्रष्टाओं को भी उपलब्ध हुआ ही होगा। आलप्यालम्।

११७–महान् विश्व का गौमय–सौरलोकोर्ध्वस्थित व्रजधाम, एवं गोरक्षक–गोलोक–धामवासी पारमेष्ठ्य विष्णु—

पारमेष्ठ्य आपोमय मण्डल ही अक्षरविद्यानुपात से विष्णुधाम कहलाया है। यहीं वह सौम्य–गौप्राण प्रतिष्ठित है, जो पितरप्राण से अभिन्न है। स्वयम्भू का ऋषिप्राण ही बलचिति से परमेष्ठी में आकर जैसे 'पितर' बन गया है (**ऋषिभ्यः पितरो जाताः–मनुः**), एवमेव स्वायम्भुवी ब्रह्मगवी ही परमेष्ठी में इट्रूप से **'विष्णुगवी'** बन गई है, जिसका नैगमिक नाम है–**'कामगवी'**, एवं पौराणिक नाम है–**'कामधेनु'**। इसी सौम्या गौ के सम्बन्ध से परमेष्ठी विष्णु–**'गोसव'** कहलाया है, जो 'गोसव' ही पुराण में **'गोलोक'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। **'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** इत्यादि यजुर्मन्त्रानुसार पारमेष्ठ्य गोलोक ही पारमेष्ठ्य विष्णु का वह व्रजधाम कहलाया है, जिसके सगुण–पूर्ण–मानुषावतार का महद्भाग्य इस भारतभूमि को ही उपलब्ध हुआ है। सौम्य रश्मियों से भूरिशृङ्गा बनी हुई प्राणरूपा–सौम्या गोमाताएँ इसी व्रजधामात्मक पारमेष्ठ्य–गोलोक में स्वच्छन्द विचरण करतीं रहतीं हैं ÷।

÷ **या ते धामान्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।**
अत्राह तदुरु गायस्व विष्णोः परमं पदमव भारि भूरि॥
—यजुः सं० ६।३।

११८–विराट्-मूर्त्ति–सूर्य्यनारायण का मूलप्रतिष्ठात्मक गौप्राण—

आगे चलिए। स्वायम्भुव त्रयीवेदरूप चतुष्कल ब्रह्मपुरुष, पारमेष्ठ्य अथर्ववेदरूपा षट्कला सुब्रह्म–प्रकृति, दोनों के दाम्पत्य से दशावयव जो विराट्पुत्र आविर्भूत हुआ है, उसी का नाम है 'सूर्य्यनारायण', जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्र तत्र विस्तार से निवेदन किया जा चुका है। विराट्सूर्य्य में वही पारमेष्ठ्य गौतत्त्व विराट्रूप में परिणत हो जाता है, जिसका अर्थ है–**आदित्यरूप**। पारमेष्ठ्य पितरप्राण ही सौर–देवप्राणरूप में परिणत हुआ है (**'पितृभ्यो देवमानवाः'–मनुः**)। यों पारमेष्ठ्य–सौम्य–वैष्णव–गौतत्त्व ही सौरमण्डल का सर्जक बनता हुआ–'तत्सृष्ट्वा' न्याय से सौर विराट्मण्डल में प्रविष्ट होता हुआ सौर–इन्द्रप्राण से समन्वित हो जाता है। अतएव सौरइन्द्रप्राणात्मक-विराट्–आदित्य 'गौ' नाम से प्रसिद्ध होजाता है। **'विराड् वै गौः'** (यजुः सं० १३।४३,–शत० ७।५।२।१६)–**'विराजो वा एतद्रूपं–यद्गौः'**–(ताण्ड्य० ४।६।३)–**'गावो वा आदित्याः'** (ऐ० ब्रा० ४।१७) इत्यादि वचन इसी ऐन्द्री–सौरी–गौ की महिमा का यशोवर्णन कर रहे हैं।

११६–सौररश्मिमण्डलानुगत सहस्रसंख्यामित–गौप्राण—

सौरमण्डल में–सूर्य्यरूप **द्युलोक**, चान्द्र **अन्तरिक्षलोक**, एवं भौम **पार्थिवलोक**, ये तीन रोदसी–लोक प्रतिष्ठित हैं, जिनमें क्रमशः १२ आदित्य, ११ रुद्र, ८ वसुप्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं। इन त्रैलोक्य-प्राणदेवताओं के विभेद से सौरमण्डलानुगता साहस्रीगौ ÷ ३३३ ३३३ ३३३ इसप्रकार से तीन संस्थानों में विभक्त हो जाती है, जो क्रमशः **आदित्यागौः**, **रौद्रीगौः**, **वासवीगौः**, नाम से प्रसिद्ध हैं।

१२०–दिव्य–सौर–गौप्राणप्रधान गौपशु, एवं तद्गत गौप्राण का सर्वदेवमयत्त्व—

पार्थिव वस्वग्नि से अनुप्राणिता, ३३३ महिमाभावों में विभक्ता वही सौरी–प्राण–गौः–**'आग्नेयी वै गौः'** (शत० ७।५।२।६) रूपेण **'आग्नेयी'** है। आन्तरिक्ष्य रुद्रप्राणवायु से समन्विता, ३३३ भावों में विभक्ता वही सौरी गौ–**'रौद्री वै गौः'** (तै० ब्रा० २।२।५।२) के अनुसार **'रौद्री'** है। एवं सौर–दिव्य द्वादशादित्यप्राणदेवों से समन्विता, ३३३ भावों में विभक्ता वही सौरी गौ–'आदित्या **वै गौः**' (ऐ०ब्रा०४।१७) इत्यादिरूप से **'आदित्याः'** है। एकसहस्र भावापन्न गौप्राणों से यों तीन स्थानों में ६६६ गौप्राणों का समन्वय होरहा है। शेषभूता–सर्वाधारभूता–गौ ही वह पारमेष्ठिनी अमृतगवी–कामगवी–सौम्या–गौ है, जिसका कामधेनुरूप से संस्मरण करने वाली भारतीयप्रजा धन्य-कृतकृत्य बन जाया करती है। त्रैलोक्यव्याप्ति के कारण ही सौरी ऐन्द्रीगौ के सम्बन्ध में–**'इमे वै लोकाः गौः'** (शत० ६।५।२।१७।)–**'अन्तरिक्षं गौः'** (ऐ० ब्रा० ४।१५।)–**'गौर्वै सार्पराज्ञी [पृथिवी]** (कौ० २७।४।)–इत्यादि निगम प्रसिद्ध हैं। सौर–इन्द्र **'मघवा'** हैं, आन्तरिक्ष्य इन्द्र **'मरुत्त्वान्'** हैं, पार्थिव इन्द्र **'वासव'** हैं। त्रिस्थानों में त्रिरूप से व्याप्त सौर इन्द्र, और त्रिस्थानों में व्याप्त गौप्राण अभिन्न हैं। इसी त्रैलोक्यव्याप्ता सौरी ऐन्द्री गौ का (तीनों

÷ **साहस्रो वा एष शतधार उत्सः, यद् गौः** [शत० ७।५।२।३४।]

महिमाभावों के साथ) दिग्दर्शन कराते हुए, साथ ही तीनों प्राणों के समन्वय से ही कृतात्मा बनी हुई माता गौ की ओर सङ्केत करते हुए, प्राणगौ के द्वारा प्राणी गौ की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए ही ऋषि कह रहे हैं—

माता रुद्राणां, दुहिता वसूनां, स्वसादित्याना. ममृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनामदितं वधिष्ट ॥

—ऋक्संहिता ८।१०१।१५।

१२१–रुद्रमाता–वसुकन्या–आदित्यभगिनी–जीवनीयरसप्रदात्री अमृतनाभि गौमाता, और उसका 'अघ्न्यात्त्व'—

आधिदैविक–प्राणात्मक–ऋषि–पितर–देव–इन्द्र–वसु–रुद्र–आदित्यादि दिव्यभावसमन्विता, सुप्रसिद्ध 'गौभूतपशु' रूपा गौमाता के प्राणस्वरूप की ओर मानव का ध्यान आकर्षित करते हुए ऋषि इसे उद्बोधन प्रदान कर रहे हैं कि, "जिसे तुम 'गौपशु' समझ रहे हो, सावधान ! वह पशु नहीं है । अपितु यह तो रुद्रों की माता है, वसुओं की कन्या है, आदित्यों की बहिन है । एवं जीवनीय–पारमेष्ठ्य–अमृतसोमरस का केन्द्र हैं । मैंनें (ऋषि ने) प्रज्ञा रखने वाले प्रज्ञाशील (समझदार) मानव को [इस प्राणस्वरूपवर्णनमाध्यम से ही यह] कह दिया है कि, यह गौ अदितिरूपा है । अतएव मानव कभी भूल से भी इसे कष्ट न पहुँचावे । [क्योंकि इसे कष्ट पहुँचाना अपने जीवन को, प्राण को, सर्वस्व को ही अपने हाथों ही नष्ट कर लेना है]" । मन्त्र स्पष्टरूप से गौतत्त्व की सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन करा रहा है । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–आदि विश्वपर्व, ऋषि–पितर–देव–गन्धर्व–मानव–पशु–आदि प्राण, तथा तत्प्राणप्रधान एतन्नामक ही प्राणी, ओषधी–वनस्पति–आदि सभी का गौप्राण से जीवनप्रतिष्ठात्मक–आत्मसम्बन्ध है । जिसे राजनैतिक भाषा में–'**स्वराज्य**' कहा जाता है, उसकी प्रतिष्ठा भी गौ ही है । प्राणरूप से यही गौ सूक्ष्म विश्व के स्वराज्य की प्रतिष्ठा है, तो भूतरूप से भौतिक स्वराज्य की प्रतिष्ठा है, जैसाकि–'**अथैष गोसवः–स्वाराज्यो यज्ञः**' [ताण्ड्य ब्रा० १६।१३।१।] इत्यादि से प्रमाणित है । पारमेष्ठ्या सरस्वतीवाक् भी गौप्राण से ही समन्विता है [**सरस्वती हि गौः**–यजुः सं० ३८।२।] । एवमेव–"**इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योतेऽ,दिति, सरस्वति, महि, विश्रुति–एता ते अघ्न्ये देवत्रा नामानि**' [शत० ४।५।८।१०] इत्यादि श्रुति विस्पष्ट शब्दों में गौमाता के प्राणात्मक–विश्वव्यापक इसी महिमामय स्वरूप का यशोवर्णन कर रही है । अतएव पुराणशास्त्र में अनेक आख्यानों के द्वारा गौ का महतोमहीयान् महत्त्व उपवर्णित है । यदि प्राणात्मिका-सुसूक्ष्मा आधिदैविकी, तथा आध्यात्मिकी उपयोगिता को थोड़ी देर के लिए हम तटस्थ भी बना लें, तब भी गौमाता की भौतिक उपयोगिता के सम्बन्ध में तो किसी भी भूतविज्ञानवादी, किन्तु प्रज्ञाशील को तो कोई भी सन्देह नहीं हो सकता । '**तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्**' रूप से भारतीय आयुर्वेदशास्त्र ने भी गौपशु का महत्त्व स्वीकार किया है ।

अध्यात्म में बुद्धि सौर-मघवा-इन्द्रप्राणमयी है, प्रज्ञानमन आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्रप्राणमय है, एवं भूत–शरीर वासवेन्द्रप्राणमय है । अतएव मानवसंस्था के सभी प्रतिष्ठात्मक प्राण गौरूप है । तभी तो ऐन्द्रियक विषयों को–'**गोचर**' कहा गया है । इन्द्रसम्बन्ध से ही इन्हें–'**इन्द्रिय**'–कहा गया है । '**इन्द्रियं वै वीर्य्यं गावः**'

[शत० ५।४।३।१०] इत्यादि श्रुति गौतत्त्व की आध्यात्मिकता का भी समर्थन कर रही है। और यों अधिदैवतरूपा ईश्वरीय–संस्था में, अध्यात्मरूपा प्राणीसंस्था में, तथा अधिभूतरूपा स्थावरसंस्था में, सर्वत्र गौतत्त्व का प्राधान्य, तदनुबन्धेन इन्द्रप्राधान्य प्रमाणित हो रहा है। ऐसे सर्वप्रतिष्ठारूप गौप्राण की प्रधानता से ही अमुक पार्थिव दिव्य पशु–'गौपशु' कहलाया है। इसी प्राणातिशय से भारतीय वैज्ञानिक महर्षियों नें गौपशु को अत्यन्त ही महनीय, एवं सर्वात्मना संरक्षणीय माना है, जिसकी उपेक्षा करने वाला राष्ट्र निश्चयेन विनष्ट ही हो जाता है। कुछ एक वेदमन्त्रों को उद्धृत कर देने के लोभ का संवरण नहीं हो रहा है हम से, जिनके द्वारा प्राणमाध्यम से महद्भूतरूप गौपशु के महामहिमत्त्व का, इसके त्रैलोक्यव्यापक स्वरूप का विस्पष्ट शब्दों में स्वरूप–विश्लेषण हो रहा है —

१२२–गौपशु से अनुप्राणित गौतत्त्व के स्वरूपविश्लेषक कतिपय वेदमन्त्र—

१—आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन् सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः, इन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥
२—गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छात्, गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः सजनास इन्द्रः, इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥
३—यूयं गावो मेदयथा कृशं चित्, अश्लीलं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचः, बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥
४—प्रजावतीः सूयवसं रुशन्तीः, शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माऽघशंसः, परि वो हेती रुद्रस्य वृञ्ज्यात्॥

—तैत्तिरीयब्राह्मण २ काण्ड। ८ प्रपाठक। ८ अनुवाक।

तत्त्ववेदद्रष्टा वेदमहर्षि गौमाता से यही कामना व्यक्त कर रहे हैं कि,–"ये गौमाताएँ मेरे यहाँ [वैधयज्ञों में, तथा परिवारों–घरों में] पधारैं, [पधार कर मेरे यज्ञ का, परिवार का] अभ्युदय करैं। मेरे [घर की] गौशालाओं में विराजें, और [यहाँ स्वस्थतापूर्वक विराजमान होकर] मेरे [इस परिवार का] पालन–पोषण करैं। [यहाँ आकर विराजमान होने वालीं ये] गौमाताएँ प्रजावतीं बनें, [सन्तानवतीं बनें, और इन अनेक सन्तानों के धूम्र–धूसर–श्वेत–रक्त–पीत-कपिला-आदि विविध रूपों से सन्तानवतीं बनतीं हुई ये गौमाताएँ] यों अनेक रूपवतीं बन जायँ। [इसके अतिरिक्त] उषाकाल से पहिले रहनें वालीं रात्रियों में इन्द्र के लिए [अग्निहोत्र–दर्शपूर्णमासादि–यज्ञकर्म्माङ्गभूत] सान्नाय्य-द्रव्य के स्वरूप-सम्पादन के लिए दूध देने वालीं बन कर ही यहाँ विराजें [१]। ये जो गौमाताएँ हैं, वे ही हमारे [परिवार की] सम्पत्ति [सौभाग्यलक्ष्मी] हैं। सुनिर्म्मला इन गौमाताओं का पालन [स्वरूपरक्षा] जैसे [सौर] इन्द्र के द्वारा होरहा है, तथैव ये गौमाताएँ हमारा पालन करतीं हैं [करती रहैं]। ये गौमाताएँ [तीसरे पारमेष्ठ्य द्युलोक में प्रतिष्ठित 'ब्रह्मणस्पति' नामक प्रथमस्थानीय [परमेष्ठिस्थानीय] पवित्र सोम से [जीवनीय प्राणतत्त्व से] ही नित्य समन्वित हैं। [अर्थात् इस गौपशु का आधारभूत मौलिक प्राण पारमेष्ठ्य सोमतत्त्व से ही समन्वित है]। हे मानवो ! जो ये गौमाताएँ हैं, वे साक्षात् इन्द्र [की प्रतिमा हैं, सौर–इन्द्रप्राणात्मिका

हैं। अतः इस गोवंशरक्षा के लिए] मैं अपने बुद्धियुक्त चिन्मन से उस इन्द्र [के अनुग्रह] की ही कामना कर रहा हूँ। अर्थात् सौर इन्द्रात्मिका देवभावापन्ना सात्त्विकी बुद्धि के अनुग्रह से ही गौमाता का यह दिव्य स्वरूप मेरा उपास्य बना करता है [जबकि सत्त्वबुद्धिशून्य जड़भूतवादी मानव गौ के इस प्राणात्मक महत्त्व से अपरिचित रहता हुआ गौ को एक सामान्य पशु ही मानने की भ्रान्ति करता रहता है] [२]॥ हे गौमाताओ ! आप हमारी निर्बल–कृश-सन्ततियों को [अपने सबल–जीवनीय दुग्ध–दधि–घृत–तक्र–मण्ड-आदि से] सबल सुपुष्ट ही करने का अनुग्रह करें। दुर्बलाङ्ग, अतएव कुरूपवत् प्रतीयमान हमारी सन्तानों को [अपने रूप–बल–वर्द्धक दुग्धादि से] स्वरूप--सुरूपवतीं--बलिष्ठ बनातीं हुई आप इन्हें सौन्दर्य्य प्रदान करने का अनुग्रह करें। हे गौमाताओ ! वैज्ञानिकों की परिषदों [सभाओं] में आपका वयोरूप [वस्तुतत्त्वरूप] दुग्ध ही 'बृहदुक्थ' [सृष्टि का महान् मूलकारणरूप] से विचारपरामर्श का मौलिक विषय बना रहता है [रश्मिमण्डलरूप अर्कमण्डल का केन्द्रीभूत मूलबिम्बात्मक हृदयावच्छिन्न वस्तुतत्त्व ही **'बृहदुक्थ'** कहलाया है। निश्चयेन सौरप्राणात्मक--केन्द्रीय--गौरूप इन्द्रतत्त्व ही वह बृहदुक्थ है, जो अपने **महदुक्थ, महाव्रत, पुरुष,** रूप गायत्रीमात्रिक सौर--इन्द्रवेद के रूप से विद्वानों की तत्त्वचर्चा का आधार, मूलविषय बना रहता है] ३ ॥ [हमारे परिवार में निवास करनें वालीं] ये गौमाताएँ वत्स--वत्सा [बछड़ा--बछड़ी] से युक्त होकर कोमल--हरित घास चरतीं रहतीं हैं। सुशोभन--स्फटिकवत् निर्म्मल--स्वच्छ--सुविधापूर्वक पान करने योग्य प्रपाणों ['उदपान' नाम से प्रसिद्ध खेलियों] में परिपूर्ण [भरे हुए] स्वच्छ--निर्म्मल जल का पान करतीं रहतीं हैं। इसप्रकार उत्तम घास, शुद्ध--स्वच्छ जल खातीं–पीतीं हुई हे गौमाताओ ! [आप तृप्त–पुष्ट--समृद्ध होकर हमें ऐसा आशीर्वाद दीजिए, जिसके बल पर हम आपका संरक्षण कर सकें। फलस्वरूप] चौर आपको न चुरा सकें, प्रज्ञाहीन--दुष्टबुद्धि--असुरकर्म्मा--नराधम आपका ताड़न न कर सकें। तदित्थं आप ही के आशीर्वादबल पर हम आपकी दुष्ट--आततायीवर्ग से रक्षा करने में समर्थ बन सकें। और आप यों सर्वात्मना प्रसन्न बन कर हमें अपने अतिष्ठावा रुद्रदेवता के कोप से बचाने का अनुग्रह करतीं रहें [४] ॥*।

गोवर्द्धनोत्सवानुगता–गोस्वरूपात्मिका "नहुष च्यवन–संवादरूपा'-पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण
(सर्वात्मना श्रवधेय, तथा आचरणीय)

१२३–त्रैलोक्य–त्रिलोकी की प्रतिष्ठारूप गौप्राण की प्रतिमूर्त्ति गौमाता के पावन–स्वरूप का संस्मरण—

त्रैलोक्ये श्रेष्ठतम महद्भूत 'गौपशु' का तद्गर्भीभूत पारमेष्ठ्य–वैष्णव–गौतत्त्व के सम्बन्ध से, आपोमय परमेष्ठी-मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित सहस्ररश्मिमूर्त्ति-हिरण्यगर्भप्रजापति भगवान् सूर्य्यनारायण के आदित्य-रुद्र–वसु–नामक-प्राणात्मक–त्रैलोक्यव्यापक गौतत्त्व के सम्बन्ध से, पारमेष्ठ्यसोम के प्रवर्ग्यभूत आन्तरीक्ष्य

*--उक्त मन्त्रों की तात्त्विक स्वरूपव्याख्या--**'गोपाष्टमी, और गौतत्त्व'** नामक स्वतन्त्र निबन्ध में हीं देखनी चाहिए।

चन्द्रमा के प्रतिष्ठारूप चान्द्रगौतत्त्व के सम्बन्ध से, एवं गौरूपधरा–गायत्रीरूपा पृथिवी के प्रतिष्ठाभूत अग्निहोत्रमूलक-गौतत्त्व के सम्बन्ध से, तदित्थं पारमेष्ठ्य–सौर-चान्द्र–पार्थिव–इन चारों विश्वपर्वों के मूलप्रतिष्ठात्मक, क्रमशः **बार्हस्पत्या गौ, ऐन्द्री गौ, सौम्या गौ, आग्नेयी गौ**, नामों से उपवर्णित, सर्वोपरि अव्यक्त स्वयम्भूरूप यजुःप्राणरूप ऋषिगौतत्त्व से समन्वित, एवञ्च सर्वविश्वप्रतिष्ठात्मक इत्थंभूत गौतत्त्व से कृतस्वरूप भारत–राष्ट्र की आस्थाश्रद्धान्विता आर्षप्रजा के लिए परमाराध्य बना हुआ सुप्रसिद्ध-**'गौपशु'** [**गाय**] सचमुच न केवल त्रैलोक्य में हीं, अपितु पञ्चपर्वात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वापेक्षया श्रेष्ठ–श्रेष्ठतर–श्रेष्ठतम ही महद्भूत माना जायगा, माना गया है वेदशास्त्र में, जिसके आधार पर ही वेदशास्त्रोपबृंहक–इतिहासपुराणशास्त्र ने इस सर्वाराध्या परमाराध्या गौमाता के तथोक्त महिमाभावों का विस्तार से यशोगान किया है, जिसके श्रवणमात्र से ही मानव के अनेकजन्मार्जित दुरितसमूहों का सर्वात्मना क्षय हो जाता है। **'गुणैकदेशवचनं शक्यं–पारायणं न तु'** [म० अनु० पर्व ५१ अ० । ३४ श्लोक०] इत्यादि वचनानुसार इतिहासपुराणशास्त्र नें अपने महतो–महीयान् भी गोमाहात्म्य को सर्वथा आंशिक माहात्म्य ही माना है।

१२४–त्रैलोक्य–प्रतिष्ठारूप गौपशु के प्रति शासनतन्त्र का अभिनिवेशमूलक आक्रोश, एवं राष्ट्रीय गौधन के प्रति इसकी साम्प्रदायिकतारूपा महती भ्रान्ति—

भौतिक–आत्मिक–दैविक–धन्य–यशस्य–आयुष्य–राष्ट्रलक्ष्मीप्रवर्त्तक–संरक्षक–परिवर्द्धक–इत्थंभूत महद्भूतात्मक गौवंश की, सम्पूर्ण विश्व की मूलप्रतिष्ठारूपा इस विमलनिधि की जैसी उपेक्षा आज वह भारतराष्ट्र ही करता जा रहा है अपनी सर्वथा भ्रान्ता साम्प्रदायिकता के आवेश में, जिस भारतराष्ट्र ने हीं सर्वप्रथम इस भूतपशु के लोकोत्तर–लोकातीत–लोकरूप–अलोकलक्षण महत्त्व को समझा था, एवं समझ कर अपनी सम्पूर्ण आचारपद्धतियों में जिसे प्रमुख स्थान प्रदान किया था। इस अपेक्षा के माध्यम से आज हमें संकोच–शून्य बन कर यह कह ही देना पड़ेगा कि, सचमुच भारतराष्ट्र की प्रज्ञा प्रतीच्यजगत् के भौतिक जड़वाद–संस्कारों, किंवा कुसंस्कारों से आज वैसी अभिभूत होगई है, जिस अभिभूता परप्रज्ञा ने इसे भारतराष्ट्र के तत्त्वज्ञान से सर्वथा ही पराङ्मुख बना दिया है। अतएव 'गौरक्षा' जैसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्न को भी आज का हमारा यह राष्ट्रीय शासकवर्ग **'हिन्दू की साम्प्रदायिकता'** बतलाने की भयावहा भ्रान्ति करता हुआ इस निर्लज्ज अभियोग से यत्किञ्चित् भी तो अवनत– शिरस्क नहीं बन जाता। ज्ञानविज्ञानसम्मता इन राष्ट्रीय निधियों की 'साम्प्रदायिक' कह कर उपेक्षा करते रहने वाले आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्रराष्ट्र के स्वतन्त्र शासकवर्ग का यह परव्यामोहन कब किस माध्यम से दूर होगा ?, प्रश्न आज इसलिए सर्वथा अमीमांस्य ही बनता जारहा है कि, **अविद्या** की पुत्री **अस्मिता**, तत्पुत्री **आसक्ति**, एवं तत्पुत्र **'अभिनिवेश'** नामक **'दुराग्रह'** [हठधर्म्मी] उस सीमापर्य्यन्त व्यक्तित्वविमुग्ध आज के शासकवर्ग में अन्तर्य्यामसम्बन्ध से दृढमूल बन गया है, जिस इत्थंभूत अभिनिवेश को शास्त्र ने **'अविचिकित्स्य'** मानते हुए **असाध्य** रोग ही कहा है। अतएव एकमात्र आस्था–श्रद्धाशील वह जनतन्त्र ही इस राष्ट्रीय मूलधन के संरक्षण से राष्ट्र को महाविनाश के गर्त्त से बचा सकता है, जिस आस्थाश्रद्धान्वित जनतन्त्र की संस्कृति–निष्ठामूला–सांस्कृतिक–आचारपद्धतियों से, सर्वोपरि सांस्कृतिक–आयोजनों से ही विगत उन शताब्दियों में भी इस मूलधन के रक्षण के क्वाचित्क प्रयत्न प्रक्रान्त ही रहे हैं, जिन शताब्दियों में तो प्रत्यक्ष में ही इस राष्ट्रनिधि को उत्पीडित किया जाता था।

१२५–राजर्षि नहुष, तथा महर्षि च्यवन की संवादभाषा के माध्यम से धर्म्मराज युधिष्ठिर, एवं धर्म्मरहस्यवेत्ता महात्मा भीष्म के गौ के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्नोत्तर –

प्रस्तुत 'दीपावलीपर्व' नामक महान् सांस्कृतिक आयोजन के प्रधानाङ्गभूत '**गोवर्द्धनमहोत्सव**' के प्रसङ्ग से ही दो शब्दों में उस पावनगाथा की ओर सांस्कृतिक-प्रजा का ध्यान आकर्षित करा दिया जाता है, जिस आख्यान के द्वारा इस महद्भूत परमाराध्य गोपशु के 'मूल्याङ्कन' की मीमांसा के द्वारा इसके महत्त्व का यशोगान हुआ है । आख्यान का मूलबीज है–'**एक गौपशु का मूल्य क्या ?**' । इस मूल–बीज को आधार मान कर ही **राजर्षि नहुष**, तथा **ब्रह्मर्षि च्यवन** की संवादभाषा में महात्मा भीष्मनें धर्म्मराज युधिष्ठिर की गोस्वरूपजिज्ञासा का जो समाधान किया है, उसी का संक्षिप्ततम स्वरूप अत्र सङ्कलित हो रहा है राष्ट्रलक्ष्मी–समृद्धि की मङ्गलकामना से ।

युधिष्ठिर प्रणतभाव से शरशय्यासीन महात्मा भीष्म से यह जिज्ञासा करते हैं कि, हे पितामह ! गौ–माता के दर्शन से मानवीय मन में किस प्रकार की स्नेहधारा उमड़ पड़ती है ?, गौमाता के घर में निवास करने से गृहस्थ किस अतिशय से समन्वित हो जाता है ?, किंवा गौ के दर्शन में मानव का क्या आनृशंसधर्म्म है ?, तदतिरिक्त गौमाताओं के महद्भावानुगत उस अतिशय-माहात्म्य का क्या स्वरूप है ?, यह सब स्पष्ट करने की कृपा करेंगे ! ।

भीष्म उवाच—हन्त ! ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते !
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्चवनस्य च ॥

१२६–गङ्गायमुना के प्रचण्डप्रवाहात्मक सङ्गमस्थान में महर्षि च्यवन के द्वारा द्वादश–वर्षीय दुष्कर-तप का अनुगमन—

भृगुपुत्र, अतएव–'भार्गव' नाम से प्रसिद्ध महर्षि च्यवन ने अपने मानवीय मनोऽनुबन्धी '**मान–क्रोध–हर्ष–शोक** आदि का एकान्ततः परित्याग कर एक बार बारह वर्षीय उस उग्र तपोव्रत का सङ्कल्प किया, जिसकी पूर्त्ति अपने शरीर को जलनिमग्न रहते हुए ही सम्पन्न होती है । अपने इष्टदेव का संस्मरण कर महर्षि च्यवन इस दुष्कर व्रत के सम्पादन के लिए मकर–मत्स्यादि विविध जलजन्तुओं से नित्य समाकुलित गङ्गा–यमुना के सङ्गमस्थान में तत्र जले समाधिपूर्वक प्रविष्ट होगए १२ वर्षों के लिए । महर्षि ने अपनी व्रतनिष्ठा के द्वारा गङ्गायमुना के उस अत्यन्त-प्रचण्ड वेग के सम्मुख प्रणतभाव से अपने आपको समर्पित कर ही तो दिया, जिस प्रचण्डवेग का संस्मरण भी प्राकृत–मानवों को विकम्पित कर देता है ।

१२७–सङ्गमजले निमज्जित च्यवन का आधिदैविक गङ्गा-यमुना-देवता के द्वारा संरक्षण, एवं हिंस्रक जलजन्तुओं का ऋषि के प्रति स्नेहार्पण—

ऋषि की इस व्रतनिष्ठा से गङ्गायमुनाजल के अभिमानी आधिदैविक प्राणदेवता [गङ्गा–यमुना नाम से प्रसिद्ध देवता] अत्यन्त ही प्रसन्न हो गए महर्षि पर, एवं अपना प्रचण्डवेग सुशान्त कर लिया, ऋषि की

प्रदक्षिणा करने लग पड़े ये देवता, और यों रक्षक ही बन गए ये देवता च्यवनशरीर के। च्यवन महर्षि अपने प्राणों का संयम कर काष्ठवत् निष्चेष्टमुद्रा से मेरुदण्ड को तान कर ऊर्ध्ववाहु बन कर अपने प्राणानुध्यानात्मक व्रतानुष्ठानकर्म्म में सर्वात्मना संलग्न हो गए। इनके चारों ओर व्याप्त रहने वाले मकर–मत्स्य–कृकलास–तिमिङ्गिलादि क्षुद्र–महान् जलजन्तुओं के लिए भी तपःप्रभाव से परिपूत महर्षि च्यवन प्रियदर्शन ही बन गए–'**जलौकसां स सत्त्वानां बभूव प्रियदर्शनः**'। यही नहीं, अपितु–'**उपाजिघ्रन्त च तदा तस्योष्ठं हृष्टमानसाः**'। अर्थात् जलजन्तु चारों ओर से सिमिट सिमिट कर समाधिस्थ ऋषि की ओर हिंसावृत्ति से तो आते, किन्तु तपःप्रवास से–प्रभावित होकर तत्क्षण ही अपनी हिंसावृत्ति का परित्याग कर ये जलजन्तु अपने इन प्रियदर्शी महर्षि के ओष्ठयुगल [होठों] का स्पर्श कर अत्यन्त तृप्ति–तुष्टि का अनुभव कर लौट जाते इस स्पर्शजनित प्रसादगुण से भाग्यशाली बनते हुए।

१२८–मत्स्योपजीवी निषादों के द्वारा तत्सङ्गमजल में जालप्रक्षेप के द्वारा जलजन्तुओं का विकर्षण, एवं हर्षनिनाद—

यों ऋषि की तपःप्रभाव से सब ओर के स्थावर–जङ्गमात्मक वातावरण के सुशान्त–सुसमृद्ध–वनश्री सुशोभित–बने हुए पावनप्रदेश में ऋषि नें तपश्चर्य्या करते करते अनेक वर्ष व्यतीत कर दिए निर्विघ्नता–पूर्वक–'**तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन् महान्**'। एकबार किसी समय कहीं से मत्स्योपजीवी कृष्णकान्तिसमतुलित–घोराकृति से सुशोभित वैसे निषादों [धीवरों] का दल आपहुँचा इस सङ्गमतट पर, जिन निषादों के हाथों में बड़े बड़े जाल विद्यमान थे। वे यही निश्चय कर अत्र तटे समवेत हुए थे कि—"वे आज यहाँ अपने जालों में पर्य्याप्त मकर–मत्स्यों का संग्रह कर लेंगे"। अपने इस निश्चय को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए इन धीवरों के सुविशाल जाल गङ्गायमुना के उसी सङ्गम–प्रदेश में एक साथ प्रक्षिप्त हो पड़े, जहाँ ऋषि के स्नेह से आकर्षित जलजन्तु अधिक संख्या में स्वच्छन्द विचरण कर रहे थे। सङ्कल्प सफल हुआ निषादों का। आशा से भी कहीं अधिक जलजन्तु इनके प्रक्षिप्त जालों में आबद्ध हो गए। जन्तुभारों से अतिशय भारवान् बन जाने वाले इन जालों को जल में प्रवेश कर उन भीमकाय–बलिष्ठ निषादोंनें अनायासेनैव सङ्गमतट पर ला पटका, और अपने आज के इस सफल परिश्रम से सभी हर्षसंविग्नमानस बन गए।

१२९–जाल से आकर्षित महर्षि च्यवन पर दृष्टिपात से निषादों का विकम्पन, एवं ऋषि का ऊर्ध्वनिःश्वसन—

अरे! रे! यह क्या है?, यह क्या हो पड़ा?, सहसा इत्यादि आश्चर्य्यमिश्रित भय से निषादों का हर्षोत्सव उपरत ही हो गया यह देख कर कि, दैवदुर्विपाक से इन में से ही किसी एक के जाल में समाधिस्थ तपोनिष्ठ वे महर्षि च्यवन भी आबद्ध होकर आगए हैं, जिनके प्रदीप्त ज्योतिर्म्मय शरीर के चारों ओर छोटी–छोटी मछलियाँ वस्त्रवत् आवेष्टित हो रहीं थीं, नदी के हरित–कोमल शैवाल जिनके सर्वाङ्गशरीर को आवृत किए हुए थे, इन से इन के केश–लोम–जटाजूटादि सभी कुछ हरितवर्ण में परिणत हो रहे थे, इनके नखाग्रभागों में, शरीरावयों में हरित–पीत–नील–रक्त–आदि विविध वर्णों के शंख संलग्न हो रहे थे। इसप्रकार ये वेदपरपारगामी महर्षि अपने इन जलीय परिचारकों से अद्भुत ही छटा अभिव्यक्त कर रहे थे, जिस अभिव्यक्ति से प्रभावित होकर ही निषाद महर्षि के सुगुप्त मूर्त्तशरीर को पहिचान सके। तत्क्षण हीं सभी

निषाद त्राहि मां ! त्राहि मां ! रूपा करुणा वाणी का प्रणतभाव से उच्चारण करते हुए अपने शिरोभागों से अपने आपको दण्डवत्‌रूपेण निष्प्राणवत् ही ऋषि के सम्मुख प्रक्षिप्त ही कर दिया–**'सर्वे प्राञ्जलयोदाशाः–शिरोभिः प्रापतन्भुवि'** । इन का मन निरतिशयरूपेण खिन्न होगया, शरीरयष्टियाँ भय से विकम्पित हो पड़ीं। और उधर दुर्भाग्य से इन बलिष्ठकाय निषादों के द्वारा आक्रोशपूर्वक जाल में आबद्ध, अपकर्षित, तदनन्तर भूमि में प्रक्षिप्त वे मत्स्यादि जलजन्तु तो निष्प्राण ही बन गए प्रकृतिविरुद्ध स्थलभाग के संस्पर्श से । स्वयं निषादों की भी स्थिति ऐसी ही होगई, मानो इन का प्राणोत्क्रमण ही हो गया हो।

तात्पर्य्य–इधर यों निषाद ऋषिभय से निष्प्राणवत् बन गए, तो दूसरी ओर इन भीमकाय–बलिष्ठ–निषादों के जालप्रक्षेपजनित परिखेद से, परित्रास से, आलोडन-विलोड़-रूप प्रचण्ड संघर्ष से, सर्वोपरि निर्दयतापूर्वक जालाकर्षण से, जालों के भूमिपर प्रक्षिप्त कर देने से जालाबद्ध सब जन्तु तो सर्वथा ही निष्प्राण ही बन गए प्रकृतिविरुद्ध स्थलभाग के संस्पर्श से—**"परिखेद-परित्रासात्–जालस्याकर्षणेन च। मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शने च"**।

ध्वनिवागनुगत मत्स्यादि जलजन्तुओं के करुणाक्रन्दन से, भयसंत्रस्त निषादों के प्रचण्डपातरूप पतनाघातों से महर्षि च्यवन की समाधि टूट पड़ी, और आँखें खोलने के साथ ही उन्होंनें अपनी इस अहिंसामयी पावन–तपोभूमि में एक ओर जलजन्तुओं को आकुल–व्याकुलरूपेण निष्प्राण होते देखा, तो दूसरी ओर निषादों को निष्प्राण बने देखा। और इस अमानवीया घटना से महर्षि का दयार्द्रहृदय दुःखार्त्त बन गया, फलस्वरूप ऋषि पुनः पुनः शोकोच्छ्‌वास के अनुगामी बन गए–**"स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां–क्रन्दनं कृतम्। बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः"**।

१३०–विकम्पित–भयसंत्रस्त निषादों की ओर से क्षमा–याञ्चा, एवं ऋषि के प्राणोत्सर्गरूप भयावह उद्‌गार—

ऋषि की तथाविधा आर्त्ता अवस्था देख कर, एवं इन्हें करुणा से ऊर्ध्वप्रश्वासानुगामी देख कर अब भूमिष्ठ निषाद संयम न रख सके। अविलम्ब वे अपने शिरोभागों को उठा कर प्रणताञ्जलिमुद्रा से ऋषि से यही निवेदन करने लग पड़े कि–भगवन् ! अज्ञानवश हम अज्ञानविमूढों से जो आज यह घोरघोरतम पाप कर्म्म हो पड़ा है, हम हृदय से इस अपराध के लिए क्षमा–याञ्चा कर रहे हैं। महर्षे ! आप अविलम्ब हमें आज्ञा दीजिए कि–'हम अपने इस पापकर्म्म का क्या प्रायश्चित्त करें ?"। निषादों की यह प्रार्थना सुन कर उन आर्त्त–निष्प्राण–मत्स्यादि जलजन्तुओं के मध्य में विराजमान करुणा की सगुणमूर्त्ति महर्षि च्यवन कहने लगे कि–निषादो ! अवधानपूर्वक सुनो ! जो कि इस सम्बन्ध में मैंनें अपना अन्तिम निर्णय कर लिया है—**"यो मेऽद्य परमं कामस्तं शृणुध्व समाहिताः'**।

"मैं जीवित रहूँगा, तो इन मत्स्यादि जलजन्तुओं के साथ ही जीवित रहूँगा। यदि ये मर गए, तो मैं भी इन के साथ ही अपना शरीर छोड़ दूँगा। (क्योंकि तुमने मेरे आश्रय में निर्विघ्न–निर्भय विचरते हुए ही इन को जाल में आबद्ध किया है। यदि मैं अपने इन आश्रितों की रक्षा न कर सका, तो स्वयं भी अपने प्राणोत्सर्ग कर दूँगा, और यही मेरा अन्तिम निर्णय होगा)" । **"प्राणोत्सर्गं–विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्यामहं**

सह", अर्थात्–"या तो इनके साथ प्राण छोड़ दूँगा, यदि तुमने इनको प्राणदान न दिया तो । अथवा–इन के जीवित–विसर्ग के साथ ही मैं पुनः इन के साथ अपने व्रतसम्पादन के लिए जल में प्रविष्ट हो जाऊँगा । इन के बिना मैं रह ही न सकूँगा" ।

१३१–प्रतीकार में असमर्थ निषादों का भारतीय सम्राट् नहुष की शरण में गमन, एवं तत्र इस भीषण घटना का निवेदन—

मत्स्यादि जलजन्तुओं को छोड़ देने में तो कोई कठिनाई न थी निषादों के लिए । किन्तु जो जलजन्तु प्रचण्डाघात से निष्प्राण बन गए थे, उन्हें पुनः जीवित कर देना तो असम्भव था निषादों के लिए । उधर ऋषि का अन्तिम निर्णय था–बिना इनके वे तप ही नहीं करेंगे । अतएव ऋषि के इस अन्तिम निर्णय से निषादों की सम्पूर्ण आशाओं पर तुषारपात होगया, एवं ऋषिभय से सभी निषाद सर्वात्मना भयसंत्रस्त बनते हुए सर्वथा ही निराश होते हुए अन्तिम शरणरूप देशाधिपति शासकप्रवर राजर्षि नहुष की राजधानी की ओर सत्वरवेग से चल पड़े इस महान् भय से त्राण प्राप्त कराने की कामना से । और वहाँ पहुँच कर प्रणतभाव से नहुष के सम्मुख सम्पूर्ण घटना का विवरण उपस्थित कर दिया–"**इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः । सर्वे विवर्णवदना–नहुषाय न्यवेदयन्**" ।

१३२–घटनाश्रवणमात्र से विकम्पित सम्राट् का अमात्य–पुरोहित सहित आगमन, एवं ऋषि के प्रति प्रणतभाव से अर्घ्यप्रदान—

घटनाश्रवणमात्र में विलम्ब था । ऋषिकोप के महत्त्व से सुपरिचित नहुष क्षणमात्र भी विलम्ब न कर अपने प्रधानामात्य, कुलगुरु, आदि के साथ तत्क्षण–शीघ्र ही चल पड़े–'**त्वरितः प्रययौ तत्र–सहामात्य पुरोहितः**' । तत्र गत्वा–अपने आपको मनसा वाचा कर्म्मणा अत्यन्त ही शुचिभाव में परिणत कर प्रणताञ्जलि बन कर प्रणतभाव से सर्वप्रथम महर्षि के सम्मुख–"**भगवन् ! यह नहुष आपकी पावन सेवा में उपस्थित है**" इसप्रकार अपना परिचय प्रदान किया राजर्षिने–"**शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः–प्रयतो नृपः । आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने**" । (आज इस वर्त्तमानावस्था में महर्षि च्यवन का शरीर तपोऽनुष्ठान के कारण अत्यन्त ही प्रज्वलित तेजोमय, अतएव विभिन्न प्रकृतिधर्म्मा क्षत्रियादि के लिए असह्य ही प्रमाणित हो रहा था । अतएव स्वयं राजर्षि क्षत्रियपुङ्गव नहुष स्वयं इस ऋषिशरीर को, इस तेजोमय देवशरीर को अर्घ्यप्रदान–पूजनादि समर्पण करने में समर्थ न बन सके ।) अतएव इनके साथ आए हुए (ब्राह्मणऋषि से प्रकृत्या समतुलित) कुलपुरोहित–ब्राह्मण के द्वारा ही सत्यव्रत–महात्मा–देवकल्प च्यवनमहर्षि का पूजनसत्कार सम्पन्न कराया गया–'**अर्चयामास तं चापि तस्य राज्ञः पुरोहितः**' ।

१३३–नहुष की प्रार्थना पर ऋषि के द्वारा स्वमूल्याङ्कन–माध्यम से निषादों के परितोष की कामनाभिव्यक्ति—

पूजनार्घ्यादि–प्रदानविधि के सम्पन्न होजाने पर नहुष प्रणतभाव से यही निवेदन करने लगे कि, हे द्विजोत्तम महर्षे ! आज्ञा दीजिए ! यह नहुष आपके लिए क्या प्रिय कार्य्य करे ? । भगवन् ! मैं आपकी उस आज्ञा का भी पालन करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूँ, जो मेरेलिए दुष्कर भी प्रमाणित होगी–'**सर्वं कर्त्तास्मि–**

भगवन् ! यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्' । नहुष के इसप्रकार प्रार्थना करने पर च्यवन कहने लगे कि– "मत्स्यादि जलजन्तुओं के क्रयविक्रय के द्वारा ही अपना जीवनयापन करने वाले ये कैवर्त्त (धीवर) आज इन मत्स्यादि के संग्रहकर्म्म से अत्यन्त ही श्रमशील प्रमाणित हो गए हैं । अर्थात् बड़ा ही प्रयास करना पड़ा है इन्हें इनके संग्रह के लिए । इन्हीं मत्स्यों के साथ मत्स्यभ्रान्ति से ही मुझे भी इन्होंनें अपने जाल में आबद्ध कर लिया है । अतएव मैं भी इन अपहृत मत्स्यों की भाँति इन की आजीविका का ही साधन प्रमाणित हो चुका हूँ । अतएव राजन् ! **"आपको इन मत्स्यों के साथ साथ मेरा भी मूल्य इन कैवर्त्तों को दे देना चाहिए । तभी हम, और ये हमारे आश्रित जन्तु इन से धर्म्मतः मुक्त हो सकेंगे"** ।

१३४-सम्राट् के द्वारा निषादों के सहस्रमुद्रात्मक मूल्यप्रदान का विनिर्णय —

भारतीय चक्रवर्त्ती सम्राट् को सन्तोष होगया ऋषि की इस इच्छा से अवगत होकर इसलिए कि, इनकी भूतदृष्टि में इन भौतिक मत्स्यादि जन्तुओं का, एवं ऋषि के भौतिक शरीर का मूल्य निषादों की दृष्टि में अधिक से अधिक १००–२०० मुद्राएँ हीं हो सकता था । अतएव तत्काल उन्होंनें अपनी भूतप्रज्ञा के अनुपात से उसी प्रकार इनका भौतिक मूल्य अनुमेय बना डाला, जैसे कि प्राणरहस्य से अपरिचित भूतवादी जड़भूत की तुला से ही राष्ट्र की शारदीया संस्कृति को आज तौलने का अपराध करते रहते हैं । भला कहीं लक्ष्मी से भी सरस्वती का मूल्याङ्कन सम्भव हुआ है कभी ? । वही भ्रान्ति करते हुए राजा नहुषनें भी अपने पुरोहित से तत्काल सङ्केत कर दिया कि, **"आप ! इन निषादों को एक सहस्र मुद्रा प्रदान कर दीजिए समत्स्य ऋषि के पाशबन्धन–विमोक के लिए, जैसाकि भृगुनन्दननें हमें आदेश दिया है"**— "सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित !" ।

१३५–भूतासक्त नहुष को ऋषि के द्वारा उद्बोधनप्रदान, एवं विचारपूर्वक मूल्याङ्कन का आदेश—

राजा के इस 'सहस्रमुद्रा' आदेश को सुन कर ऋषि ने तत्क्षण अनुमान लगा लिया कि, नहुष आज निषादों की भूतप्रकृति के माध्यम से उनके स्वरूपानुपात से ही हमारा मूल्याङ्कन कर बैठे हैं अपनी लोकानुगता भूतदृष्टि के व्यामोहन से । सचमुच नहुष जैसा धर्म्मिष्ठ राजा भी आज प्रकृति के प्राणात्मक आधिदैविक महत्त्व को विस्मृत कर बैठे हैं अपनी भूतैश्वर्य्यमदान्धता से । नहुष के इसी भौतिक–मूल्याङ्कनरूप महान् व्यामोहन को दूर करने के लिए ही सर्वलोकहितैषी परमकारुणिक भगवान् च्यवन–'सहस्र' दानादेश की बात सुनते ही नहुष का परोक्षभाषा में हीं उद्बोधन कराते हुए कहने लगे कि, **"राजन् ! सावधान ! क्या तुम सहस्रमुद्रा ही हमारा मूल्य समझ रहे हो ? । अपनी निष्ठाबुद्धि से पुनः विचार करो । और जो मूल्य हमारा वास्तव में हो, वही निषादों को प्रदान करो"**—

सहस्रं नाहमर्हामि, किंवा त्वं मन्यसे नृप !
सदृशं दीयतां मूल्यं 'स्वबुद्ध्या' निश्चयं कुरु ! ॥

१३६–नहुष के द्वारा लक्षमुद्रा का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा अमात्यबुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश—

नहुष ने उद्बोधन तो प्राप्त न किया ऋषि के उक्त उद्बोधनसूत्र से । हाँ भयत्रस्त अवश्य होगए नहुष उक्त कथन से । अतएव तत्काल अपनी लोकभावुक–बुद्धि से ही निर्णय कर यह कह डाला पुरोहित–

ब्राह्मण से कि–"हे विप्र ! आप शतसहस्र [एकलक्ष] मुद्राएँ निषादों को दे दीजिए !" 'सहस्राणां शतं विप्र ! निषादेभ्यः प्रदीयताम्' । अपने विप्रपुरोहित को यह कह कर महर्षि की ओर अभिमुख होते हुए नहुष कहने लगे कि–भगवन् ! मैं समझता हूँ–यह मूल्य तो आप की दृष्टि में अनुरूप ही होगा ? । अथवा तो भगवन् फिर भी मूल्याङ्कन में मैं कोई त्रुटि कर रहा हूँ,–तो वैसी आज्ञा प्रदान करने का अनुग्रह करें !– "स्यादिदं भगवन्मूल्यं–किंवा मन्यते भवान्" ।

ऋषि ने अब यह ठीक ठीक समझ लिया कि, नहुष की बुद्धि भूतजगत् से पृथक् हो ही नहीं रही है । इसने समझ यह लिया है कि, हम भूतदृष्टि से मूल्याङ्कन करवा रहे हैं । अतएव एक सहस्र से सहसा शतसहस्र पर आते हुए अपनी निःसीमा भूतबुद्धि का परिचय प्रदान कर डाला है नहुष ने । सम्भव है–नहुष के अमात्य इस भूतासक्ति से पृथक् होकर प्राणदृष्ट्या मूल्याङ्कन कर सकें । इसी दृष्टि से पुनः उद्बोधन कराते हुए च्यवन कहने लगे नहुष से यही कि—"राजन् ! फिर भूल कर रहे हो । हम कदापि शतसहस्र मुद्रा से समतुलित होने योग्य नहीं हैं । हम तो पुनः इस सम्बन्ध में आप से यही कहेंगे कि, हमारा जो वास्तविक मूल्य हो, वही निषादों को दीजिए, और इस समस्या का समन्वय (आपकी बुद्धि न कर सके, तो) अपने प्रज्ञाशील अमात्यों से चिन्तन कर समस्या का कोई ठोस निर्णय कीजिए ! यथाहि—

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ !
दीयतां सदृशं मूल्यं-"अमात्यैः सह चिन्तय" !

१३७–कोटिमुद्राप्रदान का निर्णय, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ब्राह्मणों की बुद्धि के माध्यम से विचार का आदेश—

अहो ! महतीयं विडम्बना भूतविमोहनस्य । नहुष फिर भी न समझे ऋषि के आधिदैविक दृष्टिकोण को । वे अमात्य भी राजा को इस दिशा में तथ्यपूर्ण चिन्तन प्रदान न कर सके, जिनका दृष्टिकोण सत्ताश्रय से अभिभूत होरहा था । इसीलिए नहुष अपने इन अमात्यों के साथ चिन्तन करके भी इसी भौतिक निष्कर्ष पर पहुँच गए कि–सम्भवतः ऋषि अधिक मुद्राएँ प्रदान कराना चाहते हैं । इसीलिए आगे चलकर नहुषनें पुनः अपने पुरोहित से यह कह डाला कि-**"पुरोहित ! इन निषादों को एककोटिमुद्रा (करोड़रुपय्ये) देकर प्रसन्न करो । यदि निषाद एक करोड़ से भी प्रसन्न न हों, तो वे जितना और माँगे, उतना ही और देदो"** ।

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित !
यदेतदपि नो मूल्यं-अतो भूयः प्रदीयताम् !

च्यवन अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, सत्ताधीश राजा, एवं तत्सहयोगी अमात्यगण, दोनों हीं लोकतान्त्रिकी बहिर्मुखता के कारण धर्म्म के प्राणात्मक सूक्ष्म रहस्य का यथावत् समन्वय कर ही नहीं सकते तबतक, जबतक कि 'सत्तातन्त्र' से निरपेक्ष बने रहने वाले धर्म्मस्वरूप के चिन्तक ब्राह्मण का ये आश्रय नहीं ले लेते । बिना ब्राह्मणप्रज्ञा के नहुष का सम्पूर्ण राज्यतन्त्र भी सम्मिलित होकर प्राणनिबन्धन मूल्य का

समतुलन सम्भवतः नहीं ही कर सकेगा । अतएव नहुष की कोटि-कोट्यधिक घोषणा सुन कर अन्त में यही उद्बोधनसूत्र नहुष के सम्मुख रख देना पड़ा महर्षि को कि-'हे राजन् ! फिर भूल कर रहे हो । करोड़, अथवा तो कोटयधिक-अर्बुदादि मुद्राएँ कदापि हमारा मूल्य नहीं हो सकता । हम तो पुनः इस सम्बन्ध में आपसे यही कहेंगे कि-जो मूल्य हमारे [प्राण के] स्वरूप से समतुलित हो, वही निषादों को दीजिए, और इस प्रदान-सम्बन्ध में आप अपने राष्ट्रीय ब्राह्मणों से अवश्य ही परामर्श कर लीजिए''—यथाहि—

राजन्नार्हाम्यहं कोटिं, भूयो वापि महाद्युते !
सदृशं दीयतां मूल्यं-'ब्राह्मणैः सह चिन्तय' !

१३८-ब्राह्मणप्रज्ञा के परामर्श से नहुष के द्वारा निषादों को सम्पूर्ण साम्राज्य-प्रदान की घोषणा, एवं पुनः ऋषि के द्वारा ऋषिप्रज्ञा के माध्यम से विचार का आदेश-

ऋषिप्रदृष्ट निगमागमपुराणस्मृत्यादि-शास्त्रचिन्तक ब्राह्मण धर्म्मचिन्तक तो अवश्य बना रहता है । किन्तु ऋषिवत् यह धर्म्म के सूक्ष्म-प्राणात्मक स्वरूप का साक्षात् दर्शन करने में असमर्थ है । अतएव इसकी धर्म्माचारानुगता ब्राह्मणप्रज्ञा अपनी सत्तानिरपेक्षता से समस्त-भौतिक सत्ताबल को तो उपेक्षणीय मान सकती है । किन्तु प्राणदृष्ट्या एक अन्य प्राण का यथार्थदृष्टि से मूल्याङ्कन करने में तो साक्षात्कृतधर्म्मानुगता ऋषिदृष्टि के समतुलन में इसकी दृष्टि सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित होजाती है । अतएव ब्राह्मणोंनें भी नहुष को अपनी सत्तानिरपेक्षता के बल पर यही सुझाव प्रदान कर दिया कि, तुम्हें अपना आधा राज्य, किंवा सम्पूर्ण ही राज्य निषादों को दे डालना चाहिए । तभी ऋषि च्यवन का यथार्थ मूल्याङ्कन सम्भव हो सकेगा । **'ब्राह्मणैः सह चिन्तय'** के आधार पर इसी निर्णय पर पहुँचते हुए अन्ततोगत्वा नहुष ने अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर डाले कि—"भगवन् ! मैं अपना आधा राज्य, नहीं नहीं-अपना सम्पूर्ण ही राज्य इन निषादों को दिलवा रहा हूँ पुरोहित के द्वारा । और मैं समझता हूँ-मैं अब मूल्य के ठीक ठीक मापदण्ड पर पहुँच गया हूँगा आपकी दृष्टि में ? । यदि आप इससे भी सन्तुष्ट नहीं हैं, तो फिर अनुग्रह कर आप ही बतलाइए कि, मैं उस अवस्था में क्या करूँ ?''—यथाहि—

अर्द्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये, किंवान्यन्मन्यसे द्विज ! ॥

उक्त प्रदान-घोषणा से राजा ने सम्भवतः यह कल्पना करली होगी कि, जबकि मैंने सम्पूर्ण राज्य-साम्राज्य को ही 'सदृशमूल्याङ्कन' मान लिया, तो अब तो ऋषि अवश्य ही इसलिए तुष्ट हो ही जायँगे कि-'राजा' पद के साथ 'देय' नामक जो कुछ है, उसे सर्वात्मना दे देने के अतिरिक्त जब 'राजा' शब्द की सीमा में कुछ शेष रह ही नहीं जाता, जिसे माध्यम बना कर ऋषि उसे पुनः-'सदृशं दीयतां मूल्यम्' ऐसा आदेश दे डालें । सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन 'राजा'-और-'राज्य' शब्दों की भूतसमृद्धिरूपा इसी महती भ्रान्ति ने अपने सर्वान्त के वाक्य में भूतैषणालिप्त राजा नहुष के मुख से-'एतन्मूल्यमहं मन्ये' रूप से

ये अतिमानात्मक दाम्भिक वचन निकल पड़े, जो तत्पूर्व की प्रदान–परम्पराओं में अबतक नहीं निकले थे। साथ ही–**'किंवा यन्मन्यसे द्विज !'** इस दम्भपूर्ण वाक्य से भूतमदान्ध नहुष परोक्षरूपेण ऋषिप्रज्ञा पर भी यह अभियोग लगा बैठने की भयावहा सर्वनाशकारिणी भ्रान्ति कर बैठे कि—'लीजिए मैने तो मान लिया है–अपने राज्य को ही आपका मूल्य। अब आप और क्या मान लेंगे इससे अधिक अपना मूल्य ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् ! सचमुच राज्यतन्त्रानुगता लोकैषणा प्रज्ञाशील–धर्म्मनिष्ठ मानवों को भी यदा कदा महामायापाशबन्धनिग्रह–माध्यम से मोहाभिनिविष्ट कर ही तो देती है *। महर्षि च्यवन पर क्या प्रतिक्रिया हुई नहुष के तथाकथित भौतिक उद्‌गारों की ?। कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। क्योंकि च्यवन मानवीया भूतसीमा का अतिक्रमण कर उस आर्षेया प्राणसीमा में प्रतिष्ठित होगए थे, जिसके कारण अपने व्याज-माध्यम से जो महर्षि जलजन्तुओं का परित्राण, तथा निषादों की तुष्टिकामना करते हुए अपनी आत्मप्राणरतिमूला-समदर्शनमूला-सर्वभूतहितरति के ही सगुण प्रतिमान प्रमाणित होरहे थे। अतएव दिग्भ्रान्त, किंवा भूतैषणाभ्रान्त नहुष के प्रति भी ऋषिश्रेष्ठ प्रतिक्रियावादी बन ही कैसे सकते थे। अपितु ऋषि ने तो प्रत्येक सम्भव–असम्भव उपाय से आज नहुष की इस भूततन्द्रा के मूलोच्छेद का ही संकल्प कर लिया था। इसी पावन संकल्प के माध्यम से अब ऋषि ने यह निश्चय कर लिया कि, केवल धर्म्मतत्त्वचिन्तक–धर्म्माचारपरायणमात्र ब्राह्मण की प्रज्ञा से भी राजा का उद्‌बोधन सम्भव नहीं है। अब तो इसे किसी साक्षात्कृतधर्म्मानुगता ऋषिप्रज्ञा की ही शरण में जाना पड़ेगा। एवं वहीं इसे प्राणात्मक–वास्तविक मूल्याङ्कन का स्वरूपबोध प्राप्त हो सकेगा। इसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचते हुए महर्षि कहने लगे कि—"राजन् ! तुह्मारा यह आधा, किंवा सम्पूर्ण भौतिक राज्य भी कदापि हमारा मूल्य नहीं हो सकता। (तुमने हमसे आक्रोशपूर्वक जो यह कह डाला है कि–'आप क्या मानते हैं अपना मूल्य, जब कि हमनें तो सम्पूर्ण राज्य को ही आपका मूल्य मान लिया है ?" के प्रति) हमें यही कह देना है तुम से कि–तुम अपनी भूतप्रज्ञा को उपशान्त करो। और जो मूल्य हमारे स्वरूप के अनुरूप हो, वही हमारे लिए निर्द्धारित करो। (परन्तु ध्यान रखना कि) इस निर्द्धारण में इसबार तुम्हें ऋषियों के साथ ही चिन्तन करना चाहिए। (क्योंकि बिना ऋषिप्रज्ञा के तुह्मारी लोकतान्त्रिकी भूतविमुग्धा प्रज्ञा प्राणात्मक मूल्याङ्कन का निर्द्धारण कर ही न सकेगी)–यथाहि—

अर्द्धं राज्यं, समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव !
सदृशं दीयतां मूल्यं–'ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्' ! ॥ ×

***–ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।**
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥—सप्तशती

× महाभारतकार भगवान् पुराणपुरुष कृष्णद्वैपायन व्यासदेव के कथानक-सम्बन्धी–**'स्वबुद्धया निश्चयं कुरु'–'अमात्यैः सह चिन्त्यताम्'–'ब्राह्मणैः सह चिन्तय'**, एवं सर्वान्त के **'ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्'** इन उद्‌बोधन–वाक्यों का उस सांस्कृतिक–निष्ठा से ही पारम्परिक सम्बन्ध है, जिसके लोकभूतपक्ष का सम्बन्ध जहाँ सत्ताधीश राजा की बुद्धि से, तदनुवर्त्ती अमात्यों की लोकतान्त्रिकी प्रज्ञा से माना गया है, वहाँ प्राणात्मक अलौकिक–दिव्यपक्ष का सम्बन्ध आचारनिष्ठ ब्राह्मणों से, तथा प्राणतत्त्व (ऋषितत्त्व) के साक्षात्कर्त्ता ऋषियों

१३९–ऋषि के मूल्याङ्कन में असमर्थ बन जाने वाले भारतीय सम्राट् का ऋषिभय से आत्यन्तिक विकम्पन—

महर्षि च्यवन के तथोक्त अन्तिम उद्बोधन सूत्र का क्या प्रभाव हुआ नृपतिश्रेष्ठ नहुष महाभाग पर ?, प्रश्न का उत्तर इस पावनगाथेतिहाससंवाद के स्मारक महात्मा भीष्म के ही मुख से सुनिए—

भीष्म उवाच—"**महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्शितः ।
सञ्चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥**"

'**ऋषिभिः सह चिन्त्यताम्**' इस उद्बोधन–वाक्य ने तो नहुष को सर्वथा ही निराशा में निमग्न कर दिया । उसने समझ लिया कि हम, हमारे मन्त्री, पुरोहित, और हमारे राष्ट्र के धर्म्मव्यवस्थापक ब्राह्मण, सब मिल कर भी जिस समस्या का निराकरण नहीं कर सके, सम्पूर्ण राज्य, किंवा सर्वस्व प्रदान करने पर भी जब हम ऋषि को सन्तुष्ट नहीं कर सके, तो ऐसी स्थिति में अब हमारे निस्तार का कोई भी तो उपाय नहीं रह जाता । इसी निराशानें नहुष को अतिशय दुःखभार से उत्पीड़ित कर दिया, एवं वे अपने पुरोहित, तथा अमात्यों के साथ भिन्नसंविग्नमानस बनते हुए दुरत्यया चिन्ता के ही सागर में निमज्जित होगए ।

१४०–नहुष के पुण्यादृष्ट से तत्र महर्षि 'गविजात' का आगमन, एवं तद्द्वारा भूत-लिप्सा से नहुष का उद्बोधन—

आगे क्या हुआ ?, प्रश्न का समाधान सुनिए आख्यानवेत्ता महात्मा भीष्म से ही । युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कथा प्रक्रान्त रखते हुए भीष्म कहने लगे कि–युधिष्ठिर ! (इसप्रकार नहुषराज दुःखकर्शित-मना बनते हुए जिस समय अमात्य, पुरोहितादि के साथ चिन्ता–निमग्न बने हुए थे, उसी समय (नहुष के ही किसी वर्त्तमान जन्मनिबन्धन, किंवा जन्मान्तरीय–निबन्धन महान् पुण्य के अनुबन्ध से) फलमूलाशनपरायण महान् तपस्वी एक वन्य महापुरुष सहसा उपस्थित हो पड़े । ये महामुनि तपस्वी वनेचर महर्षि–'**गविजात**' (परमभागधेय मातापिता से गौ के प्रसादाशीर्वाद से आविर्भूत-**गविजात**–गायसे उत्पन्न) नाम से ही प्रसिद्ध थे, (जब कि इन के वंशानुगत नाम से कोई भी परिचित न था । क्योंकि इन्होंनें अपने जीवन को अरण्यानुगता तपस्या का ही अनुगामी बना लिया था, जहाँ निवास करते हुए अहोरात्र गौसेवामें निरत रहना, अपनी स्वाध्यायतपोनिष्टा में संलग्न बने रहना, एवं कन्दफलमूलों से बुभुक्षा शान्त कर लेना, एवं भगवती भागीरथी के पुण्यसलिल से अपनी तृष्णा उपशान्त कर लेना हीं इन का समस्त जीवनेतिवृत्त था । ये ही महामहर्षि वहाँ के वन्य सत्पुरुषों में-'**गविजात**' नाम से प्रसिद्ध थे, जो घूमते फिरते नहुष के भाग्य से इस ओर भी आज आ ही तो निकले)–यथाहि—

की निर्भ्रान्ता स्वतःप्रमाणभूता अपौरुषेया प्रज्ञा से ही माना गया है । ऋषिप्रज्ञा ही धर्म्म के प्राणात्मक सूक्ष्म निर्भ्रान्त निर्द्धारण में अन्यतम प्रमाण मानी गई है, जैसाकि राजर्षि मनु के–'**एकोऽपि वेदविद्धर्म्मं-यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः**' इत्यादि वचन से स्पष्ट है, जिस वचन के रहस्यार्थ का समन्वय निबन्ध के प्रथम-प्रकरण में किया जाचुका है ।

"तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थो गविजातोऽभवन्मुनिः ॥"

तत्र उपस्थित होकर 'गविजात' महर्षि ने अपनी तपोमूला ऋषिदृष्टि से अत्र घटित–विघटित सम्पूर्ण इतिवृत्त तत्क्षण को जान लिया । और नहुष को लक्ष्य बना कर कहने हीं तो लग पड़े कि, राजन् ! मैं तुम्हें एक वैसे ही उपाय से परिचित करा दूँगा, जिससे क्षणमात्र में हीं तुम्हारा यह सम्पूर्ण सङ्कट शरदभ्रवत् विलीन हो जायगा । सावधान राजन् ! कहीं तुम 'वनेचर' (जङ्गली मानव) की भावना से ऐसा मत समझ बैठना कि, अबतक जिस समस्या का समाधान तुम, तुम्हारे पुरोहित, अमात्य, सर्वोपरि धर्म्मवित् ब्राह्मण भी न कर सके, उसका क्षणमात्र में यह वनेचर क्या समाधान कर देगा ? । कदापि तुम्हें मेरे वचनों पर मिथ्याभ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । अतएव अब अविलम्ब जागरूक बन जाओ, और महर्षि च्यवन की सन्तुष्टि के लिए मैं जो उपाय बतला रहा हूँ, सभी प्रकार की शङ्काएँ, ऊहापोह छोड़कर अविलम्ब उसी उपाय का अनुगमन करलो ! "भवतो यदहं ब्रूयां–तत्कार्य्यमविशङ्कया" ।

गविजात महर्षि के तथाविध निःशङ्क–आश्वासन से प्रभावित होते हुए नहुषराज प्रणतभाव से कातरभाव से इस महर्षि के सम्मुख अपने ये मनोभाव व्यक्त करने लग पड़े कि—भगवन् ! सचमुच आप तो महर्षि भृगु (च्यवनमहर्षि के पिता) जैसे तेजस्वी प्रतीत हो रहे हैं । भगवन् ! त्राहि माम् ! त्राहि माम् ! रक्षा कीजिए इस संकट से मेरी, और मेरी कुलपरम्पराओं की । आप ही अनुग्रह कर निश्चित कीजिए महर्षि का मूल्य !

ब्रवीतु भगवन्मूल्यं महर्षेः सदृशं भृगोः ।
परित्रायस्व मामस्मद्विषयं च कुलञ्च मे !

भगवन् ! यदि मुझे मूल्यसमतुलन उपलब्ध न हुआ, अतएव यदि मैं महर्षि च्यवन को आज सन्तुष्ट न कर सका, तो निश्चयेन महर्षि का कोप त्रैलोक्य को भस्म कर सकता है, उससे मेरा परित्राण कदापि न हो सकेगा । तपोबलादि दिव्यब्रह्मबलपरम्पराओं से सर्वथा ही वञ्चित, केवल शारीरिक बाहुबल (भूतबलात्मक क्षत्र) का स्वरूप ही कितना सा है प्रचण्ड–तेजोमय उस ब्रह्मबल के सम्मुख, जिसकी कल्पनामात्र से त्रैलोक्य भस्म–सात् हो सकता है—

"हन्याद्धि भगवान् क्रुद्धस्त्रैलोक्यमपि केवलम् ।
किं पुनर्मां तपोहीनं बाहुवीर्य्यपरायणम् ॥"

गविजातमहर्षे ! अपने मन्त्रियों, ऋत्विक् ब्राह्मणों, कुलपुरोहितों, आदि आदि के साथ आज यह नहुष सचमुच विपत्तिपरम्पराओं के अगाध समुद्र में हीं डूबा जारहा है । भगवन् ! आप ही इस गहनगभीर चिन्ता-समुद्र से सन्तरण करने वाले प्लव (नौका) बनने का अनुग्रह करें, और महर्षि च्यवन के मूल्य का निश्चय व्यक्त करें !

अगाधाम्भसि मग्नस्य सामात्यस्य स ऋत्विजः ।
प्लवो भव महर्षे ! त्वं, कुरु मूल्यविनिश्चयम् ! ॥

१४१–गविजात महर्षि के द्वारा च्यवनऋषि के मूल्याङ्कन का विनिर्णय—

गविजातमहर्षि से इसप्रकार दीनभाव से प्रार्थना व्यक्त करने पर हे युधिष्ठिर ! अपने तपःप्रभाव से अत्यन्त ही तेजस्वी बने हुए महर्षि गविजात ने नहुष को, इसके मन्त्रियों को, इसके पुरोहित, ऋत्विजों को, एवं अन्यान्य तत्र समवेत सभी को हर्षोद्रेक से समन्वित करते हुए ही जो उपाय बतलाया, वही आज मैं तुम्हारे सम्मुख व्यक्त कर रहा हूँ महर्षि गविजात की ही भाषा में–यथाहि—

भीष्म उवाच—"नहुषस्य वचः श्रुत्वा गविजातः प्रतापवान् ।
उवाच हर्षयन् सर्वानमात्यान् पार्थिवं च तम्" ॥

वह कौन सा उपाय था, जिसे एक भारतीय सम्राट् की बुद्धि अबतक नहीं जान सकी, ऐसे समर्थ सम्राट्-शासक के राज्यतन्त्र के सफल सञ्चालक योग्यतम मेधावी मन्त्रिवर नहीं जान सके, राजा के आचारधर्म्मों का यथाविधि संरक्षण करने वाले पुरोहित की प्रज्ञा जिसे न जान सकी, सर्वोपरि साम्राज्य की संस्कृतिनिष्ठा, सांस्कृतिक–धर्म्म के व्यवस्थापक विद्वान् ब्राह्मण तक जिस उपाय का अन्वेषण करने में सर्वथा असमर्थ ही प्रमाणित हो गए, और महाभाग नहुष अपने समस्त साम्राज्य के समर्पण–माध्यम से भी इस ऋषि का मूल्य-समतुलन न कर सके । वह ऐसा कौनसा अमूल्यतम–लोकोत्तर–लोकातीत–महामहनीय–मूल्यात्मक उपाय था, जिसने आज नहुष को समण्डल हर्षविभोर कर दिया ?, प्रश्न की जिज्ञासा आख्यान की पावनगाथा के वाचक आस्था–श्रद्धाशील मानवश्रेष्ठों के लिए तो अवश्य ही औत्सुक्य का कारण प्रमाणित हो रही होगी । उचित, सर्वात्मना समुचित, वर्त्तमान असांस्कृतिक–भीषण युगदृष्ट्या तो नितान्तरूपेणैव समुचित ही था कि, इस कथानक को यहीं उपरत कर दिया जाता । इसलिए यहीं उपरत कर दिया जाता कि, महामहर्षि गविजात तपस्वीने जिस उपाय-प्रदर्शन–के माध्यम से नहुष को इस घोरघोरतम सङ्कट से बचाया था, उस घोरघोर संकट का तो आज हमारी राष्ट्रीयप्रज्ञा नहुष की प्रारम्भिक भूतैषणा की भाँति (जबकि नहुष की भूतैषणा, एवं वर्त्तमान युग की भूतलिप्सा में परस्पर अहोरात्र का अन्तर ही है) सोल्लास–साभिनिवेश–सपरिग्रह-सर्वात्मना सुसंघठितरूप से अनुदित–प्रतिक्षण–पल–विपल–निमेष–सादर आमन्त्रण करते जाने का नाम हीं साम्प्रदायिकभाव-शून्या–अखण्डा–राष्ट्रीयता–मानती, और मनवाती जा रही है, जिस इत्थंभूत सर्वविनाशक आमन्त्रण ने हीं भारत की श्रीसमन्विता उस राष्ट्रलक्ष्मी का प्राणस्वरूप सर्वथा अभिभूत ही कर लिया है, जिसका दुःखपूर्ण इतिवृत्त प्रस्तुत दीपावली पर्व में यत्रतत्र व्यक्त कर दिया गया है ।

जिस उपाय से अपरिचित रहने के कारण नहुष की साम्राज्यप्रतिष्ठा के धूलिधूसरित होने का सर्वविनाशक अवसर उपस्थित हो पड़ा था, साम्राज्य को विनाशगर्त्त से बचा लेने वाले गविजात के द्वारा प्रदर्शित उसी महतोमहीयान् पुण्यतम जिस 'उपाय' के नामश्रवणमात्र से आज के हमारे उसी नहुषपरम्परा के सुसांस्कृतिक भारत जैसे राष्ट्र के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रभुसत्तासमर्थ साम्राज्य के सर्वोच्च शासक महानुभाव तत्काल ही शासन से 'त्यागपत्र' देने की धमकीमात्र देने में हीं अपने मनोराज्य में ही अपने आपको गौरवान्वित ही मान बैठने की वैसी महती भ्रान्ति ही कर बैठते हैं, जिस इस भ्रान्ति का सांस्कृतिक–तत्त्वनिष्ठा के द्वारा शीघ्र ही यदि मूलोत्पाटन न किया गया, तो निश्चयेन तदुपायश्रवणमात्र के प्रति व्यग्र हो पड़ने वाला तथाविध आवेशपूर्ण–पदप्रतिष्ठाव्यामोहनमात्रानुगत–प्रतीच्य–जड़भूतसंस्कारनिबन्धन–जाड्यभावानुगत अभि–

निवेश–दुराग्रह भारतराष्ट्र की राष्ट्रलक्ष्मी को सर्वथा ही श्रीविहीन ही कर देगा । एकमात्र इसी राष्ट्रीय–मङ्गल–कामनानुबन्ध से, एवं राष्ट्रीया आस्थाश्रद्धान्विता मङ्गलकामनोत्सुका आर्षप्रजा के अनुबन्ध से ही वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष शासनतन्त्र जैसे वैसे शासनयुग में भी–जिसमें 'तदुपाय' का मुख से निकाल लेना मात्र भी दुर्भाग्यवश आज साम्प्रदायिकता–मान लिया जा रहा है—इच्छा न रखते हुए महर्षि गविजात के पावन–मुखपङ्कज से विनिःसृत उस पुण्यतम उपाय का इस रूप से पावनसंस्मरणमात्र ही कर लिया जाता है, जिस की नैगमिकी ज्ञानविज्ञानापरिपूर्णा तात्त्विक–व्याख्या का चिरन्तन इतिवृत्त तो–'**गोपाष्टमी, और गोतत्त्व समन्वय**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में हीं द्रष्टव्या है ।

"अनर्घेया महाराज ! 'द्विजा' वर्णेषु चोत्तमाः ।
'गावश्च' पुरुषव्याघ्र ! गौमूल्यं परिकल्प्यताम् !"

"राजन् ! जिस प्रकार चारों वर्णों में वेदतत्त्ववित् रहस्यवित् 'ब्राह्मण' का कोई मूल्य नहीं आँका जासकता, तथैव तत्समतुलित '**गौमाता**' का भी हे पुरुषसिंहनहुष ! कोई मूल्याङ्कन सम्भव ही नहीं है ।"

१४२–'उपयोगितावाद' मूलक 'अर्थवाद', एवं तद्द्वारा भारतीय आचारों के प्रति बुद्धिवादियों के काल्पनिक व्यामोहन—

निश्चय ही महर्षि गविजात के उक्त तथ्यपूर्ण उपाय के प्रति अन्यों की कौन कहे, विगत तीन सहस्र–वर्षों से सत्तासापेक्षता के भूतानुगत व्यामोहन से अपनी प्रज्ञा को भूतासक्ता ही प्रमाणित करते आने वाले भारतीय विद्वान् भी शास्त्र के इत्थंभूत वचनों को–'**अर्थवाद**' मात्र मान कर विश्राम ही कर लेंगे, जिस 'अर्थवाद' का अर्थ कर रक्खा है हमारे उन सापेक्ष–विद्वानों नें यही कि,–"**उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वशाली बने हुए भूतभौतिक पदार्थों-प्राणियों–मानवों के प्रति मन्दबुद्धियों की मानसिक–श्रद्धा के संरक्षण के लिए ही शास्त्र ने तथाविध–भूतों–प्राणियों–ब्राह्मणादि मानवों का महतोमही–यान् वर्णन कर दिया है, जिस इस आलङ्कारिक [अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !!] वर्णन से आकर्षित होकर मन्दबुद्धिलोग इनकी उपयोगिता से समन्वित बने रहते हैं । गाय का दूध अत्यन्त ही उपयोगी है । एकमात्र इसी उपयोगितानुबन्ध से यह 'गौमाता' नाम से उपवर्णित कर होगई है शास्त्र में ।**"

कारणतावादमूलक यही तो वह '**उपयोगितावाद**' है, जिसने संस्कृतिस्वरूपावरक सर्वस्वघातक उस 'बुद्धि-वाद' को जन्म दे डाला है, जिसके आवेश में आकर अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से सम्बन्ध रखने वाले भार-तीय ज्ञानविज्ञान का स्वरूप ही अन्तर्म्मुख बन गया है तथाविध बुद्धिवादी सत्तासापेक्षतापाशबद्ध-स्वस्वरूपविमुग्ध-विद्वानों के तथाकथित मलीमस–काल्पनिक–अर्थवाद के निग्रह से । अपनी इसी अर्थवादभ्रान्ति से वे बुद्धि–वादी भारतीय विद्वान् भी आज भारतीय उस सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सर्वथैव पराःपरावत ही बन गए हैं, जिस संस्कृति का प्रत्येक सिद्धान्त नित्यसिद्ध ज्ञानविज्ञानभावों से ही समन्वित हो रहा है ।

१४३–क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कन का आधारभूत क्षरजगत्, एवं तद्विमोहन से भारतीय सांस्कृतिक–परम्पराओं का उत्तरोत्तर अभिभव—

क्रयविक्रयात्मक–मूल्याङ्कनकर्म्म का मूलाधार माना गया है वह भूत–भौतिक प्रपञ्च, जिसका–'**क्षरः सर्वाणि भूतानि**' रूप से उपवर्णन हुआ है । व्यक्तजगत् में प्रतिष्ठित व्यक्त-भूतभौतिक पदार्थ ही क्रय–

विक्रयात्मक मूलाङ्कनों के मापदण्ड बना करते हैं। **प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड**, इन तीनों की समष्टि ही क्रमशः **द्यौ-अन्तरिक्ष-पृथिवी**-नामक व्यक्त त्रैलोक्य है, जिन इन तीनों त्रैलोक्य-क्षर-व्यक्त-भावों से ही मानव की प्रकृतिरूपा **बुद्धि-मनः-शरीर**-त्रयीलक्षणा व्यक्ता मूर्त्ति का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसाकि प्रथमप्रकरण के उपक्रम-परिच्छेदों में हीं विस्तार से बतलाया जा चुका है। त्रैलोक्यातीत महद्ब्रह्ममूर्त्ति परमेष्ठी प्रजापति ही मानव का वह '**आत्मभाव**' है, जो व्यक्त क्षर-से अतीत रहता हुआ लोकातीत है, भूतानुगत रहता हुआ भी भूतसीमा से अतीत है, जिसका—'**भूतभृत्-न च भूतस्थः-ममात्मा भूतभावनः**' इत्यादि वचन से स्पष्टी करण हुआ।

१४४-प्रकृतिसिद्ध ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावानुगत चातुर्वर्ण्य की विश्वपदार्थव्यापकता, एवं तन्मूलक भारतीय सांस्कृतिक-उपाय—

उस आत्मभाव का ही नाम '**ब्रह्म**' है, तद्गर्भीभूत सूर्य्य का ही नाम बुद्धि है, यही '**क्षत्र**' है, तद्गर्भीभूत चन्द्रमा का नाम हीं मन है, यही '**विट्**' है, एवं तदनुगता पृथिवी ही शरीर है, यही '**पूषन्**' है। इन्हीं चारों ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पूष्ण-भावों से क्रमशः त्रैलोक्य के जड़-चेतनात्मक पदार्थमात्र में **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**-इन चारों वर्णभावों का समन्वय हो रहा है, जिस इस सर्वव्यापक-त्रैलोक्यव्यापक-पदार्थमात्रव्यापक-प्रकृतिसिद्ध-नित्य-चातुर्वर्ण्य के आधार पर ही भारतीय ऋषिमानव ने प्रकृति के इस सुसूक्ष्म वर्णतत्त्व के आधार पर ही भारतीय मानव में प्रकृतिमूला वह व्यवस्था व्यवस्थित की है, जिसे ही '**वर्णव्यवस्था**' कहा गया है, जिसके इस विश्वप्रकृत्यनुबन्धी रहस्यात्मक व्यापक स्वरूप को समझा ही नहीं है विगत तीन सहस्रवर्षावधि के व्यक्त-भूतवादी मानव ने। इस तत्त्व से पराङ्मुख हो जाने के कारण ही अपनी शास्त्रीया मान्यतामात्र (आस्था नहीं) के संरक्षण के लिए इसने उपयोगितावादात्मक-बुद्धिवादात्मक उस काल्पनिक अर्थवाद का ही आविष्कार कर डाला है, जिससे भारतीय संस्कृति का, तदनुगता ज्ञानविज्ञानपरम्पराओं की वास्तविकता का हनन ही हुआ है।

इसी व्यामोहन में पड़ कर आज के शास्त्रभक्त भी '**ब्राह्मण**' को ब्राह्मण कहने सुनने में अपनी बुद्धिमत्ता ? (किंवा बुद्धिव्यामोहन) की हानि समझते हुए यह व्याख्या करने लग पड़ते हैं कि-**जो ज्ञान से काम लेता है, वही ब्राह्मण है**। इसी भ्रान्ति से अपने लोकबुद्धिवाद के दम्भ में आकर वे वर्णमर्य्यादया ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मणों से चरणस्पर्श कराने में अपने आपको गौरवान्वित मानते हुए लज्जा से यत्किञ्चित् भी तो अवनतशिरस्क नहीं बन जाते। ऐसे ही बुद्धिवादी गाय के दूध की उपयोगिता का समर्थन करते हुए भी इसके उस दिव्य पारमेष्ठ्य प्राणस्वरूप की तो कल्पना भी नही कर सकते, जिसे न समझने वाला सर्वथा मूर्ख भी एक आस्थाश्रद्धाशील इसे केवल उपयोगी 'पशु' ही नहीं मानता। अपितु इसके दर्शनमात्र से आत्मविभोर हो जाता है स्वजननीदर्शनवत्। ऐसी सहज निर्म्मल श्रद्धा से शून्य बुद्धिवादी अपने काल्पनिक बुद्धिवादों के साथ अहोरात्र शिरोविस्फोटन कर के भी तो वह आत्मानन्द उपलब्ध नहीं कर सकता, जो आनन्दमाधुरी एक अपठित मादृश ग्रामीण को अपनी अबुद्धिदशा में सहज ही उपलब्ध होती रहती है-'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**'। जिसप्रकार त्रैलोक्यातीत पारमेष्ठ्य महानात्मा से जन्मना समावृत रहता हुआ ब्राह्मण लोकानुबन्धी भौतिक-क्रय-विक्रयात्मक मूल्याङ्कनों की सीमा से बहिर्भूत है, तथैव उसी पारमेष्ठ्य-

वैष्णव-सौम्य-गौप्राण से, आत्मा से अभिन्न इस लोकप्रतिष्ठाप्राण से अन्तर्य्यामसम्बन्धेन समावृत गौपशु भी अपने इसी आभ्यन्तर लोकातीत आत्मभाव से व्यक्तचरानुबन्धी मूल्याङ्कन की सीमाओं से सर्वथा ही असंस्पृष्ट है। मानवीय वर्णों में जो स्थान ब्राह्मण का है, पशव्य वर्णों में वही स्थान गौ है। अतएव लोकातीत आत्मानुबन्ध से ब्राह्मण जैसे अनर्घेय-(अमूल्य) है, तथैव उसी लोकातीत पारमेष्ठ्य–आत्मप्राणानुबन्ध से गौ भी अनर्घेया ही है। अमूल्य का अमूल्य से ही समतुलन सम्भव है। अमूल्य ब्राह्मण का यदि कोई मूल्याङ्कन हो सकता है, तो वैसा अमूल्यधन एकमात्र यह दिव्या गौमाता ही है, जो देवघन सौरमण्डल को भी अपने महिमामण्डल के गर्भ में बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित रखने वाले सोममय–भृग्वङ्गिरोमय–परमेष्ठी से सम्बन्ध रखती हुई अपने इस आत्मप्राणनिबन्धन दिव्यस्वरूप से देवताओं के (सौरदेवप्राणात्मक सौरमण्डल के) भी शिरोभाग में प्रतिष्ठा मानी गई है *। अवश्य ही गौमाता भी ब्राह्मणवत् ही महद्भूत है। **'ब्राह्मणं हि महद्भूतम्'** (म० अनु० पर्व–६३ वाँ अध्याय–२१ वाँ श्लोक) के अनुसार महद्भूतात्मक ही इस गौ का महत्त्व अक्षुण्ण है, जिन इन दोनों विश्वप्रतिष्ठात्मक महद्भूतों के विकम्पन से ही धर्म्मविप्लव हो जाया करता है, एवं तन्निरोध के लिए सगुणेश्वर को ही अवतार धारण करना पड़ता है, जिनके इन सगुणावतारों का एकमात्र प्रधान उद्देश्य माना गया है–**'गो–ब्राह्मण–हिताय च'**। क्योंकि इन दोनों के सुप्रतिष्ठित होते ही विश्व स्वस्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हो जाता है, इत्यलमतिविस्तरेण।

१४५–प्रकृतिसिद्ध व्रजधामात्मक 'गोलोक', एवं उस की प्राणरूपता—

त्रैलोक्य से ऊर्ध्वस्थित पारमेष्ठ्य सोमलोक ही सामवेद का वह–**'गोसव'** लोक है, जिसका रूपान्तर ही इतिहास-पुराणों में-**'गोलोक'** ÷ नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जो कि-**'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'** (यजुःसं०१।२५) इत्यादिरूप से पारमेष्ठ्य विष्णु का व्रजधामात्मक **'गोधाम'** कहलाया है, जिसके प्रातिनिध्य से ही परमपावन भारतराष्ट्र भी गोलोकनाथ विष्णु के सगुणावतार भगवान् वासुदेवकृष्ण के सुप्रसिद्ध व्रजधाम से समलङ्कृत हुआ है, जिस इस लोकोत्तर, तथा लोकात्मक रहस्य का सम्पूर्ण विश्व के बुद्धिवादी समवेत होकर भी तो समन्वय नहीं कर सकते।

१४६–प्राणगौस्वरूप के माध्यम से गौमाता का यशोवर्णन—

अहो ! महतीयं खल्वनर्थपरम्परा-भौतिकोपयोगितावादात्मकस्य–काल्पनिक–अर्थवादानुगत–बुद्धिवादस्य, जिसके प्रति अनुधावन करने वाले हमारे इन बुद्धिवादी शास्त्रभक्त विद्वानोंनें हीं तो राष्ट्र की तथ्यपूर्ण

---

* देवानामुपरिष्टाच्च गावः प्रतिवसन्ति वै।
दत्त्वा चैतास्तारयते यान्ति स्वर्गं मनीषिणः॥
—म० अनु० पर्व–८१ अध्याय-४ श्लोक

÷–त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यति।
मत्प्रसादाच्च विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति॥
—म० अनु० प० ८३ अ०। ३७ वाँ श्लोक—

विज्ञानमूला सांस्कृतिक-परम्पराओं को तमसा अभिभूत कर लिया है, जिस अभिभव से ही आज हम गविजात महर्षि के तथोक्त उपायप्रदर्शन के महत्त्व को भी तो अर्थवादपरक ही मानने की महती भ्रान्ति करने लग पड़े हैं, जबकि तदतिरिक्त भी महात्मा भीष्म ने आगे चलकर अनेक अध्यायों में इस गौमहिमा का यशोगान करते हुए भारतराष्ट्र को धन्य-कृतकृत्य बनाया है। निबन्धविस्तारभिया अत्र अधिक विस्तार में न जाकर प्रकृत में वैसे कतिपय वचनमात्र उद्धृत कर देने का लोभसंवरण नहीं हो रहा है हम से। अतएव अपने शुचिभाव के लिए ही गाथाङ्गभूत इन कतिपय माङ्गलिक वचनों का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है—

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ॥
वृद्धिमाकांक्षता नित्यं गावः कार्य्या प्रदक्षिणाः ॥१॥
अचरेभ्यश्च भूतेभ्यश्चराः श्रेष्ठाः, सदा नराः ॥
ब्राह्मणाश्च ततः श्रेष्ठास्तेषु यज्ञाः प्रतिष्ठिताः ॥२॥
यज्ञैरवाप्यते सोमः, स च गोषु प्रतिष्ठितः ॥
ततो देवाः प्रमोदन्ते पूर्वं वृत्तिस्ततः प्रजाः ॥३॥
लोकज्येष्ठा-लोकवृत्तिप्रवृत्ता-रुद्रोपेताः सोमविष्यंदभूताः ॥
सौम्याः पुण्याः-कामदाः-प्राणदाश्च गा वै दत्त्वा सर्वकामप्रदः स्यात् ॥४॥
गावः प्रतिष्ठा भूतानां, गावः स्वस्त्ययनं महत् ॥
गावो भूतं च भव्यं च गावः पुष्टिः सनातनी ॥५॥
गावो लक्ष्म्यास्तथामूलं-गोषु दत्तं न नश्यति ॥
नाकीर्त्तयित्वा गाः स्वप्यात्-तासां संस्मृत्य चोत्पतेत् ।
सायं प्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात् ॥६॥
"गवां मूत्रपुरीषस्य नोद्विजेत कथञ्चन" *

१४७-महालक्ष्मी का गोमण्डल में आगमन, एवं गौमाताओं की महालक्ष्मी से प्रश्नात्मिका जिज्ञासा—

प्रसङ्ग उपस्थित हो पड़ा उक्त सातवें श्लोक के पावनसंस्मरण से, जिसके सम्बन्ध में भी दो शब्द निवेदन कर देना अनिवार्य्य बन गया है हमारी चञ्चलप्रज्ञा के लिए ÷। एवं हि श्रूयते—आख्यानविदैः पारो—

* भाग्यहीन भारतराष्ट्र के नवसभ्यतावादी भूतवादियों नें गोमूत्र—तथा गोबर को 'गन्दगी' फैलाने वाला मानने की महती भ्रान्ति कर प्रतीच्य जगत् से पुरस्कार ग्रहण करके ही मानो आज अपने बम्बई—देहली—आदि सुसभ्य नगरों में गौमाता के संरक्षण को विधानबल से अवरुद्ध कर दिया है। इन सुसभ्य नगरों में ओर ओर सभी मलीमस—अकाण्ड—ताण्डव तो सभ्यता की सीमा में अन्तर्भुक्त बनते हुए संग्राह्य हैं। किन्तु गोमूत्र—गोमय—इन महानुभावों के लिए त्याज्य बन गया है। इससे बड़ी भाग्यहीनता भारतराष्ट्र की और क्या होगी ?।

÷ द्विजातिभावादुपपन्नचापलः (कालिदासः)

वर्य्यविदैर्म्महर्षिकल्पैर्यत्-"एकबार अपने सम्पूर्ण प्रसाधनों से सुसज्जित होकर महालक्ष्मी गोमण्डल में प्रणत-भाव से उपस्थित होगईं । गौमाताएँ महालक्ष्मी के इस रूपसौन्दर्य्य, तथा गुणसौन्दर्य्य को देखकर विस्मय-विमुग्ध बन गईं । और कहनें लगीं कि, हे लक्ष्मी देवी ! आप कौन हैं ?, कहाँ से आपने ऐसा अद्भुत रूप-गुण-सौन्दर्य्य प्राप्त किया ? । हम सब आपके इस लोकोत्तर रूप को, तथा सम्पत्तिमहिमा को देखकर विस्मित हैं । हम यह जानना चाहतीं हैं कि, आप वास्तव में क्या तो हैं, एवं यहाँ से अब आप कुत्र गमन करेंगीं ? । हे वरवर्णिनि ! [किसी महान् वर से इसप्रकार की कान्ति प्राप्त करने वाली !] यह सब कुछ हमें तत्त्वतः बतलावें !

१४८-महालक्ष्मी के द्वारा गौमाताओं का समाधान, एवं गौमाताओं की लक्ष्मी के प्रति अवहेलना—

गौमाताओं के इसप्रकार कौतूहलपूर्ण प्रश्न करने पर महालक्ष्मी ने कहना आरम्भ किया कि, मैं **लोककान्ता** [लोकप्रिया] हूँ, नाम मेरा 'श्री' है । अभ्युदय हो आप का हे गौमाताओ ! यही मेरा संक्षिप्त स्वरूप-परिचय है । मैंने देवद्वेषी दैत्यों को सदा सदा के लिए छोड़ दिया है । और मुझे से समन्वित देवदेवता हर्षनिमग्न हैं । **इन्द्र-विवस्वान्-सोम-विष्णु-वरुण-अग्नि-ऋषि**-तथा अन्यान्य सभी **गणदेवदेवता** मेरे ही कारण आज मोदमान हैं । और सुनो गौमाताओ ! जिनमें मेरा निवास नहीं होता, वे कालान्तर में सभी ओर से विनष्ट हो जाते हैं । "पार्थिव **शरीरमूलक अर्थ, चान्द्र मनोमूलक काम, तथा सौरी बुद्धि से समन्वित धर्म्म**" मुझ लक्ष्मी से समन्वित होकर ही सुखी-शान्त हैं । यह है मेरा सर्वव्यापक (त्रैलोक्य-व्यापक) प्रभाव गौमाताओ ! मेरी यह बड़ी ही कामना है कि, मैं आप में भी निवास करूँ । मेरी इस प्रार्थना से आप भी श्रीजुष्टा (श्री से समन्विता) बन जाने का अनुग्रह करें !

गौमाताओंनें लक्ष्मी के इस आकर्षक आमन्त्रण के प्रति [मानो अपने त्रैलोक्यातीत-लोकोत्तर-पारमेष्ठ्य-भाव के समतुलन में उपेक्षणीय ही मानते हुए] यही कह डाला कि—हे देवि ! आप स्वस्वरूपत: अस्थिर हैं, चञ्चल हैं, एवं **सर्वसामान्यों के साथ आपका समागम होता रहता है** । आपके इन्हीं लौकिक-अनुबन्धों के कारण हमें आपकी कोई कामना नहीं है । कल्याण हो आपका । जहाँ आप स्वच्छन्दता से रमण कर सकें, वहीं पधार जायँ । हमें अपने स्वरूप के लिए जो कुछ अपेक्षित है, वह सभी हममें पहिले से ही विद्यमान है । अतवए हमें आपसे कोई प्रयोजन नहीं है । यथेष्टं गम्यताम् ।

१४९-गौमाताओं से उपेक्षिता लक्ष्मी का आक्रोशात्मक अभिनिवेश, एवं तत्प्रति गौमाताओं की आत्यन्तिक उपेक्षा—

गौमाताओं की तथाविधा उपेक्षिता वाणी सुनकर लक्ष्मीदेवी पुन: कहने लगी कि, हे गौमाताओ ! क्या कारण है कि, आप मेरा सहयोग नहीं चाहती ? । क्यों नहीं आप मुझ जैसी विष्णुकान्ता महासती का ग्रहण करतीं ? । सचमुच आज मैनें इस लोकवाद [लोककिंवदन्ती] का मर्म्म समझा कि, अपनी इच्छा से यदि कोई विशिष्ट-महान् भी किसी के यहाँ चला जाता है, तो उसे एकबार तो अवमानित-तिरस्कृत होना ही पड़ता है * । गौमाताओ ! मानवश्रेष्ठ अत्यन्त प्रचण्ड तपश्चर्य्या के अनन्तर ही मुझे प्राप्त करने में

---

*-सत्यं च लोकवादोऽयं लोके चरति सुव्रताः ।
स्वयं प्राप्ते परिभवो भवतीति विनिश्चयः ॥

समर्थ होते हैं। यही स्थिति देव–दानव–गन्धर्व–पिशाच–उरग-राक्षसादि अन्य योनियों की है। आप में लोकोत्तर प्रभाव है। उसी से आकर्षित होकर स्वयं अपनी इच्छा से मैं आपके समीप उपस्थित हुई हूँ। आप अवश्य ही मुझे स्वीकार करें!। क्योंकि इस त्रैलोक्य में चराचर समस्त वर्ग में कोई भी वैसा नहीं हैं, जो मेरी उपेक्षा कर स्वस्वरूप से रह सके।

महालक्ष्मी के तथाविध स्वरूपवर्णन–आह्वानादि से यत्किञ्चित् भी प्रभावित न होनें वालीं गौमाताओंनें मन्दहासपूर्वक ही मानो यह प्रत्युत्तर उपक्रान्त किया कि—हे देवि! हम कदापि आपका अपमान नहीं कर रहीं। नापि हमें आपका तिरस्कार ही अभीष्ट है। आप में सभी गुण हैं, यह भी मान लेतीं हैं हम। किन्तु जिस अस्थिरता, एवं चञ्चलता से हमारे स्वरूप का मौलिक विरोध है, उस अस्थिरता, तथा चञ्चलता की सगुणप्रतिमाभूता आपका समागम तो हम कदापि स्वरूपानुरूप नहीं मानतीं, नहीं मान सकतीं। अब और अधिक महिमाविस्तार–बखान की अपेक्षा नहीं है। बहुत होलिया। कृपा कर अब आप वहीं पधार जायँ!, जहाँ आपका अनुकूलता से स्वागत–आतिथ्य–होता रहता है।

१५०–नितान्तोपेक्षिता लक्ष्मी की गौमाताओं के प्रति शरणागति, एवं गौकृपा से लक्ष्मी का गोमय-गोमूत्र में अन्तर्विलयन—

'**बहुना च किमुक्तेन गम्यतां यत्र वाञ्छसि**' इस अन्तिम–रूक्ष–सैद्धान्तिक प्रत्युत्तर से लक्ष्मीदेवी का सम्पूर्ण ही स्वस्वरूपानुगत महत्त्व मानो विगलित ही होगया। आज प्रथम बार इसी विश्व में यह अनुभव प्राप्त करलेना पड़ा इन्हें कि, मेरी सर्वथा उपेक्षा करने वाले भी इसी भूतल पर विद्यमान हैं। इसी उद्बोधन-सूत्र से अपने आपको सर्वथा ही प्रणतभाव में, दीनभाव में परिणत कर लेना पड़ा महालक्ष्मी को गौमाताओ के सम्मुख। एवं शरणागतिरूप इसी अन्वर्थ–साधन को अग्रणी बना कर अत्यन्त प्रणतभाव से महालक्ष्मी प्रार्थना ही करने लगीं गौमाताओं से कि—हे गौमाताओ! हे सर्वलोकाराध्या गौमाताओ! यदि आपनें इस–प्रकार मेरा परित्याग कर दिया, तो मैं सम्पूर्ण त्रैलोक्य में सभी के द्वारा अवमानित हो जाऊँगी। एकमात्र आपकी उपेक्षा से सम्पूर्ण त्रैलौक्य ही मेरी उपेक्षा करने लग पड़ेगा। अतएव आप मुझ पर अनुग्रह कीजिए! '**प्रसादः क्रियतां मम**'। हे गौमाताओ! आप तो स्वयं अपने ही रूप से महाभाग्यवतीं हैं। [अतएव अवश्य ही आपको मेरी कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु मेरा अत्यन्त ही अहित है आप से पृथक रहने में]। हे गौमाताओ! आप तो सम्पूर्ण त्रैलोक्य की शरण्या हैं–[शरणस्थलीं--आश्रयस्थाना हैं]। यही सोचकर तो मैं आपकी शरण में आई हूँ। सर्वथा निन्दारहिता--अपवादशून्या मुझे आप अपनी शरण में लेकर मेरी रक्षा कीजिए!। [आपकी शरणागति से ही मैं लोकवाद से बची रहती हुई लोक में अप–वादशून्या--अनिन्दिता कहला सकूँगी]। सदा सर्वदा ही त्रैलोक्य के लिए शिवा शान्तिकारीं प्रमाणित होतीं रहनें वालीं हे गौमाताओ! आप भले ही अपने किसी उत्तम शरीराङ्ग में मुझे स्थान प्रदान न करें। अपितु मुझे तो अपना कोई वैसा अवरश्रेणि का ही अङ्ग बतलादें, उसमें निवास करके ही मैं अपने आपको अनिन्दिता बना लूँगी। यथाहि—

श्रीरुवाच—"**अवज्ञाता भविष्यामि सर्वलोकस्य मानदाः।**
प्रत्याख्यानेन युष्माकं प्रसादः क्रियतां मम॥

महाभागा भवन्त्यो वै शरण्याः, शरणागतां–
परित्रायन्तु मां नित्यं भजमानामनिन्दिताम् ॥
माननामहमिच्छामि भवत्यः सततं शिवाः ।
अप्येकाङ्गेष्वधो वस्तुमिच्छामि च कुत्सिते ॥" ।
किन्तु न वोऽस्ति किञ्चिदङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः ।
पुण्याः पवित्रा सुभगाः–ममादेशं प्रयच्छथ ॥

अर्थात्--मैनें आपके सर्वाङ्गशरीर का सर्वात्मना अवलोकन कर लिया । किन्तु मुझे तो आपके अङ्गों में कोई सा भी अङ्ग ऐसा उपलब्ध नहीं हुआ, जो पुण्य--पवित्र–महाभाग से वञ्चित हो । अतएव अब तो यह आप ही के कृपापूर्ण आदेश पर अवलम्बित है कि, आप स्वयं अपनी दृष्टि से जिस अङ्ग को अवराङ्ग मानतीं हैं, उसी में निवास करने का मुझे आदेश प्रदान कर दीजिए ! –**'वसेयं यत्र वो देहे, तन्मे व्याख्यातुमर्हथ'** ।

जब इसप्रकार अत्यन्त दीनभाव से महालक्ष्मी गौमाताओं की शरण में ही आगई, तो करुणवत्सला गौमाताएँ संयम न रख सकीं । अपितु सब ने परस्पर मन्त्रणा कर सम्मिलितरूप से ही मूकभाव से ही यह आश्वासन प्रदान करने का अनुग्रह कर डाला कि, हे यशस्विनी लक्ष्मीदेवी ! हम अवश्य ही आपको आश्रय–प्रदान करने में समवेत हैं । हे शुभे ! आप हमारे शकृत्, तथा मूत्र में हीं [गोमय, तथा गोमूत्र में ही] आज से निवास कीजिए !, जो हमारी दृष्टि में भी अत्यन्त ही पवित्र द्रव्य प्रमाणित है--**'शकृन्मूत्रे निवस त्वं, पुण्यमेतद्धि नः शुभे !'** । इधर गौमाताओं के पावन–मुखमुख से **'शकृन्मूत्रे निवस त्वम्'** वाक्य निकला ही था कि, महालक्ष्मी तत्क्षण ही गौमाताओं के देखते ही देखते इनके शकृन्मूत्र जैसे धन्यतम--यशस्यतम-- उस पुण्यतम द्रव्य में अन्तर्लीन हीं होगईं, [जिसकी पुण्यतमा कृतकृत्यता से सभी आस्थाश्रद्धान्वित आत्म--निष्ठ मानव तो सुपरिचित ही हैं] । और यों—

श्रीरुवाच— दिष्ट्या प्रसादो युष्माभिः कृतो मेऽनुग्रहात्मकः ।
एवं भवतु भद्रं वः पूजितास्मि सुखप्रदाः ! ॥

भीष्म उवाच–एवं कृत्वा तु समयं श्रीर्गोभिः सह भारत ! ।
पश्यन्तीनां ततस्तासां तत्रैवान्तरधीयत ॥
एवं गोशकृतः पुत्र ! माहात्म्यं ते तु वर्णितम् ।
माहात्म्यं च गवां भूयः श्रुयतां गदतो मम ॥

महाभारते अनुशासनपर्वणि–'श्री–गोसंवादो'नाम द्व्यशीतितमोऽध्यायः (८२ वाँ अध्याय)

१५१–गौमाहात्म्यवर्णनात्मक–महाभारतीय–सन्दर्भ से संगृहीत पावन संस्मरण—

गोवर्द्धन-पूजनमहोत्सव का अर्थ है **इन्द्रपूजनमहोत्सव**, इसे ही विशेष दृष्टिकोण से [लोक–रक्षात्मिका गौमाता के दृष्टिकोण से] माना गया है--**मार्गपालीमहोत्सव**, जिसमें इन्द्रपूजनानुबन्धी गोपूजन ही विहित है। प्रत्यक्ष में इन्द्र का पूजन है, वस्तुगत्या उस गौपूजन का ही प्राधान्य है, जिस गौमाता का स्वयं इन्द्र ने पूजन किया है। उक्त अध्याय के आगे के ८३ वें अध्याय में हीं--'पितामह **ब्रह्मा**, तथा स्वर्गाध्यक्ष **इन्द्र**, के संवादरूप से इसी तथ्य का महता समारम्भेण यशोगान किया है महात्मा भीष्म ने, जिसका केवल यह एक वचन ही पर्य्याप्त होगा तथोक्त तथ्य के समन्वय के लिए कि—

भीष्म उवाच—एतच्छ्रुत्वा सहस्राक्षः पूजयामास नित्यदा।
गाश्चक्रे बहुमानञ्च तासु नित्यं युधिष्ठिर ! ॥
न किञ्चिद्दुर्लभं लोके गवां भक्तस्य भारत ! ॥
—म० अनु० ८३ अध्याय

इन्द्र की बात भी उस समय शिथिल ही पड़ जाती है, जबकि हम सगुणेश्वर--अव्ययेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को स्वयं ही गोचारणकर्म्म में न केवल निरत ही सुनते हैं, अपितु जिनका स्वयं प्रणतभाव से गौमाताओं का पूजनार्चन करते रहना शास्त्रों में अनेकधा उपवर्णित है। इसी गौ के सम्बन्ध से जो नन्दनन्दन भगवान् **गोविन्द, गोपाल**, आदि विश्वविश्रुता अभिधाओं से प्रसिद्ध हुए हैं। उसी सर्वेश्वर–गोविन्द भगवान् की, इस पारमेष्ठ्य विष्णु की इनसे अभिन्ना वे ही गौमाताएँ आज के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भारत के भारतीय, हाँ मूलतः भारतीय ही शासकों के द्वारा--[जिनका उदरपोषण गोभक्त भारतीय हिन्दूओं के द्वारा ही प्रक्रान्त है] न केवल उपेक्षित ही बनीं हुईं हैं, अपितु इनका जनतन्त्रीय रक्षात्मक प्रश्न भी **'साम्प्रदायिकता'** के काल्पनिक लाञ्छन से बलपूर्वक उपशान्त कर दिया जाता है। और ऐसे ही इस शासन को उपाधि दी जारही है—'रामराज्य' की, इति नु महतीयं विडम्बना भारतभाग्यलक्ष्म्याः। जिस गोमय–गोमूत्र के अमृतोपम पान के बिना भारतीय ब्राह्मण का जन्म--प्रकृति-सिद्ध द्विजातित्व ही व्यक्त नहीं हो सकता, दूसरे शब्दों में राष्ट्र की लोकसंस्कृति, तथा लोकसभ्यता के मूलकोशात्मक जिस वेदशास्त्र का स्वाध्यायाधिकार ही बिना गोमूत्र–गोमय के पान के उपलब्ध नहीं हो सकता, अधिकारसमर्पणरूप यज्ञोपवीत जैसे महान् संस्कार की मूलप्रतिष्ठा बने रहने वाले ये गौद्रव्य ही आज श्रीविहीन–मन्दभागी–स्वतन्त्रावादी की दृष्टि में 'गन्दगी' फैलाने वाले प्रमाणित हो रहे हैं अपने आत्मनिष्ठावञ्चित-श्रद्धा-आस्थाशून्य जडभूतनिबन्धन बुद्धिवादात्मक व्यामोहन से। अतएव एकमात्र इसी भ्रान्ति से उस भारतीय नागरिक को गौसेवा से विधानपूर्वक वञ्चित किया जारहा है, जिसके सम्पूर्ण धार्म्मिक आचार, सम्पूर्ण सांस्कृतिक आयोजन एकमात्र गोवंश पर ही अवलम्बित हैं। कृतज्ञ है यह भारतीय आर्त्त ब्राह्मण उत्तरप्रान्त के उस शासन के प्रति, जिसने गोवंश के इस राष्ट्रीय स्वरूप को समझने का अनुग्रह कर उस घोरघोरतम अभिशाप से अपने प्रान्त को उन्मुक्त करने का महान् पुण्यार्ज्जन किया है, जिस अभिशाप से गोवंशक्षय के साथ साथ ही अनुदिन राष्ट्रीया श्री राष्ट्र से पराङ्मुख ही बनती जारही है, जिसका निवास पूर्वाख्यानानुसार गोवंश में ही माना गया है। हाँ, तो इस प्रासङ्गिक आवेदनान्तर पुनः उन कतिपय पावन पद्यों की ओर ही श्रद्धाशील जनतन्त्र का ध्यान आकर्षित किया जारहा है,–जिनके द्वारा हमारा एतद्विषयक श्रद्धान पुष्पित--पल्लवित ही होता आरहा है सनातन--परम्परा के अनुग्रह से—

भीष्म उवाच——गाश्च संकीर्त्तयेन्नित्यं, नावमन्येत तास्तथा ॥७॥
अनिष्टं स्वप्नमालक्ष्य-गां नरः सम्प्रकीर्त्तयेत् ॥
गोमयेन सदा स्नायात्, करीषे चापि संवसेत् ॥८॥
श्लेष्म-मूत्र-पुरीषाणि-प्रतिघातं च वर्जयेत् ॥
'गा' वै पश्याम्यहं नित्यं, गावः-पश्यन्तु मां सदा ॥
गावोऽस्माकं, वयं तासां, यतो गावस्ततो वयम् ॥९॥

वसिष्ठ उवाच— घृतक्षीरप्रदा गावो घृतयोन्यो घृतोद्भवाः (परमेष्ठ्युद्भवाः) ॥
घृतनद्यो घृतावर्त्तास्ता मे सन्तु सदा गृहे ॥१०॥
गावो ममाग्रतो नित्यं, गावः पृष्ठत एव च ॥
गावो मे सर्वतश्चैव गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥११॥
नातः पुण्यतरं दानं नातः पुण्यतरं फलम् ॥
नातो विशिष्टं लोकेषु भूतं भवितुमर्हति ॥१२॥
यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥
तां धेनु शिरसा वन्दे ! भूत-भव्यस्य मातरम् ॥१३॥

व्यास उवाच——गावः प्रतिष्ठा भूतानां तथा गावः परायणम् ॥
गावः पुण्याः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा ॥१४॥
गावस्तेजो महद्दिव्यं गवां दानं प्रशस्यते ॥
ये चैताः सम्प्रयच्छन्ति साधवो वीतमत्सराः ॥१५॥
ते वै सुकृतिनः प्रोक्ताः सर्वदानप्रदाश्च ते ॥
गवां लोकं (पारमेष्ठ्यं) तथा पुण्यमाप्नुवन्ति च तेऽनघ! ॥१६॥
एवमेता महाभागा यज्ञियाः सर्वकामदाः ॥
'रोहिण्य' (लक्ष्म्यः) इति जानीहि नैताभ्यो विद्यते परम् ॥१७॥

ब्रह्मोवाच————त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्निवत्स्यसि ॥
मत्प्रसादाच्च(स्वयम्भुप्रसादाच्च) विख्यातो गोलोकः सम्भविष्यति ॥१८॥
मनसा चिन्तिता भोगास्त्वया वै दिव्यमानुषाः ॥
यच्च स्वर्गे सुखं देवि ! तत्ते सम्पत्स्यते शुभे ! ॥१९॥

सर्वान्ते च—

भीष्म उवाच—-एतत्ते सर्गमाख्यातं पावनं च महाद्युते ! ॥
पवित्रं परमं चापि गवां माहात्म्यमुत्तमम् ॥२०॥
कीर्त्तितं पुरुषव्याघ्र ! सर्वपापविमोचनम् ॥
"य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥२१॥"*
हव्य–कव्येषु यज्ञेषु पितृकार्य्येषु चैव ह ॥
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄँस्तस्योपतिष्ठते ॥२२॥
गोषु भक्तश्च लभते, यद्यदिच्छति मानवः ॥
स्त्रियोऽपि भक्ता या गोषु ताश्च काममवाप्नुयुः ॥२३॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रं, कन्यार्थी तामवाप्नुयात् ॥
धनार्थी लभते वित्तं, धर्म्मार्थी धर्म्ममाप्नुयात् ॥२४॥
विद्यार्थी चाप्नुयाद्विद्यां, सुखार्थी प्राप्नुयात् सुखम् ॥
न किञ्चिद्दुर्लभं चैव गवां भक्तस्य भारत ! ॥२५॥

महाभारत-अनुशासनपर्व-५१ वें अध्याय से–८३ वें अध्यायपर्य्यन्त के ३३ तैंतीस अध्यायात्मक-गोमाहात्म्यवर्णनात्मक महासन्दर्भ से संगृहीत पावन–संस्मरण–

---

* जो पारमेष्ठ्य आत्मभावात्मक महद्ब्रह्मलक्षण सोम गौमाता की मूलप्रतिष्ठा है, वही सौम्य महद्-ब्रह्म ब्राह्मण की प्राकृतिक प्रतिष्ठा है। अतएव व्यक्त लोकशासक कदापि ब्राह्मण का शासक नहीं बन सकता। अपितु ब्राह्मण तो अपने सौम्य महद्ब्रह्म से ही अनुशासित है। लोकभाषानुसार पारमेष्ठ्य महत्–सोम ही ब्राह्मणों का राजा-शास्ता है, जैसाकि—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुःसंहिता) इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है। तात्पर्य्य निवेदन का अत्र यही है कि, जो आत्मप्रतिष्ठा गौ की है, वही ब्राह्मण की है। अतएव यदि श्रद्धापूर्वक सौम्य ब्राह्मण के सम्मुख इस सौम्या गौमाता का माहात्म्य उच्चरित होता है श्रद्धालु मानवों के द्वारा, तो निश्चयेन इस 'गोमाहात्म्य'–श्रवण से ब्राह्मण का प्रतिष्ठा-प्राणात्मक गौप्राण भी अत्यन्त ही प्रसादगुणान्वित हो जाता है। और ब्राह्मण का यह आत्मप्रसाद भी तत्प्रति गौमाहात्म्य के उपवर्णयिता श्रद्धालु के दुरितक्षय का परम्परया निमित्त बन जाता है। इसी सुसूक्ष्म प्राण–प्रसाद–धर्म्म को लक्ष्य बना कर ही महात्मा भीष्म ने कहा है कि—

"य इदं कथयेन्नित्यं ब्राह्मणेभ्यः समाहितः।
सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄँस्तस्योपतिष्ठते ॥"

कब ऐसे अवसर आते हैं, जबकि ब्राह्मण गृहस्थियों के यहाँ अनुग्रह किया करते हैं?, प्रश्न का उत्तर है—"हव्यकव्येषु यज्ञेषु पितृकार्य्येषु चैव हि"। श्रौत–स्मार्त्त-यज्ञकर्म्मों के, पार्वण-नान्दीश्राद्ध–एकोद्दिष्टादि

१५२–नहुष के द्वारा गौ से ऋषिच्यवन का क्रय, एवं ऋषि की आत्मतुष्टि—

प्रकृतमनुसरामः । आकस्मिकरूप से समुपस्थित महर्षिप्रवर गविजात ने चिन्तासमुद्र में निमग्न नहुषराज की चिन्तानिवृत्ति के लिए जिस उपाय का–'**अनर्घेया महाराज० !**' इत्यादिरूप से प्रदर्शन किया था, एवं जिस इस उपायश्रवण से नहुषसम्राट् समण्डल हर्षविभोर हो पड़े थे, उस अनर्घ–उपायभूता 'गौमाता' के पावन–नामप्रसङ्ग से ही महाभारतीय गौतत्त्व का यह प्रासङ्गिक संस्मरण अत्र उपनिबद्ध हो पड़ा है । अब पुनः उस प्रक्रान्ता पावनगाथा के शेषांश की ओर श्रद्धान्वित आत्मनिष्ठ मानवश्रेष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

"जिस प्रकार तपस्वी ब्राह्मण का कोई मूल्य नहीं, तथैव गौमाता का भी कोई मूल्य नहीं । दोनों हीं अमूल्य हैं, अनर्घ हैं । अतएव 'योग्यं–योग्येन युञ्जीत' न्याय से हे नहुष ! तुम्हें महर्षि च्यवन का मूल्याङ्कन गौमाता से ही कर देना चाहिए । अवश्य ही ऋषि इसे अपना अनुरूप मूल्य मान कर सन्तुष्ट हो जायँगे" महर्षि गविजात से इस उपाय का श्रवण करते ही हर्षविभोर होगए महाराज नहुष, और अपने अमात्य–पुरोहितों के साथ भृगुपुत्र महर्षि च्यवन के सम्मुख खड़े होते हुए अपनी इस वाणी से मानो महर्षि के प्राणों को तृप्त ही करते हुए प्रणतभाव से यही निवेदन करने लगे कि-यथाहि—

भीष्म उवाच-**नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप !**
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ।।
अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं शंसितव्रतम् ।।
इदं प्रोवाच नृपते ! वाचा सन्तर्पयन्निव ।।

नहुष कहने लगे कि, हे महर्षे ! हे भार्गव ! अब आप हम पर अनुग्रह कीजिए ! हमने आपको इस एक 'गौ' से निषादों से क्रीत कर लिया है । हे धर्म्मभृतांवर ! हम समझते हैं, यह गौ आपका पर्य्याप्त मूल्य है-यथाहि—

नहुष उवाच—**उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे ! गवा क्रीतोऽसि भार्गव !**
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्म्मभृतांवर ! ।।

'गौ' शब्द के श्रोत्रेन्द्रिय से समन्वित होते ही मानो महर्षि में प्राण उद्दीप्त हो पड़ा । अपनी सम्पूर्ण करुणार्द्रता का परित्याग कर इस गौप्राणाधान से तत्क्षण ही तो महर्षि च्यवन उठ खड़े हुए, एवं आत्म–

पितृमेध–कर्म्मात्मक श्राद्धकर्म्मों के अवसर पर ही विशेषरूप से इन ब्राह्मणों के चरणरज से गृहस्थी का गृहस्थ मङ्गलमय बना करता है विशेषरूप से । ऐसे अवसरों पर ही इन सौम्य ब्राह्मणों की तुष्टि-तृप्ति के लिए अन्यान्य-आतिथ्यों के साथ इनके सम्मुख गौमाहात्म्य का भी वर्णन करना चाहिए श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव से, विशेषतः सौम्य–पितृकर्म्मरूप श्राद्धकर्म्मावससरों पर तो अवश्य ही । क्योंकि–'**पितरः सोम्यासः**' के अनुसार पितर भी सौम्य-प्राणप्रधान ही है । इसी तथ्य को लक्ष्य में रख कर धर्म्म के सूक्ष्मरहस्यवेत्ता महात्मा देवव्रत ने कहा है—"**सार्वकामिकमक्षय्यं पितॄंस्तस्योपतिष्ठते**" ।

प्रसाद से विभोर ही बनते हुए कहने लगे नहुष को लक्ष्य बना कर यही कि—हे "राजेन्द्र ! * सचमुच अब तुमने मुझे ठीक-ठीक, मेरे स्वरूपानुरूप मूल्य से ही निषादों से क्रीत कर लिया है (खरीद लिया है)। हे अच्युत ! ÷ सचमुच इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य में मुझे गोधन के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ अधिक मूल्यवान प्रतीत नहीं हो रहा। हे पार्थिव ! इन गौमाताओं का यशोवर्णन (कीर्त्तन), यशःश्रवण, श्रद्धापूर्वक दान, दर्शन आदि सभी कर्म्म तो सर्वपापविनाशक, एवं महामङ्गलप्रवर्त्तक माने गए हैं—यथाहि—

च्यवन उवाच—उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र ! सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ !
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किञ्चिदिहाच्युत ! ॥
कीर्त्तनं-श्रवणं-दानं-दर्शनं-चापि पार्थिव ! ॥
गवां प्रशस्यते बीर ! सर्वपापहरं-शिवम् ॥

१५३–महर्षि च्यवन के द्वारा नहुष के प्रति गोमाहात्म्य-वर्णन—

अन्यदपि राजन् ! ये गोमाताएँ हीं (राष्ट्रलक्ष्मी-समाजलक्ष्मी-परिवारलक्ष्मी-व्यक्तिलक्ष्मी-भूत-लक्ष्मी-प्राणलक्ष्मी-राजलक्ष्मी-आदि आदि यच्चयावत्) **लक्ष्मीविवर्त्तों** की मूलप्रतिष्ठा बनीं हुईं हैं। एवं इन में पाप्मा-मलीमस-भाग-(आज की सभ्यता की भाषा में-गन्दगी) आदि का संस्पर्श भी नहीं है। अपितु स्वयं महालक्ष्मी के ही-'**न वोऽस्ति कुत्सितं किञ्चित्-अङ्गेष्वालक्ष्यतेऽनघाः**' (अनु० प० ८२ अ०। २२ श्लोक०) इन शब्दों के अनुसार गौमाता तो सर्वात्मना ही पुण्यतमा, पवित्रतमा है। सम्पूर्ण प्राणियों का जीवनीय **सोमरूप अन्न** इन्हीं के प्राणों में प्रतिष्ठित है। गोक्षीर-गोघृत ही पितृ-देवताओं का महामहनीय हविष्यान्न है। देवतृप्तिकर **स्वाहाकार**, इन्द्रतृप्तिकर **वषट्कार** भी इन्हीं गौमाताओं में प्रतिष्ठित है। गौमाताएँ हीं समस्त प्राकृतिक-वैध-**यज्ञों** की मूलप्रवर्त्तिका हैं। ये ही यज्ञ के मुख हैं। जिस दूध को दूध समझा जारहा है भूतदृष्टि से, वह अन्य पश्वादि की भाँति कोई सामान्य दूध नहीं है। अपितु यह तो तीसरे द्युलोक में प्रतिष्ठित रहने वाला × वह पारमेष्ठ्य अमृतसोम है, जो शाश्वतभाव के समन्वय से (शाश्वत अव्ययपुरुष को स्वगर्भ प्रतिष्ठित करने से) स्वयमपि अव्ययरूप बन रहा है। यहीं से

---

*–इन्द्र का गौ से सहज सम्बन्ध है। यही इन्द्र शासक नृपति में जनता के अनुशासन के लिए प्रतिष्ठित रहता है, जैसाकि-'**एकैको वै जनतायामिन्द्रः**' इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। नहुष ने आज अपने ऐन्द्रस्वरूप के द्वारा स्वप्रतिष्ठारूप स्वप्रतिष्ठालक्षण गौ का अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। '**राजेन्द्र !**' सम्बोधन यही सङ्केत कर रहा है।

÷ नहुष सहस्र-लक्ष-कोटि-अर्बुद, एवं सर्वान्त में सम्पूर्ण साम्राज्य-प्रदान-माध्यम से भी ऋषि को को जब सन्तुष्ट न कर सके, तो दुःखविभोर तो वे अवश्य बन गए। किन्तु निराश होकर पलायित नहीं होगए। इनके इसी निष्ठात्मक धैर्य्य से अन्ततोगत्वा गविजात महर्षि प्रकट हो ही तो गए। इसी निष्ठा को अभिव्यक्त कर रहा है—'**अच्युत**' सम्बोधन।

×–तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्।

यह गोरस सूर्य्य के द्वारा त्रैलोक्य में प्रवर्ग्यरूप से विकीर्ण होता हुआ गौमाताओं में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता है। यों सचमुच महद्भूतात्मिका ये गौमाताएँ पारमेष्ठ्य चिन्मय–अमृतसोम की उक्थरूपा 'आयतना' बनीं हुईं हैं–यथाहि—

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं, गोषु पाप्मा न विद्यते।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥
स्वाहाकार–वषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ॥
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥
अमृतं–ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च, वहन्ति च ॥
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥

और सुनो नहुष! (अपने पारमेष्ठ्य–चिन्मय महत्सोमधर्म्म से निरतिशयरूपेण सौम्या प्रमाणित हरनें वालीं भी) ये गौमाताएँ अपने (आपोमय–सोममय–भार्गव परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित अङ्गिराचितिरूप सावित्राग्निमूर्त्ति विराट् सूर्य्यनारायण पर अनुग्रह करतीं हुई, इसी अनुग्रह से सूर्य्य को भी **"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन्मातरं पुरः–पितरञ्च प्रयन्त्स्वः"** (यजुःसंहिता) के अनुसार 'गौ' नाम से प्रसिद्ध करती हुई इस) सौराग्निस्वरूप से अपने तेजोमय शरीर से अग्नि से भी समतुलित बनीं हुईं हैं— **"तेजसा–वपुषा चैव गावो वह्निसमा भुवि"**। स्मरण रक्खो नहुष! कि ये गौमाताएँ सम्पूर्ण चराचरप्राणियों को सुख–शान्तिप्रदान करने वाला अत्यन्त ही तेजस्वी तत्त्व है–**'गावो हि सुमहत्तेजः–प्राणिणां च सुखप्रदाः'**। सम्पूर्ण चराचर–प्राणियों की अलौकिक, तथा लौकिक–यच्चयावत् कामनाओं को सफल बनाने में कामदुघा गौमाताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई भी तो दूसरा महद्भूत नहीं है–**"गावः कामदुहो देव्यः–नान्यत्किञ्चित् परं स्मृतम्"**। हे भरतर्षभ नहुष! (गौमाताओं के इसी अलौकिक-लौकिक लोकोत्तर महत्त्व को लक्ष्य बना कर) हमनें इन का ऐसा महात्म्य तुह्मारे सम्मुख रक्खा है–**'इत्येतद्गोषु मे प्रोक्तं–माहात्म्यं भरतर्षभ!'**। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रक्खो कि, हमनें गौमाताओं का जो महत्त्व यहाँ व्यक्त किया है, वह तो उनकी अनन्त–असंख्य–गुणविभूतियों में केवल एक ही गुण (सौम्यगुण–पारमेष्ठ्य भार्गवधर्म्म) के भी एकदेश–आंशिकरूप का ही यहाँ यशोगान हुआ है। असम्भव है इस अनन्तविभूति के अनन्त गुणों का सादिसान्ता मानुषी वैखरी वाणी से वर्णन कर देना–**'गुणैकदेश-वचनं–शक्यं, पारायणं न तु'**।

१५४–शुचिभावापन्न निषादों का महर्षि च्यवन के प्रति–साप्तपदीन–मैत्री का उद्घोष, एवं तत्प्रति प्रतिग्रह–(गौदान) कामना—

यों गौमहिमा का यशोगान करते हुए महर्षि च्यवननें राजर्षि नहुष के द्वारा निषादों को प्रदत्त गौमाता के द्वारा अनन्या तृप्ति का अनुभव कर लिया। और गौमाता के इस अद्भुत–अश्रुतपूर्व–लोकोत्तर महत्त्व से, तदनुप्राणित गौदानादि के महत्त्व से प्रभावित हो पड़ने वाले क्रूरकर्म्मा भी निषादों में शुचिभाव प्रादुर्भूत हो पड़ा। और इन श्रद्धाशील सहज मानवश्रेष्ठोंनें भी इस महान् पुण्यावसर को हाथ से न जाने

देकर अपने मानवजीवन को धन्य–कृतकृत्य ही बना लिया। कैसे? का उत्तर उन्हीं महद्भाग्यशाली निषादों की श्रद्धापूता सहजवाणी से ही प्राप्त कीजिए। निषाद कहने लगे कि–भगवन्! आपके पुण्यदर्शनों का, [आपके साथ साथ गौमाता के धन्यतम दर्शनों का], आपके तपःपूत मुखपङ्कज से विनिःसृता अमृतमयी वाणी के श्रवण का, [इस वाणीश्रवण के साथ साथ ही गौमाताओं के माहात्म्यादि श्रवण का] महद्भाग्य हम निषादों को भी प्राप्त हो गया, [और निश्चयेन इस सतांसमागम–श्रवणादि से आज हमारे भी अनेक जन्मों के दुरितपुञ्ज निश्चयेन भस्मसात् ही होगए]। और धृष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए आपके इस पारम्परिक सहवासानुग्रह से ही हम यह निवेदन करने का साहस, किंवा दुःसाहस कर रहे हैं कि, आज हमें शास्त्रों में, [लोकाचार में प्रसिद्ध]* '**साप्तपदीना मैत्री**' का महद्भाग्य प्राप्त होगया है [किसी जन्मान्तरीय महत्पुण्यातिशयानुग्रह से], अतएव अब आप हमारे इस मित्रतापूर्ण अनुरोध पर अवश्य ही अनुग्रह करेंगे–यथाहि—

निषादा ऊचुः—**दर्शनं-कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने !**
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ! ।।

भगवन्! हम स्वयं अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव कर रहे हैं कि, अपनी अवरवर्णता के कारण आचारशास्त्रने हमारे प्रतिग्रहों को त्याज्य माना है। अतएव किसी ब्राह्मण को हम स्वयं ही प्रतिग्रहप्रदान की कल्पना भी नहीं कर सकते आचारधर्म्मानुबन्ध से। किन्तु भवगन्! आप तो अपने तपोबल से आज उस ऋषिपद पहुँच गए हैं, जहाँ '**ब्रह्म–अब्रह्म–भवति**' के अनुसार आचारधर्म्मरूप वर्णानुगत प्राकृत धर्म्म स्वतः ही शिथिल होजाता है। भगवन्! निश्चयेन आप तो अपने तपोलक्षण ऋषिभाव से उस हव्यवाट् तेजोमय अग्निस्वरूप में परिणत हो रहे हैं, जिस विश्वव्यापक–आत्मस्वरूप विराट् अग्नि के लिए कुछ भी त्याज्य नहीं है। (अतएव जो अग्निदेव–'सर्वभुक्' नाम से प्रसिद्ध हैं।) जिसप्रकार हव्यवाट् सर्वहुत अग्नि के साथ किसी भी प्रतिग्रह का स्पर्शादि दोष समन्वित नहीं होता, तथैव तदवस्थारूप आपको भी हमारा दिया

*–यदि किसी के साथ कोई व्यक्ति पाँच सात पाँवड़ा चलता हुआ परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्भाषण कर लेता है, तो भारतीय–संस्कृति की मर्य्यादानुसार दोनों को परस्पर मित्र मान लिया जाता है, और जीवनपर्य्यन्त इस '**सतांमैत्री**' का प्राणपण से संरक्षण किया जाता है। यही मैत्री–'**साप्तपदीनमैत्री**' कहलाई है। सुप्रसिद्ध गौभक्त सूर्य्यवंशी सम्राट् दिलीप महाभाग के साथ इसी अनुबन्ध के आधार माता पार्वती के द्वारा उपलालित पुत्रकल्प देवदारुवृक्षों की रक्षा के लिए नियुक्त हिमगिरि की गह्वर–गुहाओं में स्वच्छन्द विचरने वाले सिंह से मैत्रीसम्बन्ध होगया था, जिसका कविकुलगुरु कालिदास की सांस्कृतिक–प्रज्ञा से यों यशोगान हुआ है—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः–वृत्तः स नौ संगतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं–सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ।। —रघुवंशः

तुलना कीजिए भारतीय मैत्री की साप्तपदीना सांस्कृतिक–परिभाषा के साथ आज की अर्थकाममूला प्रच्छन्नशत्रुतालक्षणा काल्पनिक मैत्री का, और तदनन्तर ही आज की सांस्कृतिक ? मैत्री का निष्ठाबुद्धि से समन्वय कीजिए ! इत्यालप्यालमेव।

हुआ प्रतिग्रह कदापि दोषयुक्त नहीं कर सकता÷, ऐसी हमारी मान्यता है आपके इस प्रत्यक्ष प्रभाव को देख सुन कर, यथाहि—

हवींषि सर्वाणि यथा ह्युपभुङ्क्ते हुताशनः ।
एवं त्वमपि धर्म्मात्मन् ! पुरुषाग्निः प्रतापवान् ॥

तस्मात्—

इसलिए भगवन् ! आपके चरणयुगलों में प्रणतभाव से अपने आपको श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देने वाले हम निषादों की यह आभ्यन्तर कामना है कि, (राजर्षि महाभाग नहुष ने जो गौमाता आपके सदृश-मूल्याङ्कन के लिए हमें दी है), अनुग्रह कर वही गौ आज आप हम से स्वीकार करें ! । (हम निषाद इस आपके स्वरूप के अनुरूप भेंट के अतिरिक्त और दे भी क्या सकते हैं, जबकि राष्ट्र के सम्राट् नहुष सम्पूर्ण राज्य-दान से भी आपको सन्तुष्ट न कर सके । हम सब की इच्छा थी कि, हम भी ऋषि का आतिथ्य करें । किन्तु यहाँ के सहस्र–लक्ष–कोटि–अर्बुद–साम्राज्य–दान की गाथाओंनें हमारी सभी आशा–कामनाओं पर तुषारपात कर दिया था । किन्तु महर्षि गविजात के अनुग्रह से हमें उद्बोधन प्राप्त होगया कि, गौ के अतिरिक्त ऋषि-प्रज्ञाओं के लिए ओर कोई परिग्रह प्रिय हो ही नहीं सकता । इसी साहस के बल पर आज हमनें आप से यह प्रार्थना की है । यथाहि—

प्रसादयामहे विद्वन् ! भवन्तं प्रणता वयम् ।
अनुग्रहार्थमस्माकं–'इयं गौः' प्रतिगृह्यताम् ! ॥

सम्राट् नहुषनें गौमूल्यदान से अपना **राजधर्म्म** सुरक्षित कर लिया था । गविजात महर्षिनें **आनृशंस-धर्म्म** का लोकोत्तर महात्म्य स्थापित कर दिया था । और गौप्रतिदान के माध्यम से महर्षि च्यवननें निषादों के **योगक्षेमधर्म्म** का संरक्षण करते हुए मत्स्यादि जलजन्तुओं को पाशमुक्त कराते हुए आत्मसमत्वमूलक–**शरणागतिधर्म्म** का महान् आदर्श सुरक्षित कर लिया था । यों अत्र इतिवृत्त में उपस्थित सभी पात्र स्व-स्व धर्म्मनिष्ठा के अनुगमन से अपनी प्रजापतिनेदिष्ठता प्रमाणित कर चुके थे । रह गए थे केवल निषाद, जिनके द्वारा जालप्रक्षेप-आलोडन–विलोडन से मत्स्यों के साथ ऋषि च्यवन भी उत्पीड़ित होगए थे । इसी भय से संत्रस्त निषाद उपाय–प्रतीकार के लिए राजधर्म्म की शरण में गए भी थे । किन्तु संकट आपड़ा स्वयं राजा पर, और राजधर्म्म पर । एवं इससे परित्राण प्राप्त करने में हीं नहुष का सम्पूर्ण बल–पौरुष समाप्त होगया । यों निषादों की समस्या ज्यों की त्यों हीं शेष रह गई थी, जिसे आज स्वयं निषाद ही **'गौदान'** के द्वारा समन्वित करना चाहते हैं, यही **'इयं गौः प्रतिगृह्यताम्'** का निषादानुगत समन्वय है ।

१५५–निषादों के द्वारा महर्षि च्यवन का प्रतिग्रह–ग्रहण, एवं माङ्गलिक–पावनगाथा का विराम—

महर्षि के दृष्टिशापमात्र से विकम्पित हो पड़े थे निषाद, जब कि महर्षि च्यवननें ठीक इसके विपरीत निषादों को–"**यो मेऽद्य परमं कामः–तं शृणुध्वं समाहिताः**" इत्यादिरूप से उपायान्वेषण के लिए प्रवृत्त

÷ **तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ।** (श्रीमद्भागवत–रासपञ्चाध्यायी–शुकोक्तिः) ।

करते हुए अपनी सहज करुणावरुणालयता का ही परिचय प्रदान किया था। फिर भी निषाद अपनी कल्पना में ऋषिदृष्टिजनित शाप से सर्वात्मना अपने आपको उन्मुक्त नहीं मान रहे थे। ऋषिनें निषादों की इस दयनीया–भयविकम्पनावस्था को लक्ष्य बना लिया। और निर्णय कर लिया कि, जबतक इनका यह गौ-प्रतिग्रह मैं स्वीकार नहीं कर लूँगा, तबतक ये मेरी दृष्टि से उसी प्रकार सदा ही भयत्रस्त बने रहेंगे, जैसेकि एक कृपण–अर्थलुब्धक की तेजोमयी दृष्टि से भिक्षुक–याचक स्वतः ही भयत्रस्त बने रहते हैं, एवं एक विषधर सर्प की दृष्टि से सभी विकम्पित होते रहते हैं इस भय से कि, विदित नहीं, ये कब अपनी कोपदृष्टि से सम्मुख उपस्थित व्यक्ति को निष्प्राण बनादें। निषादों के इसी भयभाव को लक्ष्य बना कर मानो निषादों का उपलालन ही करते हुए दयार्द्रचेता महर्षि च्यवननें अपनी सुशान्तमुद्रा से यह कहते हुए निषादों की भेंट प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करली कि—

हे निषादो ! वस्तुस्थिति लोक में इसी रूप से प्रसिद्ध है कि–घोरकृपण की दृष्टि, विषधर सर्प की, एवं कोपाविष्ट मुनि की दृष्टि, ये तीनों हीं दृष्टियाँ मानव को अग्निवत् भस्मसात् ही कर दिया करतीं हैं। तुह्मारे इसी भय की निवृत्ति के लिए मैं तुह्मारी इस गौ का प्रतिग्रहात्मक दान ग्रहण कर लेता हूँ। यथाहि—

च्यवन उवाच–कृपणस्य च यच्चक्षु, मुने, राशीविषस्य च।
नरं समूलं दहति कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥

अतः—

'प्रतिगृह्णामि वो धेनुम्'।

हे कैवर्त्तो ! अब तुम सर्वात्मना निष्पाप बन गए। मैं आशीः प्रदान करता हूँ कि, इस गौदान के प्रतिफल में तुम इन मत्स्यादि प्राणियों के साथ दिव्यलोक–पथानुगामी बन जाओ !

सर्वान्त में शास्त्रमर्य्यादानुगता फलश्रुति के माध्यम से इस **नहुष–च्यवन–संवादात्मिका** पावन-गाथा का माङ्गलिक उपराम करते हुए महात्मा भीष्म युधिष्ठिर को लक्ष्य बना कर कहते हैं कि–युधिष्ठिर ! महर्षि की कृपा से समत्स्य–निषादों को सद्गति प्राप्त हुई, जिसे देख सुन कर नहुष भी आश्चर्य्यविभोर होगए (इस गोदानमहत्त्व से)। तदनन्तर महर्षि गविजात, तथा च्यवन, दोनों नें अनुरूप वरप्रदान से धर्म्म-निष्ठ नहुष को भी सर्वात्मना आवृत कर दिया–"**वराभ्यामनुरूपाभ्यां छन्दयामासतुर्नृपम्**"। ऋषियुगल से अभिलषित वर प्राप्त कर पृथिवीपति–महावीर्य्यशाली नहुष भी सर्वात्मना कृतकृत्य होगए। प्रणतभाव से दोनों महर्षियों का प्रणतभाव से पूजन किया। उधर अपने दीक्षाव्रत को सम्पन्न कर महर्षि च्यवन तो अपने आश्रम की ओर पधार गए, महातेजस्वी महर्षि गविजात वनस्थित स्वाश्रम की ओर अन्तर्द-धौ। नहुषराज वरप्राप्ति से धन्य बनते हुए सपरिकर स्वराजधानी की ओर परावर्त्तित होगए। और यों यह पावनगाथा उपरत हुई इन माङ्गलिक–चरित्रों के साथ। युधिष्ठिर ! तुमनें गाथा के आरम्भ में जो मुझ से यह प्रश्न किया था कि—

दर्शने यादृशः स्नेहः, संवासे वा युधिष्ठिर !
महाभाग्यं गवां चैव तथा धर्म्मविनिश्चयम् ॥
किं भूयः कथ्यतां वीर ! किं ते हृदि विवक्षितम् ॥

—म० अनुशासनपर्व–नहुषच्यवनसंवादात्मक–च्यवनोपाख्यान–५१ वाँ अध्याय—

१५६–राष्ट्रलक्ष्मी–लक्षणा गौमाता की ओर जनतन्त्र का ध्यानाकर्षण, एवं नचिकेता का उद्बोधनसूत्र—

यह है दीपावली–पर्वाङ्गभूत–'गोवर्द्धनमहोत्सव' से सम्बन्ध रखने वाली उस पावनगाथा का माङ्गलिक संस्मरण, जिसके अत्र समावेश से हम राष्ट्र के श्रद्धाशील–आस्थित–जनतन्त्र का ध्यान राष्ट्र के मूल प्रतिष्ठारूप उस 'गोवंश' की ओर ही अत्यन्त प्रणतभाव से, निःसीम आर्त्तहृदय से, निरतिशय दीनभाव से अनिवार्य्य-रूपेण आकर्षित कर ही देना चाहते हैं–कि, वह किसी भी सत्ताव्यामोहन में न पड़ कर स्वयं अपनी सांस्कृतिक उस सनातननिष्ठा के बल पर ही इस गोवंश के संरक्षण में अपने सांस्कृतिक–आचार के माध्यम से अविलम्ब–तत्क्षण ही सर्वात्मना संलग्न हो जाय, जिसके संरक्षण के बिना राष्ट्र की ज्ञानशक्ति, पौरुषशक्ति, अर्थशक्ति, आदि आदि सभी कुछ राष्ट्रवैभव प्रबलवेग से अन्तर्मुख ही बनते जारहे हैं। जनतन्त्र के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह किसी वर्ण का हो, किसी जाति का हो, किसी मत की मान्यता रखने वाला हो, गौमाता के इस प्रकृतिसिद्ध–ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप से परिचित करा ही देना है, जिस तात्त्विक स्वरूप के बोधमात्र से मानवमात्र गौ की महद्भूतता, एवं तदनुगता अनिवार्य्य-संरक्षणीयता का स्वतः ही अनुगामी बन जाया करता है, निश्चयेन बन जाया करता है, अवश्यमेव बन ही जायगा। और ऐसे जागरूक सांस्कृतिक–बोधनिष्ठ राष्ट्रीय जनतन्त्र के सम्मुख हमारे उस शासनतन्त्र को भी अवश्यमेव अपनी यह भ्रान्ति अहिःकञ्चुकिवत् छोड़ ही देनी पड़ेगी, जिस भ्रान्ति में आविष्ट होकर उसने मानवमात्र की प्रतिष्ठा–रक्षा-भूता गौमाता के रक्षात्मक प्रश्न को 'साम्प्रदायिक' संज्ञा देकर इस '**राष्ट्रश्री**' का जानबूझ कर तिरस्कार कर रक्खा है। भारतवर्ष में उत्पन्न होकर, यहाँ के गाङ्गेय–यामुनेय–सलिल का पान कर, यहाँ की वसुन्धरा के मृद्भाग से पोषण प्राप्त कर के भी जो भारतीय मानव विश्वप्रतिष्ठाभूत इस गोवंश के तात्त्विक स्वरूप से अपरिचित रहता हुआ इस की उपेक्षा करता है, कर रहा है, करेगा, उस के लिए तो सांस्कृतिक–सन्देशप्रदाता ज्ञानविज्ञाननिष्ठ–**त्रिणाचिकेतविज्ञानपरपारगामी** द्विजश्रेष्ठ **नचिकेता** का यही उद्बोधनसूत्र पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि–

> **गावो लोकांस्तारयन्ति क्षरन्त्यो गावश्चान्नं संजनयन्ति लोके।**
> **यस्तं जानन् न गवां हार्द्दमेति स वै गन्ता निरयं पापचेताः॥**

२५७–सत्तासापेक्ष आज के सांस्कृतिक–विद्वान्, उनका चाटुकारितापूर्ण व्यामोहन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय–संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव—

विगत तीन सहस्र वर्षों से जनतन्त्र की सत्तासापेक्षतामूला भावुकतापरम्पराओं से जिन सत्तातन्त्रोंनें लाभ उठाते हुए भी प्रतिदान में इसे अधिकाधिक भावुक ही बनाया है, इसी भावुकता के कारण जनतन्त्र अपनी मूल–निष्ठाओं के पालन में असमर्थ बनता हुआ अपने सभी क्षेत्रों के लिए पदे पदे क्षणे सत्तातन्त्रों के ही आश्रय के लिए लालायित बनता चला आरहा है तथोक्ता अविधि में। अवश्य ही जनतन्त्र को इस गणतन्त्रीय-प्रजातन्त्रात्मक सर्वतन्त्र–स्वतन्त्रयुग में तो अपनी सत्तासापेक्षतामूला महती भ्रान्ति का अविलम्ब परित्याग कर ही देना चाहिए। अपितु तत्स्थान में–'**उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्**' इस निष्ठासूत्र को आधार बना कर स्वयं हमने नैष्ठिक श्रद्धाबल से ही राष्ट्र की संस्कृति, तथा सांस्कृतिक आचारों, गोवंश जैसे राष्ट्रीय धन को सुरक्षित करने के प्रयत्नों में आचाररूप से संलग्न हो जाना चाहिए।

यह सर्वात्मना संस्मरणीय, एवं अविस्मरणीय है कि, न तो सत्तातन्त्र ही जनतन्त्र की संस्कृति का संरक्षण कर सकेगा, नापि आजकल के मतवादात्मक वे सांस्कृतिक विद्वान् , उनके सांस्कृतिक लेख–भाषण–आन्दोलन–आदि आदि ही इन राष्ट्रीय विभूतियों का संरक्षण कर सकेंगे, जिन विद्वानों का मूलमन्त्र ही व्यक्तिप्रतिष्ठासंरक्षिका सत्तासापेक्षता बना हुआ है। यही कारण है कि, ऐसे लोकैषणालिप्सु सत्तासापेक्ष–विद्वान् प्रदर्शनमात्र के लिए, सर्वोपरि किसी अपनी प्रच्छन्ना महती लोकैषणा को सफल बनाने के लिए ही यदा कदा जनतन्त्र की भावुकतामात्र से लाभमात्र उठाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–विभूतियों के सम्बन्ध में भी कुछ वाचिक अनुग्रह कर देंगे (सो भी सत्तासापेक्षता का अपने बुद्धिवादकौशल से संरक्षण करते हुए ही)। अतएव कदापि ऐसे विद्वान् मुक्तहृदय से संस्कृति के वास्तविक तथ्य का संस्पर्श ही नहीं करेंगे। और ऐसे कृत्रिम प्रदर्शनों से तो संस्कृति का अहित ही होगा, होता आरहा है निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता सत्तासापेक्षता की कृपा से।

उदाहरणविधि अप्रासङ्गिक न होगी। प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या जनतन्त्र को यही जान लेना चाहिए कि, जिस महाभारत के राजतन्त्रानुगत गणतन्त्रीय कतिपय प्रासङ्गिक, किन्तु सर्वथा दैशिक वचनों के माध्यम से वर्त्तमानयुग के सत्तासापेक्ष जो सांस्कृतिक विद्वान् अपने लेखों–भाषणों–रेड़ियावार्त्ताओं–सम्मतियों से गणतन्त्रीया-प्रजातन्त्रपद्धति का शास्त्रीय समर्थन करते हुए सत्ता के अनुग्रहभाजन ? बनने के लिए छटपटाते रहते हैं, उन विद्वानों में से आजतक किसी भी सांस्कृतिक विद्वान् नें, महाभारत के प्रति अगाधश्रद्धा–भक्ति व्यक्त कर अपनी सांस्कृतिकता से भारतराष्ट्र को विकम्पित करते रहने वाले तत्त्वज्ञ ने उसी महाभारत में शत–सहस्र स्थानों में महता समारम्भेण प्रतिपादित राष्ट्र के मूलधन गौ के महत्त्व पर निष्ठापूर्वक न तो प्रकाश डालने का ही अनुग्रह किया, एवं न अपनी गणतन्त्रात्मिका भक्ति की भाँति कभी सत्तातन्त्र का ध्यान ही इस ओर आकर्षित किया। कदापि ऐसी मनोवृत्ति के पारङ्गत सत्तासापेक्ष विद्वानों से जनतन्त्र का न तो आज से पूर्व कोई भला हुआ है, न आज ही कुछ श्रेय सम्भव है। अतएव स्वयं जनतन्त्र को ही, जनतन्त्र के प्रज्ञा–शील प्रतिनिधियों को ही सब ओर से निरपेक्ष बन कर स्वयं को सर्वप्रथम आचारपथानुगामी बना लेना चाहिए, तत्सहैव श्रद्धायुत मानस से स्वयं ही स्वाध्यायनिष्ठ बन कर इस निष्ठा के बल पर ही स्वात्मक जनतन्त्र को उद्बुद्ध कर देना चाहिए। **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय**। इसी प्रासङ्गिक निवेदन के साथ गोस्वरूपयशो-गाथात्मिका यह पावनगाथा विश्राम ले रही है राष्ट्रलक्ष्मी के अनुग्रह की माङ्गलिक कामना से ही।

१५८–वेदशास्त्र, तथा तत्प्रवर्त्तक महर्षियों के प्रति वर्त्तमान रिसर्चस्कॉलरों Research Scholors के अनर्गल प्रलाप—

भारतीय संस्कृति, साहित्य, आदर्श, पुरातन–वैदिक–सभ्यता के परपारदर्शी आज के वे नीरक्षीर–विवेकी वेदज्ञ, तत्त्वविशोधक, रिसर्चस्कॉलर Ressarch Scholor विश्वविदित पुरातत्त्ववेत्ता महानुभावों के निबन्धाधारेण ऐसा श्रुतोपश्रुत है कर्णाकर्णिपरम्परया कि, "**वेदयुगात्मक पुरातनयुगों में आर्य्य चमड़े के वस्त्र पहिनना भी सीख गए थे, पशुपालन ही इनकी जीविका का प्रधान साधन था। परिवार बनाकर यायावरवृत्ति से ये पर्य्यटन करते रहते थे। प्रकृतिमण्डल के प्रत्यक्ष लाभप्रद सूर्य्य–इन्द्र (वर्षा)–अग्नि–आदि की स्तुति करते रहते थे। विशेषरूप से गाय बैल–इनके अत्यन्त उपयोगी पशु थे। आगे चलकर थोड़ौ खेती करना भी आर्य्यलोग सीख गए थे। और यों**…………………। **जैसाकि इनके आदिग्रन्थ ऋग्वेद के अनेक स्थलों से**…………………, इत्यादि–इत्यादि…………।"

१५९–गौपशुसमन्वित–गौप्राण से युक्ता–'बृहदुक्थविद्या' के द्रष्टा महर्षियों की दृष्टि से दृष्ट वेदशास्त्र के प्रति भारतीय वर्त्तमान–वेदभक्तों की भ्रान्त धारणाएँ, एवं विज्ञानशब्दाकर्षणजनिता–व्यक्तित्त्वविमोहनमूला–तत्प्रज्ञाओं के वाग्विजृम्भण–

जो आर्य्यमहर्षि गौपशु को रुद्रों की माता, वसुओं की कन्या, आदित्यों की भगिनी, अमृत की नाभि, अदितिमयी प्रमाणित कर रहे हैं, जो प्रत्यक्षद्रष्टा महर्षि गौ को इन्द्रप्राणात्मिका बतलाते हुए तदाधार पर 'बृहदुक्थ' जैसी सृष्टिमूलविद्याओं पर परामर्श कर रहे हैं, जिन का प्रत्येक उपयोगी भूत सृष्टि के सूक्ष्मतम आत्म–देवप्राण पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदेवरूप बन रहा है, वे महर्षि आज के युग के इतस्तत- ढोर चराने वाले यायावर थे, इसप्रकार की खोज तत्त्वान्वेषण में निपुण वर्त्तमान युगीय स्कॉलरों को ऋग्वेद में उप–लब्ध हुई, तदर्थ कृतज्ञता ही अभिव्यक्त करनी चाहिए वेदभक्ता आर्षप्रजा को तत्प्रति इसलिए कि, यह अच्छा ही हुआ कि, वेदशास्त्र के आधार पर उनकी भूतप्रज्ञा इसी दृष्टिकोण पर समाप्त होगई। यदि थोड़ा और आगे बढ़ जाते ये मनीषी, तो वेदशास्त्र के तत्त्वों की इनके द्वारा वैसी दुर्दशा और हो जाती, जैसी कि दुर्दशा वेदशास्त्र को अपौरुषेय–नित्यकूटस्थ–ईश्वरीय शास्त्र मानने मनवाने वाले आजके सनातनधर्म्मी, तथा आर्य्यसमाजी विद्वम्मन्यों के द्वारा पश्चिम के '**भूतविज्ञान**' शब्द को लेकर आज होरही है। ये वेदभक्त 'विज्ञान' शब्द से प्रभावित होकर आज शब्दानुकरणों के जोड़ तोड़ बैठाकर वेद में भी तार–टेलिफोन–फोनोग्राफ–आदि आविष्कारों के अन्वेषण में लह्लीन हो रहे हैं। इसी 'विज्ञान' शब्दाकर्षण से वैज्ञानिक महर्षियों की भाँति ये तत्त्वज्ञ आज के भूतविज्ञानवादी, आत्मदेवभावशून्य केवल विकारवादी प्रतीच्य विद्वानों को भी 'ऋषि' उपाधि ये इसलिए समन्वित कर देना चाहते हैं कि, जिससे वे अनुग्रह कर इनकी इस उदारता पर मुग्ध होकर इन्हें एक प्रमाणपत्र और देदें। "**ऋषि वैज्ञानिक थे, तो आज के वैज्ञानिक ऋषि हैं,**" इसप्रकार के प्ररोचनात्मक वाक्यों, निबन्धों से वेदशास्त्र का क्या हित कर लेंगे वे महानुभाव, जबकि 'प्राण' तत्त्वसूचक 'ऋषि' शब्द का वर्त्तमान भूतविज्ञानवाद से स्वाप्निक सम्पर्क भी तो नहीं है। परदर्शनानुगत इस व्यक्तित्त्व–विमोहन ने ही तो, तन्मूलक उदारतावाद ने हीं तो हमें वेदशास्त्र की प्रातिस्विक चिन्तनधारा से पृथक् कर दिया है विगत अनेक शताब्दियों से।

१६०–लौकेषणात्मिका–सत्तासापेक्षतामूला चाटुकारिता से समुत्पन्ना स्वरूपविमोहनवृत्ति के निग्रह से भारतीय संस्कृति–साहित्य के मौलिक–स्वरूप का अभिभव—

ऐसा क्यों हुआ ?, प्रश्न का उत्तर वही सत्तासापेक्षता है, जिसके दुःखपूर्ण इतिहास के स्वरूपविस्फोटन के लिए ही तो प्रस्तुत निबन्ध व्यक्त हो पड़ा है। भावुकतापूर्ण इस अनार्य्यजुष्टा उदारतारूपा भीरुता, चाटु–कारिता, स्वार्थसाधनैषणा, आदि मानस–वृत्तियों के कारण ही तो हम स्वयं ही अपने इस चिरन्तन शास्त्र का युगधर्म्मप्रवाहानुसार काल्पनिक–समन्वय करने करवाने के लिए आज आतुर हो पड़े हैं। कदापि इस दास–मनोवृत्ति से हमारी संस्कृति, साहित्य, आदि का कोई हित नहीं होगा। अपितु अहित ही होगा इस परदर्शन–मूला चाटुकारिता से, जैसाकि सत्ताभक्त अतीतयुगों के व्याख्याताओं से मूलसंस्कृति का स्वरूप उत्तरोत्तर अभि–भूत ही हुआ है। हम जैसे हैं ठीक हैं।

१६१–परप्रमाणपत्रनिरपेक्षा-स्वतःप्रमाणभूता भारतीय-संस्कृति का स्वानुगत महामहिमत्त्व–

कदापि हमें यह वाञ्छित नहीं है कि, हमें कोई प्रमाणपत्र प्रदान करे। ज्ञानविज्ञानशब्दों की परिभाषाएँ सर्वथा स्वतन्त्र हैं वेदशास्त्र की, जिन परिभाषाओं का वर्त्तमान भूतविज्ञान से यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है*। वर्त्तमान–विज्ञान के समतुलन में तो हम गोपशुओं की उपासना–आराधना करने में हीं अपनी, और अपनी संस्कृति की सफलता समझते आ रहे हैं सदा से ही। सचमुच हमारे महर्षिगण गौपशु की आराधना करने वाले पशुपालक ही थे। गौरव ही अनुभूत करेगी आर्षप्रजा अपने पुरातन–पुरुषों की तथाविधा आचार-पद्धतियों का गुणगान कर।

१६२–सम्पूर्ण अशुचिभावनिरोधक–विनाशक, एवं दिव्य–शुचिभावप्रवर्त्तक गौपशु के अवरोधक आज के सुसभ्य नगरों की सुसभ्यता से उत्पीड़ित राष्ट्र का गोवंश, एवं तदुत्पीड़न से राष्ट्रलक्ष्मी का सर्वनाश—

जिस गोमय–गोमूत्र–रूप पञ्चगव्य से भारतीय द्विजातिमानव यज्ञोपवीत जैसे महान् दिव्य संस्कार का अधिकार प्राप्त कर लेता है, उस पञ्चगव्य की प्रदात्री गौमाता ही हमारे राष्ट्र की तो सर्वस्वा ही रही हैं, रहेंगी। आज की सभ्यता, आज का भूतविज्ञान जहाँ गोपशु को 'गन्दगी' फैलाने वाला घोषित कर सुसभ्य नगरों (बम्बई आदि, और अब तो स्वतन्त्र भारत की अपनी–हमारी राजधानी, हाँ–निश्चयेन भारतीय जनतन्त्र की राजधानी नई दिल्ली) में भी गोपशु रखने पर नियन्त्रण लगाने में हीं अपने आपको गौरवान्वित प्रमाणित करता जारहा है, वहाँ गौमाता के पवित्रतम–चरणरज से समन्वित–'गोधूलि' मुहूर्त्त तो हमारी आश्रम-जीवनव्यवस्था के मूलाधार दाम्पत्यसूत्र (विवाहलग्न) की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। गोमय से उपलिप्त किए बिना गृह–लक्ष्मियाँ महानस (पाकशाला–रसोईघर) को पवित्र ही नहीं मानतीं। अशुचिभाव के निराकरण के लिए गोमूत्रप्रोक्षण–पान हीं प्रधान द्रव्य उद्घोषित हुआ है हमारी शुद्धि–व्यवस्थाओं में। किंबहुना–हमारी संस्कृति के यच्चयावत् आचार, आयोजन गौमाता के अनुध्यान के बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकते।

१६३–विज्ञानसिद्ध तत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित भारतीय संस्कृति पर आज के सुसभ्यों के द्वारा साम्प्रदायिकता का आरोप, एवं स्वयं इन सुसभ्यों का भारतराष्ट्रविरोधी–तत्त्वों से समालिङ्गन, तथा उनका अन्धानुकरण—

क्या यह हमारी साम्प्रदायिकता है ?। प्रकृति के सुसूक्ष्म-प्राणतत्त्व के परीक्षण के द्वारा आत्म-देवविज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित तत्त्ववाद का नाम ही यदि 'साम्प्रदायिकता' है, तो निश्चयेन हम साम्प्रदायिक हैं, और अवश्य ही हमारे सभी विधि-विधान भी साम्प्रदायिकता से ही आप्लुत हैं। कोई लज्जा नहीं है हमें ऐसी तत्त्व-मूला–साम्प्रदायिकता से। लज्जित उन्हें होना चाहिए, जो आज अपना सर्वस्व भूल कर दूसरों के अन्धानुकरण में भी सफलता प्राप्त नहीं कर रहे। अवनतशिरस्क उन्हें हीं बनना चाहिए, जिनका आज कोई स्वरूप ही नहीं

---

* देखिए ! भारतीय–दृष्टिकोण से–'विज्ञानशब्द' का समन्वय, नामक स्वतन्त्र निबन्ध।

है । न जिन की कोई संस्कृति, न साहित्य, न आदर्श, न आचार, और नाहीं सांस्कृतिक निष्ठा । अपितु वे यदि खड़े–खड़े भक्षण–चर्वण को सभ्यता कहते हैं, तो वैसा ही तदुच्छिष्टभोगी करने लग पड़े । वे यदि गौमाता को 'गन्दगी' मान रहे हैं, तो इन्होंनें भी इन पर नियन्त्रण लगा दिया । जिस गोवंश के संरक्षण के लिए भारतीय–स्वातन्त्र्य की आशा–प्रतीक्षा लगाए बैठा था यहाँ का जनतन्त्र, उस गोवंश–संरक्षण की चर्चामात्र से हमारी सत्ता के प्रमुख सत्ताधीश आज अभिनिविष्ट हो पड़ते हैं, इस से बड़ा दुर्भाग्य भारतीय–जनतन्त्र का और क्या होगा ? ।

१६४–राष्ट्रीय गोधन के सम्बन्ध में केवल चिकित्वान् प्रज्ञाशील राष्ट्रप्रेमियों के प्रति ही महर्षि का उद्बोधनसूत्र—

'प्र नु वो चं चिकितुषे जनाय–मागामनागामदितिं वधिष्ट' के अतिरिक्त शिष्टजनसम्मत और क्या उद्बोधन हो सकता है इस दिशा में । ऋषि की उद्बोधनभाषा का अर्थ स्पष्ट है । **''मैंनें 'चिकित्ट्' को, अर्थात् सुसूक्ष्म-तत्त्वों के सम्पर्क में आने वाले प्रज्ञाशील–विवेकी को यही कह देना पर्याप्त समझ लिया है कि, वह सर्वदेवमयी–अदिति–जीवनीयरसप्रदात्री 'अघ्न्या' गौमाता को कदापि उत्पीड़ित न करे''** । इसलिए उत्पीड़ित न करे कि, गौ, और इन्द्रप्राण अभिन्न है । इन्द्रप्राण सौरप्राण है । एवं–**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** इस सिद्धान्त के अनुसार सौर इन्द्रतत्त्व ही जड़-चेतन–पदार्थों की प्राणप्रतिष्ठा-आत्मप्रतिष्ठा बना हुआ है । तदभिन्न तद्रूप गौतत्त्व से समन्वित गौपशु को उत्पीड़ित करना अपनी केन्द्रप्रतिष्ठा को ही विचलित करना है । केन्द्रप्रतिष्ठा का प्रातिनिध्य करने वाली केन्द्रीय–सत्ता अवश्य ही भारतराष्ट्र की गौसम्पत्ति के इस केन्द्रीय–स्वरूप को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह करेगी, अविलम्ब करेगी, निश्चयेन करेगी । क्योंकि–**'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'** ।

१६५–वर्त्तमान स्वतन्त्र–सत्तातन्त्र के प्रमुख सत्ताधीशों के राष्ट्रीय–जागरण की मङ्गलकामना—

आत्मब्रह्मानुगत **ज्ञान**, तथा विश्वानुगत अनन्त **विज्ञान** के परपारद्रष्टा महामहर्षि यदि गौसेवा से अपने मानवीय–मनःशरीरानुबन्धी भौतिक–जीवन को धन्य–कृतकृत्य मानते थे, यदि सर्वव्यापक–सहस्रवल्शेश्वर-मूर्त्ति–अश्वत्थवृक्षात्मक सगुणेश्वर–भगवान् वासुदेवकृष्ण के लोकानुगत नन्दनन्दन स्वरूप के द्वारा गोचारण-कर्म्म इसी भारतभूमि पर घटित हुआ था, तो इसी भारत की उसी ऋषिभक्ता, सगुणावतारपरायणा निगमागम-पुराणसंस्कृतिपथानुगामिनी भारतीय-हिन्दूप्रजा के सर्वस्वदान पर सुसम्पन्न-समृद्ध बन जाने वाले वर्त्तमान स्वतन्त्र सत्तातन्त्र को भी 'गोवंश' जैसी महामहिमान्विता–विश्वोपयोगिनी लोकलक्ष्मी के संरक्षण में कदापि लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए । नहीं ही करेगा हमारा सांस्कृतिक–सत्तातन्त्र, इसी मङ्गल कामना के साथ उस तथ्य की ओर अब पुनः दीपावलीपर्वानुगामी सांस्कृतिक–मानव का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस तथ्य (गौ) का कमलासहयोगी इन्द्रतत्त्व के साथ प्रधान सम्बन्ध है ।

१६६–इन्द्रपूजनमहोत्सवानुगत मार्गपालीपूजन, और कार्त्तिकी अमावास्या—

अमोत्तरा प्रतिपत् तिथि–**'इन्द्रपूजनमहोत्सवतिथि'** है, यह पूर्व में निवेदन किया जाचुका है, जिसका अर्थ है–**'गोवंशपूजनमहोत्सवतिथि'** । इन्द्र और गौप्राण अभिन्न हैं । तभी तो–**'चत्वारि शृङ्गा त्रयो**

अस्य पादाः' इत्यादि सौरइन्द्रवर्णनात्मक मन्त्र में–'**महोदेवो वृषभो रोरवीति**' यह कहा गया है । इन्द्र वृषभ है, इन्द्रशक्तिरूपा प्राणशक्ति गौ है । दोनों का समन्वितरूप ही गोवंश है, जिसका पूजन ही गोवंशपूजन है, और यही इन्द्रपूजन है, जिस इस आयोजन का पारिभाषिक नाम है–'**मार्गपाली-महोत्सव**' । वह प्राणशक्ति, जो उन मार्गों की रक्षा करती है, जो कि मार्ग गौपशुधन के स्वच्छन्द विचरण के लिए नियत हैं, जो कि स्वच्छन्दपथ लोकभाषा में–'**गोचरभूमि**' नाम से प्रसिद्ध हैं,–"**गोचरपथं-गोचरभूमिं-च पालयति या प्राणशक्तिरिन्द्ररूपा**" निर्वचन से–'**मार्गपाली**' नाम से प्रसिद्ध हैं। पुनः तत्सम्बन्ध में कुछ और भी जान लेना है ।

१६७-आधिदैविक-प्राणमयी गौ की नैदानिक-प्रतिमा, एवं मार्गपाली-महोत्सव—

पूर्वप्रकरण के दशमहाविद्या-परिच्छेदों में नैदानिक-प्रतिमाभावों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, प्राकृतिक सुसूक्ष्म, अतएव परोक्ष प्राणशक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनुरूप-(समानधर्म्मा) भौतिक-द्रव्यों को निदानविधि से माध्यम बना लिया गया है । गोमार्ग-गोचर-भूमियों की संरक्षिका इन्द्रप्राणशक्ति का भी उसी अनुपात से नैदानिक-स्वरूप बना लिया जाता है । एवं गौरूपा वह नैदानिकी प्रतिमा हीं '**मार्गपाली**' नाम से प्रसिद्ध हुई है । वह ऐसा कौन सा अनुरूप द्रव्य है, जो इन्द्रप्राणशक्ति का प्रतीक है ?, यह प्रश्न आज के भूतविज्ञान के लिए जितना हीं अधिक दुरधिगम्य है, भारतीय-सांस्कृतिक-परम्परा के लिए प्रश्न उतना ही अधिक सरलतम है ।

१६८-अच्छिद्रपवित्र-सौर-आपोरूप वेनात्मक-ज्योतिर्म्मय-गौप्राण से उत्पन्न कुश (दर्भ), एवं तन्मयी मार्गपाली-प्रतिमा—

यहाँ के आबालवृद्धवनिता सभी उस पवित्र द्रव्य से परिचित हैं, जो 'पवित्र' नाम से ही इसके सांस्कृतिक-जगत् में प्रसिद्ध है । जो कि पवित्र द्रव्य 'दर्भ'-'कुशकाश'-'डाभ' आदि नामों से प्रसिद्ध है । 'दर्भपवित्रपाणिः' लक्षणा सम्मानित उपाधित से सभी आस्तिक परिचित हैं, जिस पवित्र उपाधि से समन्वित होकर ही भगवान् पाणिनि के पावन मुखपङ्कज से व्याकरणसूत्र आविर्भूत हुए हैं * । इन्द्रप्राणात्मिका सौर-संस्था में '**सहस्रधा महिमानः सहस्र**' रूप से प्रतिफलनरूपेण सर्वतः व्याप्त रहनें वालीं इन्द्रप्राणमयी रश्मियों का वैसा आलोकमण्डल बन गया है, जिस रश्मिमण्डल में सहस्ररश्मियों के इस सहस्रात्मक व्यूहन से अणुमात्र भी छिद्र नहीं रहता । अतएव सौररश्मि का पारिभाषिक नाम होगया है–'**अच्छिद्रपवित्र**', जैसाकि गौपशुपालक-गौपशुसेवक उन्हीं भारतीय आर्य्य-ऋषिमानवों के–'**सवितुः प्रसवेऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः**' (यजुःसंहिता) इत्यादि वचन से स्पष्ट है । इसी अच्छिद्रपवित्ररूपा इन्द्रप्राणशक्तिमयी रश्मि से पार्थिव '**दर्भद्रव्य**' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जिस इस '**दर्भोत्पत्तिविज्ञान**' के समन्वय के लिए तो वेदस्वाध्याय की ही शरण में आना चाहिए । कदापि यन्त्रसहस्रों से भी वर्तमान भूत-

---

* -**दर्भपवित्रपाणिः–शुचौ प्राङ मुखः–महता प्रयत्नेन-आचार्य्यः-सूत्राणि-रचयामास । तत्राशक्यं-वर्णेनाप्यनर्थकेन, किं पुनरियतासूत्रेण** । —वृद्धिरादैच्-सूत्रभाष्य-

विज्ञान तो इस रहस्य का उद्घाटन नहीं कर करता * । सुनते हैं-एकबार वृत्रासुरनें सम्पूर्ण त्रैलोक्य को वश में कर उस पर प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया । इन्द्र नें अन्वेषण कर उस का संहार कर डाला । इस वृत्रवध से स्वच्छ बने हुए रश्मिभुक्त 'वेन' नामक शुद्ध–ज्योतिर्म्मय 'आपः' से ही दर्भ उत्पन्न हुए (देखिए शत० १।१।३।५) । आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र की परिधि का जो अप्तत्त्व सौररश्मिमण्डल में भुक्त होकर पवित्र–ज्योतिर्म्मय बन जाता है, दर्भद्रव्य की प्रतिष्ठा यही पवित्र–आपः बनता है । और यों दर्भ इन्द्रप्राणशक्ति का अनुरूप नैदानिक-स्वरूप बन रहा है ।

१६६–गौप्राणमयी–रक्षादेवी, एवं तन्माध्यम से गौप्रधान पशुओं का पूजन, तथा तदनुबन्धी मार्गपाली--महोत्सव की इतिकर्त्तव्यता—

सौर–इन्द्रशक्ति से समन्वित इसी दर्भ से 'मार्गपाली' नाम की गौप्रतिमा बनाई जाती है, जिसे–**'रक्षादेवी'** भी कहा गया है । सत्ताधीश नृपति दर्भकुशकाश से विनिर्म्मिता इस 'मार्गपाली' रूपा रक्षादेवीरूपा गौ को अपने दुर्गस्तम्भ में रज्जु से बाँध देता है–(गौरूपभावनामाध्यम से) । अन्यान्य प्रजावर्ग यत्रतत्र घरों में, मार्गभित्तियों में, चतुष्पथों में यथासुविधा दर्भ से, किंवा चित्रभित्तिरूप से मार्गपालीदेवी की प्रतिमाएँ बना लेते हैं । सत्ताधीश अपने दुर्गप्राङ्गण में हस्ति-अश्व–गौ-वृषभादि सम्पूर्ण पशुओं का शृङ्गार कर यथविधि मार्गपाली का भी पूजन करता है, गौप्रमुख इन सब पशुओं का भी पूजन करता है । एवमेव प्रजावर्ग भी अपनी अपनी गृहदेवियों–मार्गपालियों के साथ अपने अपने गौ–वृषभ–साण्डादि पशुओं का सोत्साह पूजन करता हैं । इस तिथि को किसी पशु से भारवहन का काम नहीं लिया जाता ÷ । मुख्य लक्ष्य इन्द्रप्राणशक्ति से अभिन्ना लोकलक्ष्मीरूपा गौमाता का पूजन, तन्माध्यमेन इन्द्रपूजन ही इस मार्गपाली–उत्सव का है, जो उत्सव मध्याह्नोत्तर मनाया जाता है । विविध व्यञ्जनों के समावेश से पूर्वकथनानुसार यही लोक में–**'अन्नकूट-महोत्सव'** नाम से भी प्रसिद्ध है । गोवंश के अनन्य संरक्षक भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के द्वारा विघटित–**'गोवर्द्धन'** महोत्सव भी गोवर्द्धन-द्वारा इसी इन्द्रात्मक–गौतत्त्वपूजन का समर्थन कर रहा है । अवधान–पूर्वक लक्ष्य बनाइए निम्न लिखित वचनों को, जो गौवंश की प्राणात्मिका निगमसिद्धा महिमा का वर्णन करते हुए दीपावली के अङ्गभूत–मार्गपाली–महोत्सव की ही आचार–आयोजन–पद्धति का विश्लेषण कर रहे हैं—

ततोऽपराह्णसमये पूर्वस्यां दिशि नारद ! ॥
मार्गपालीं-प्रबध्नीयाद् र्गस्तम्भे च पादपे ॥१॥

---

*–शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य के तत्प्रकरण में इस विषय का विशद–वैज्ञानिक–विवेचन देखना चाहिए ।

÷–जबकि इसी भारतराष्ट्र से कृतशरीरी हमारे बन्धुगण मुसलमान इस दिन अवश्य ही भारवाही बैलों से बोझा उठवाना आवश्यक कर्त्तव्य मानते हैं । निश्चयेन यह सम्पूर्ण तन्त्र उस विदेशीसत्ता का ही कुफल है, जिसने इस बन्धुवर्ग को भी दिग्भ्रान्त किया है । जबकि भारतराष्ट्र के मुसलमान बादशाहों नें आदेशपूर्वक गोवध बंद कराने का आदर्श स्थापित कर अपने राष्ट्रप्रेम का परिचय प्रदान किया था ।

कुश–काशमयैर्दिव्यां संस्कारैर्बहुभिर्मुदा ॥
भूषयित्वा, गजानश्वानङ्कुशग्रहिसंयुतान् ॥२॥
गो–वृषान्, * महिषाँश्चैव घन्टाभरणभूषितान् ॥
भेरी–मृदङ्ग–पटह–वादित्र–ध्वनिनादितान् ॥३॥
तस्याः स्थाने नयेत् सार्यं शान्तिपाठादिनन्दितः ॥
मार्गपालि ! नमस्तुभ्यं सर्वानन्दप्रवर्त्तिके ॥४॥
तले तव सुखेनाश्वा गजा गावः प्रयान्तु मे ॥
राजानो राजपुत्राश्च ब्राह्मणाः शूद्रजातयः ॥५॥
मार्गपालीं समालिख्य वार्त्ताः स्युश्च सदैव हि ॥
ततो गावश्च सम्पूज्या गन्ध–पुष्पादिभिः क्रमात् ॥६॥
आत्मनः श्रेयसे भूप इति पूजां करोति हि ॥
"अग्रतः सन्तु मे गावो गावो मे सन्तु पृष्ठतः ॥७॥
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥
या लक्ष्मीर्लोकपालानां धेनुरूपेण संस्थिता ॥
क्षीरं वहति यज्ञार्थे मम पापं व्यपोहतु ॥८॥
या कामधेनुर्भवने च विष्णोर्या कामधेनुर्जमदग्निगेहे ॥
या सौरभेयी तु वसिष्ठगेहे, सा कामधेनुर्वरदा ममास्तु ॥९॥
कृत्वैतत् सर्वमानन्दाद्रात्रौ दैत्यपतेर्बलेः ।
पूजां कृत्वा पश्चात्–सम्यग्द्यूतं समाचरेत् ॥१०॥

—पद्मपुराणे–उत्तरखण्डे–कार्त्तिकमाहात्म्ये १२४ अध्याये

१७०–प्रतिपत् की रात्रि, एवं बलिपूजन महोत्सव, तथा तदन्ते च द्यूतक्रीड़ानुगति—

अमोत्तरा प्रतिपत् को अपराह्णकाल में उक्त विधि से गौपूजनात्मक–इन्द्रपूजनमहोत्सवरूप–मार्गपाली–सम्पन्न करने के अनन्तर रात्रि में दैत्यपति–बलि का पूजन विहित हुआ है–पुराण में आसुरप्राणमयी निर्ऋति के सम्मान में। तदनन्तर द्यूतकर्म्म का विधान हुआ है। तत्सम्बन्ध में भी दो शब्द प्रसङ्गधिया निवेदित हो रहे हैं।

---

* गज–अश्व–तो लक्ष्मी के सहयोगी रत्न है हीं। महिषरूप वारुणपशु को भी वरुणदेवता की तुष्टि के लिए मार्गपाली कर्म्म में परिगृहीत कर लिया है पुराणनें। क्योंकि देवप्रबोधिनीपर्य्यन्त वारुणप्राणानुशय विद्यमान है।

१७१–अक्षानुगता–सर्वथैव निन्द्या द्यूतक्रीड़ा, एवं महान् कितव प्रजापति के साथ द्यूत-क्रीड़ा का आदेश—

अक्षों–(फाँसों) से सम्बन्ध रखने वाली द्यूतक्रीड़ा (जुआ) भारतीय–संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा ही निन्द्य कर्म्म है। **'एक लगाना, और दस पाना ही'** आज के द्यूत का फल माना जाता है। संघर्षात्मक–उत्तरदायित्व-से शून्य मानव हीं अनुकूलता की दृष्टि से इस महान् निन्द्य द्यूत (वर्त्तमानयुग के सुप्रसिद्ध-**'सट्टा'**) पथ के भ्रष्टानुयायी बने हुए हैं। यदि द्यूत की अभिरुचि ही है, तो ऐसे कितव (जुआरी) के साथ ही जुआ खेलना चाहिए, जो कभी इस द्यूतकर्म्म में जीतना जानता ही नहीं। फलतः दाव लगाने वाला मानव जुआरी इस द्यूतकर्म्म में सदा विजयश्री ही उपलब्ध करता है। वह हारने वाला महान् कितव है–**'सम्वत्सरप्रजापति'**। इसके द्यूतप्राङ्गणरूप भूगर्भ में यव-गोधूमादि थोड़े से परिगणित बीजरूप 'अक्ष' (फाँसे) फैंक देने वाला मानव–कितव एक एक दाने से शत–शताधिक दाने प्राप्त कर लेता है। और यों यह मानव–कितव उस सम्वत्सरप्रजापतिरूप सविता कितव से विजयलाभ कर लेता है। भला ऐसे एकपक्षीय निश्चित–विजयानुगत द्यूतकर्म्म के अतिरिक्त अधिकांश में सम्भावित पराजयरूप अक्षपाशरूप द्यूतकर्म्म का कौन प्रज्ञाशील मानव अनुगमन करेगा ?। इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर अक्षात्मक द्यूतकर्म्म को सर्वथा निन्द्य बतलाते हुए, तत्स्थान में' कृषि' रूप अवश्यंभावी विजय से में समन्वित प्राजापत्य–द्यूतकर्म्म का विधान करते हुए ऋषि कहते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः–कृषिमित्–कृषस्व–वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव ! तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्य्यः ॥

—ऋक् सं० १०।३४।१३।

१७२–वस्तुक्रयविक्रयात्मक वाणिज्य, कृषि–गोरक्षा–लक्षण सत्तासिद्ध स्वधर्म्म से अत्यन्त विरुद्ध वर्त्तमानयुगीय भातिसिद्ध द्यूतकर्म्म (लोकप्रसिद्ध सट्टा) से भारत–राष्ट्र की सत्तासिद्धा लक्ष्मी का अभिभव—

महालक्ष्मीपूजनात्मक–मनोमय–वाक्प्रधान–दीपावलीपर्व का प्रधान सम्बन्ध मनस्तन्त्रपरायण–शरीर–वाङ्मय भोगप्रधान वैश्यवर्ग के साथ है। यही अर्थशक्ति का संग्रहकर्त्ता है। यही इस अर्थप्रलोभन से विगत ब्रिटिशशासनतन्त्र के पदचिन्हों का अन्य वर्गों की भाँति अन्धानुकरण करता हुआ निरतिशयरूपेण वित्तैषणा–गर्त्त में निमज्जित होता आरहा है। तत्सान्निध्य से ही अन्यान्य वर्ग भी आज इसी मलीमसा वित्तलिप्सा का अनुधावन करते जा रहे हैं। 'सट्टा' नामक सर्वस्वघातक द्यूतकर्म्म महान् अर्थलोलुप, अतएव महान् वणिक् ब्रिटिश सत्तातन्त्र के मस्तिष्क की ही प्रसूति है, जिसने भारतराष्ट्र के सत्तासिद्ध वस्तुक्रय–विक्रयात्मक वाणिज्य को, कृषिकर्म्म को, तथा सर्वोपरि–गोरक्षणकर्म्म को सर्वथा ही अभिभूत कर दिया है। धर्म्मशाला–चटशाला–पाठशाला-अनाथालयादि के माध्यम से अपनी धर्म्मभावना अभिव्यक्त करते रहने में अत्यन्त ही कुशल, सर्वथा धर्म्मरक्षक भी इस वैश्यवर्ग ने कृषि–गोरक्ष-वाणिज्यरूप–स्वधर्म्म का आत्यन्तिकरूप से परित्याग कर, साथ ही तत्स्थान में सर्वस्वसंहारक गुप्ततन्त्रों का अन्धानुकरण कर, सर्वोपरि भातिसिद्ध 'सट्टा' का अनुगमन कर भारतराष्ट्र की वित्तसम्पत्ति को सर्वथैव निष्प्राण प्रमाणित कर दिया है। **'यह लिया, इस भाव बेचा, वह दिया,**

और उस भाव दिया' के तुमुल निनादों से वियद्गङ्गा को भी आन्दोलित करते रहने वाले ये सट्टाधीश स्वयं सत्तारूप से उसी प्रकार यह भी तो नहीं जानते कि–क्या लिया, और क्या बेचा, जैसे कि सत्ताधीश अपने बहु–व्ययसाध्य वर्त्तमान योजनापथों के सत्तात्मक आयव्यय के मापदण्ड से अधिकांश में अपरिचित ही बने रहते हैं, और तद्दुष्परिणामस्वरूप ही योजनाओं का अधिक द्रव्यांश अज्ञातरूप से ही विलीन हो रहा है । इसी भातिसिद्ध महान् अभ्व–यज्ञ 'सट्टा' ने राष्ट्र के यच्चयावत् उपयोगी–जीवनीय–परिग्रहों को अस्मदादि सामान्य प्रजावर्ग के लिए दुर्लभ ही प्रमाणित कर दिया है । ऐसे सर्वस्वघातक–भातिसिद्ध–द्यूतकर्म्म का कदापि भारतीय–संस्कृति जब समर्थन नहीं करती, तो फिर पुराणशास्त्र ने दीपावली–महोत्सव के सम्बन्ध में–'पश्चात् सम्यग् द्यूतं समाचरेत्' यह आदेश क्यों, और किस आधार पर दे डाला ?, इति नु महती विप्रत्तिपत्तिर्जिज्ञासात्मिका * ।

१७३–द्यूतकर्म्म के अचेतन–जड़साधनात्मक 'द्यूत', तथा चेतनसाधनात्मक 'समाह्वय' नामक दो अवान्तर विभेद, एवं उभयभेदात्मक द्यूतकर्म्म से भद्रप्रजा का आत्यन्तिक उत्पीड़न, और तत्सम्बन्ध में राजर्षि मनु के उद्बोधनसूत्र—

मानवधर्म्मरहस्योपदेष्टा, आचारधर्म्मव्यवस्थापक राजर्षि मनुनें 'द्यूतकर्म्म' के सम्बन्ध में शासनतन्त्र के लिए जो विधान निश्चित किया है, वह भी द्यूतकर्म्म की हेयता का ही समर्थक बना हुआ है । द्यूतकर्म्म 'द्यूत', एवं 'समाह्वय' भेद से दो भागों में विभक्त माना है राजर्षिनें । अचेतन–जड़–पदार्थों के माध्यम से सम्बन्ध रखने वाला वाक्छल (वायदा) 'द्यूत' कह कहलाया है, एवं चेतनप्राणियों के माध्यम से सम्बद्ध वाक्छल 'समाह्वय' कहलाया है । अन्न–अन्न–वस्त्र–रूई–तिल–अरण्डा–सींगदाणा-सुवर्ण–रजत–ताम्रादि के भाति–सिद्ध नामों पर होने वाला वाक्छलात्मक द्यूत 'द्यूत' कहलाया है, जिसकी वर्त्तमाना लोकप्रसिद्धा अभिधा है–'खेला' । गज–अश्व–मेष–कुक्कुट–आदि चेतनप्राणियों को दाव पर लगा के किया जाने वाला, आवेश–पूर्वक आह्वान कर करके इन प्राणियों के माध्यम से किया जाने वाला द्यूत ही 'समाह्वय' कहलाया हैं ÷ । मनु कहते हैं–शासक का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र के सर्वविनाशक द्यूत, तथा समाह्वय नामक दोनों देवनकर्म्मों का स्वराष्ट्र से वह सर्वथा ही बहिष्कार करदे । क्योंकि ये द्यूतकर्म्मानुगामी नराधम राष्ट्र के वैसे चौर हैं, जो अपने बाह्य–सभ्यतापूर्ण वेश से प्रच्छन्नरूप से राष्ट्रशक्तियों का अपहरण ही करते रहते हैं । इस विकर्म्मात्मक असत्–कर्म्म से राष्ट्र की धर्म्मशीला शिष्टा–भद्रा–प्रजा नित्य ही उत्पीड़ित होती रहती है । अतएव अविलम्ब ऐसे कितवों (जुआरियों) को, निरर्थक नृत्य–गान–छल से व्यामोहन उत्पन्न करने वाले कुशीलवों को, निगमागम–विरोधी पाखण्डियों को, श्रुति-स्मृति–छल से, धर्म्मव्याज से बाह्य प्रतीकरूप बाह्य व्रतपरायण विकर्म्मस्थों को, एवं मद्यनिर्म्माता शौण्डिकों को राष्ट्र के बाहिर ही निकाल देना चाहिए । ऐसे प्रच्छन्न तस्कर ही राष्ट्र की मानवधर्म्मानुबन्धिनी ज्ञान–पौरुष–अर्थ–शक्तियों के अभिभव के कारण बन जाया करते हैं । देखिए !

---

* किन्ते द्यूतेन राजेन्द्र ! बहुदोषेण मानद ! ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥ —महाभारत

÷ अप्राणिभिर्यत्क्रियते, तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ —मनुः ६।२२३।

द्यूतं-समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ॥
राज्यान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥१॥
प्रकाशमेतत्-तास्कर्य्यं *-यद्देवन-समाह्वयौ ॥
÷ तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान् भवेत् ॥२॥
द्यूतं-समाह्वयं चैव यः कुर्य्यात्, कारयेत वा ॥
तान्सर्वान् घातयेद्राजा तस्मात्-शूद्राँश्च × द्विजलिङ्गिनः ॥३॥
तस्मात्-कितवान्-कुशीलवान्-क्रूरान्-पाखण्डस्थांश्च मानवान् ॥
विकर्म्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत् पुरात् ॥४॥
चतो हि-एते राष्ट्रे वर्त्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ॥
विकर्म्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥५॥
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरिकरं महत् ॥
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥६॥
—मनुः ६ सं० ।२२१ से २२७ पर्य्यन्त ।

वस्तुगत्या सभी प्रकार के द्यूतकर्म्म सर्वथैव यद्यपि निन्द्य, अतएव त्याज्य ही हैं भारतीय-सांस्कृतिक-क्षेत्र में । तथापि एकमात्र-'शकुनपरीक्षण' के माध्यम से दीपाली-कर्म्मप्रसङ्ग में इसका भी ग्रहण कर लिया है पुराणशास्त्र ने । सम्वत्सरनिबन्धन शुभ-अशुभ-शकुन का क्या स्वरूप है ?, प्रश्न का समाधान 'रक्षा-बन्धनपर्व' प्रकरण के 'शकुनपूजन' नामक अवान्तर परिच्छेदों में विस्तार से किया जाचुका है । अतः पिष्टपेषण अनावश्यक है । इसी शकुनपरीक्षण के लिए अपनी धर्म्मपत्नी के साथ, अथवा तो अधिक से अधिक अपने सपिण्ड-बन्धुवर्ग के साथ दीपावलीपर्वावसर पर विनोदरूपेण द्यूतकर्म्म विहित हुआ है । प्रसिद्ध है कि, दीपावलीपर्व के उपलक्ष में भगवान् शङ्कर ने माता पार्वती के साथ द्यूतक्रीड़ा की, जिसमें आदिदेव शङ्कर पराजित हुए, एवं आदिमाया भगवती ने विजयश्री का संवरण किया । फलस्वरूप शङ्कर भगवान् लोकलक्ष्मीरूपा भूतसम्पत्ति के आसङ्ग से वञ्चित होते हुए दिगम्बररूप में परिणत होगए, एवं आदिमाया महामाया जगदम्बा सर्वैश्वर्य्यमयीं बन गईं, जैसाकि निम्न लिखित पुराणसन्दर्भ से स्पष्ट है—

* दिन में धाड़ा-प्रकाशतस्कर्य्य-प्रत्यक्ष में देखते देखते डाका डालने वाले ।

÷ अपने द्यूतकर्म्म की सफलता के लिए ये प्रकटतस्कर बड़े बड़े छलपूर्ण-कौशलों का आविष्कार करते रहते हैं, और यों सत्तातन्त्र को भी अपने कौशल से ये व्यामोहन में डालते रहते हैं । अतएव शासक को प्रतिदिन-सदा ही जागरूक ही रहना चाहिए इनके सर्वनाश के लिए, 'तयोर्नित्यं प्रतिघाते०' इत्यादि की यही अर्थव्यञ्जना है ।

× कण्ठी-माला-तिलक-यज्ञोपवीत-रामानामीडुपट्टा-प्रतिदिन मन्दिरदर्शन-हरिकीर्त्तन-आदि आदि ब्राह्मणोचित-बाह्य लिङ्गों से समन्वित ऐसे बकवृत्तिपरायण द्यूतकर्म्मकुशलों को सहसा पहिचान लेना भी कठिन है । शासक यत्नपूर्वक ही इनका दमन कर सकता है । 'द्विजलिङ्गिनः' की यही व्यञ्जना है ।

शङ्करश्च पुरा द्यूतं ससर्ज्ज सुमनोहरम् ॥
कार्तिके शुक्लपक्षे तु प्रथमेऽहनि भूपते ! ॥१॥
जितश्च शङ्करस्तत्र जयं लेभे च पार्वती ॥
अतोऽर्थाच्छङ्करो दुःखी, गौरी नित्यं सुखोषिता ॥२॥
तस्माद् द्यूतं प्रकर्त्तव्यं प्रभाते तत्र मानवैः ॥
तस्मिन् द्यूते जयो यस्य, तस्य सम्वत्सरो शुभः ॥*।
पराजयो विरुद्धश्च लब्धनाशकरो भवेत् ॥३॥ —ब्रह्मपुराणे

१७४–प्रतिपदुत्तरा द्वितीया तिथि, और यमराजपूजनमहोत्सव—

यों अमोत्तरा–प्रतिपत् को गौपूजनात्मक **इन्द्रपूजनमहोत्सव**, तद्रात्रि में **बलिपूजनमहोत्सव**, मध्यरात्रि में शकुनपरीक्षणात्मक ÷ **द्यूतविनोदानुगमन**, इत्यादि सापेक्ष अङ्गकर्म्म सम्पन्न होते हैं। तदनन्तर कार्त्तिक शुक्ल–द्वितीया हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। इस तिथि को–**'यमराजपूजनमहोत्सव'** मनाया जाता है, जो कि माता निर्ऋति के सहयोगी माने गए हैं। अतएव यह तिथि–**'यमद्वितीया'** नाम से ही प्रसिद्ध हो गई है। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध 'यमयमीसूक्त' में यमतत्त्व की सुविशद वैज्ञानिक–व्याख्या की है महर्षि ने, जिसके समन्वय के लिए तो वेदस्वाध्याय ही शरणीकरणीय है।

१७५–धर्म्म, और यम–स्वरूप–परिचय, यमदंष्ट्रानुगत कार्त्तिक मास, एवं यमद्वितीया-पर्व—

द्वादश–आदित्य–प्राणों की समष्टिरूप सूर्य्य के अवसानशक्तिप्रधान, अतएव **'अन्तक'** नाम से प्रसिद्ध आदित्यप्राणविशेष का ही नाम हीं–'यम' हैं, जिनका शनैश्चरकक्षा में **धर्म्म**, और **यम**–रूप से महिमात्मक व्यक्तीभाव माना गया है। सौरज्योतिरनुगत वही तत्त्व **धर्म्मराज** है, जिसे **'पितृस्वर्ग'** का अधिष्ठाता माना गया है। एवं शनैश्चरानुगत–सूर्य्यविरुद्ध–दिक्स्थ, अतएव तमःप्रधान वही आदित्यप्राण **'यमराज'** है, जिसे चतुरशीतिविध **'नरक'** का अधिष्ठाता माना गया है। धर्म्मराज इन्द्रसहचारी हैं, एवं यमराज वरुणसहचारी हैं। सुप्रसिद्ध महिषपशु वारुणपशु माना गया है, जैसाकि इस (भैंस, और भैंसा) पशु की कात्वालीकृत (कादाकीचयुक्त) जलीय वारुणप्रदेश की प्रियता से स्पष्ट है। अतएव निदानरूपेण महिष को यमराज का वाहन मान लिया गया है। वारुणहेतिरूप 'पाश' (वरुणपाश) ही इस यम का भी शस्त्र मान लिया गया है, जिस यमपाश में आवद्ध कर यमराज अकर्म-विकर्म्मानुगत कुकर्म्मियों को यामीयातनाओं का

---

* इसी शुभाशुभशकुनपरीक्षण के लिए दाम्पत्योत्सव (विवाहमहोत्सव) पर वर-कन्यायुगल में लोकाचार में पारिवारिक गृहदेवियों के सान्निध्य में–साक्षी में द्यूतकर्म्म–प्रचलित हुआ है।

÷ लोकाचारपद्धति के अनुसार दीपावली की रात्रि में भी द्यूतकर्म्म समाविष्ट हो गया है।

सफल भोक्ता बनाते रहते है * । इसी सौर–यमप्राण के प्राधान्य से यमदंष्ट्रानुगत कार्तिकमास की यह द्वितीया-'यमद्वितीया' रूप से यममहोत्सव के लिए नियत होगई है आचारपद्धति में ।

'एष वै यमो य एषस्तपति' (शत० १४।१।३।४)–"अग्निर्वाव यमः' (गो० ब्रा० उ० ४.८)-"अग्निर्वै यमः, इयं पृथिवी यमी । आभ्यां हीदं सर्वं यतम्' (शत० ७।२।१।१०)–'यमो ह वाऽस्याः पृथिव्या अवसानस्येष्टे' (शत० ७।१।१।३।)-'किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति, यमदेवत-इति' (शत० १४।६।६।२२) इत्यादिरूपेण निगमशास्त्र में जिस यम–यमी–तत्त्व का विस्तार से निरूपण हुआ है, पुराणशास्त्र ने 'यमद्वितीयापर्वोत्सव' के माध्यम से उसी युग्म का बोधगम्या भाषा में उपबृंहण किया है, जिसका तात्त्विक–परिभाषात्मक समन्वय कर लेना निगमशास्त्रापेक्षया भी कठिन है पौराणिक–परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण ।

१७६–अम्भः–मरीचिः–श्रद्धा–मरः–नाम की अप्तत्त्वचतुष्टयी, एवं मरीच्यनुगता यमुना, यम–यमी, और तदनुगत 'भ्रातृद्वितीया (भाईदोज) पर्व—

पारमेष्ठ्य–पवित्र आपः 'अम्भः' कहलाए हैं, सौररश्मिभुक्त अग्निप्रकृतिक आपः 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध हैं, चान्द्रस्नेहगुणक आपः 'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं पार्थिव–क्षारभागयुक्त–मूर्च्छित–पेय आपः (पानी) 'मरः' नाम से प्रसिद्ध हैं । (देखिए–ऐतरेयोपनिषत्) । सोमप्रधान, अतएव शीतप्रकृतिक पारमेष्ठ्य–'अम्भः' ही गाङ्गेय (गङ्गाजल) की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । अग्निप्रधान, अतएव उष्ण–प्रकृतिक सौर 'मरीचितत्त्व' ही यामुनेय [यमुनाजल] की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । स्नेहगुणक, अतएव संगमन–प्रकृतिक चान्द्र 'श्रद्धातत्त्व' ही ओषधि की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है । एवं कूप-नद-नदी-समुद्रादि का सुप्रसिद्ध जल ही 'मरः' है । सौर–याम्य–मरीचिरूप–सूक्ष्म प्राणात्मक 'आपः' ही यमुनाजल का प्रवर्त्तक है । अतएव पुराणने यमुना को सूर्य्यपुत्री मान लिया है, जबकि तदनुगत–तद्गर्भीभूत आग्नेय प्राण का यमत्त्व भी प्रकृत्या ही प्रमाणित हो रहा है । और यों यमुनानदी 'यम–यमी' दोनों पुत्र–कन्याओं [भाई–बहिनों] के सम्बन्ध से समन्विता है । एवं इसी तथ्य के आधार पर यह यमद्वितीया-'भ्रातृद्वितीया' [भइय्यादोज, भाईदोज] आदि नामों से भी प्रसिद्ध होगई है । यमुनातट पर भगिनी के द्वारा भाई का भोजन करना अत्यन्त ही माङ्गलिक माना है पुराणशास्त्र ने, जिस माङ्गलिकता से यमुनातटवासिनी आर्षप्रजा आज भी समन्वित होती रहती है भ्रातृद्वितीया–तिथिपर्वावसर पर । निबन्ध का विस्तारभय अवरुद्ध करता जारहा है हमारे मनो–भावों को । अतः इन सब तत्त्वों का उत्तरदायित्व आर्षप्रजा की स्वाध्यायनिष्ठा पर छोड़ते हुए प्रकृत में भ्रातृद्वितीयात्मिका–यमद्वितीया से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय सांस्कृतिक वचन ही उद्धृत कर दिए जाते हैं ।

कार्त्तिके द्वितीयायां तु शुक्लायां भ्रातृपूजनम् ॥
या न कुर्य्याद्विनश्यन्ति भ्रातरः सप्तजन्मनि ॥१॥
कार्त्तिके शुक्लपक्षस्य द्वितीयायां युधिष्ठिर ! ।—लिङ्गपुराणे
यमी यमुनया पूर्वं मोचितः स्वगृहे स्वयम् ॥२॥

---

* देखिए–खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञानान्तर्गत–'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' नामक चतुर्थखण्ड ।

तस्मान्निजगृहे पार्थ ! न भोक्तव्यमतो बुधैः ॥
यत्नेन भगिनीहस्ताद् भोक्तव्यं पुष्टिवर्द्धनम् ॥३॥
दानानि च प्रदेयानि भगिनीभ्यो विशेषतः ॥—महाभारते
यमश्च, चित्रगुप्तञ्च *, यमदूतांश्च पूजयेत् ॥
अर्घ्यञ्चात्र प्रदातव्यं, यमाय, सहजद्वयैः ॥४॥
"एह्येहि मार्त्तण्डज ! पाशहस्त ! यमान्तकालोकधरामरेश !
भ्रातृद्वितीयाकृतदेवपूजां गृहाण चार्घ्यं भगवन्नमस्ते ॥५॥
धर्म्मराज ! नमस्तुभ्यं नमस्ते यमुनाग्रज !
पाहि मां किङ्करैः सार्द्धं सूर्य्यपुत्र ! नमोऽस्तुते ॥६॥"
यमुनाञ्च सम्पूज्य नमस्कुर्य्यात्—
"यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने ! लोकपूजिते !
वरदा भव मे नित्यं सूर्य्यपुत्रि ! नमोऽस्तु ते ॥७॥
अन्नं दत्त्वा पठेत्—
"भ्रातस्तवानुजाताहं भुङ्क्ष्व भक्तमिदं शुभम् ॥
प्रीतये यमराजस्य यमुनाया विशेषतः ॥८॥"
स्वसुर्नरो वेश्मनि यो न भुङ्क्ते यमद्वितीया-दिनमेव लब्ध्वा ॥
तं पापिनं सर्वसुराः प्रबुध्य संसारमार्गे रटयन्ति विप्र ! ॥९॥
पद्मपुराणे–उत्तरखण्डे–१६५ अध्याये

१७७–निर्ऋति–यम–वरुण–इन्द्र–गौ–दानवेन्द्रबलि–चित्रगुप्त-यमी-यमदूत–आदि आदि प्राणों की परितुष्टि से सम्बद्ध–सापेक्ष–अङ्गकर्म्मों के इतिवृत्त का उपराम, एवं दीपावलीपर्व—

तदित्थं–अमावास्या–तिथि से सम्बद्ध 'दीपालीपर्व' से अनुप्राणित, तत्सापेक्ष, अतएव तदङ्गभूत निर्ऋति, यम, वरुण, इन्द्र, गौ, बलि, चित्रगुप्त, यमी, यमदूत, आदि आदि प्राणोंकी परितुष्टि से सम्बद्ध कर्म्मविशेषों की इतिकर्तव्यता यमदीपदान, नूतनपात्रक्रय, तैलाभ्यञ्जन, वारुणस्नान, कृष्णवस्त्रपरिधान, अन्नकूट, इन्द्रपूजन, गौपूजन, मार्गपालीपूजन, बलिपूजन, यम–यमुना–यमीपूजन, चित्रगुप्तपूजन, यमदूतपूजन, इन आचारों के माध्यम से क्रमशः यथाविधि त्रयोदशी–चतुर्दशी–प्रतिपत्–द्वितीया–इन चार

* चित्रगुप्तानुबन्ध से ही यह द्वितीया–'मसीपात्रलेखिनीपूजनद्वितीया' [दवात–कलमपूजन] नाम से प्रसिद्ध है, जो चित्रगुप्त यमसदन के कर्म्मलेखक माने गए हैं।

तिथियों के द्वारा सम्पन्न हो जातीं हैं । अब शेष रह जाती है–मध्यस्था–अमावास्या तिथि, जिसमें प्रधानकर्म्मरूप लक्ष्मीपूजन विहित है । तत्सम्बन्ध में हीं किञ्चिदिव निवेदन कर प्रक्रान्त पर्वप्रकरण उपरत किया जारहा है ।

१७८–अलमतिपल्लवितेन पापकथाप्रसङ्गेन—

अमावास्या–तिथि मुख्यरूप से महालक्ष्मी **कमला**, तथा महाधनेश्वर **कुबेर**, इन दो प्रमुख देवताओं के पूजन से ही अनुप्राणित मानी गई है । इन्द्रपूजन–यमपूजन–मार्गपालीपूजन–बलिपूजन–यमुना–पूजन–गौपूजन–आदि आदि इतर अङ्गकर्म्मों की भाँति आज कुबेरपूजन भी विलुप्त हो गया है । आज तो शेष रह गया है इन सब श्री–ऐश्वर्य्य–प्रवर्त्तक–सहयोगी–प्राणदेवताओं से पृथक् हो जाने वाले जड़–भूतों का पूजन, जिसका नाममात्र 'लक्ष्मीपूजन' है । जोकि श्रीविहीन आज का जड़–भूत–पूजनात्मक–लक्ष्मीपूजन अलक्ष्मीपूजन ही बनता आ रहा है विगत तीन सहस्र–वर्षों से, इत्यलमतिपल्लवितेन–पापकथाप्रसङ्गेन ।

१७९–अमावास्या–तिथि से सम्बद्धा दीपाली-दीपावली, और दीवाली—

शब्दवास्तव में है–'दीपाली', जिसका निर्वचनार्थ है—'**दीपों की–आली–श्रेणि–पङ्क्ति**' । जिस पर्व में प्रधानरूप से दीपपङ्क्तियाँ प्रज्ज्वलित रहतीं हैं, वही पर्व–'**दीपाली**' कहलाया है, जो शब्दापभ्रंशरूपा यदृच्छात्मिका शब्दपरम्परा से '**दीपावली–दीवाली**' आदि विविध अभिधाओं में परिणत होगया है ।

१८०–दीपावली–पर्वानुगता दीपज्योतिः, एवं अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक प्रश्न—

लक्ष्मीपूजन–महोत्सवरूप–पर्व, और दीपपंक्ति, दोनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है । इसी प्रश्न के साथ दूसरा प्रश्न उस '**अग्निक्रीड़ा**' से सम्बद्ध है, जिसका लोकरूप आज-'**फूलझड़ीपटाका छुड़ाना**' आदि माना, और मनवाया जारहा है, जिसके लिए अतीत यवनयुग से–'**आतिशबाजी**' नाम भी प्रक्रान्त हो पड़ा है । दीपपंक्ति, तथा अग्निक्रीड़ा, दोनों हीं कर्म्म महालक्ष्मीपूजनतिथि के एकप्रकार से प्रधान अङ्ग बने हुए हैं लोकाचार में । क्या इन लोकाचारकर्म्मों में भी कुछ तथ्य है ?, प्रश्न के समाधान के लिए भी स्वतन्त्र–निबन्ध ही अपेक्षित माना जायगा, जिसका केवल–'**वैदिकज्योतिर्विज्ञान**' से ही सम्बन्ध माना गया है । प्रकृत में प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए दो शब्दों में ज्योतिर्भाव का स्वरूप व्यक्त कर दिया जाता है ।

१८१–विदेह जनक के युग से अनुप्राणित एक–'ब्रह्मोद्य' प्रसङ्ग—

सुप्रसिद्ध निगमनिष्ठ राजर्षि विदेह–जनक वर्ष में कई बार ज्ञान–विज्ञाननिष्ठ भारतीय ब्रह्मवेत्ताओं का सन्निध्य प्राप्त करते रहते थे । तत्र समवेत उस युग के ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियों के सम्मुख राजर्षि–जनक प्रणतभाव से प्रभूत सुवर्णदक्षिणा के माध्यम से अपनी तत्त्वमूला जिज्ञासाएँ अभिव्यक्त कर उनका विज्ञानसम्मत समाधान कर राष्ट्र की धर्म्मनिष्ठा के संरक्षण में समर्थ प्रमाणित होते रहते थे । यही तत्त्वचर्चा '**ब्रह्मोद्य**' नाम से प्रसिद्ध थी तद्युगों में । एकबार ऐसी ही समिति में राजर्षि जनक अत्यन्त प्रणतभाव से अपने कुलपुरोहित, उस युग के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक, अपने मेधावी शिष्य **सोमश्रवा** के द्वारा सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के द्रष्टा भगवान् याज्ञवल्क्य से यह जिज्ञासा व्यक्त करने लगे कि—

याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरयं पुरुषः ?

१८२-प्रजापति के तप से उत्पन्न सात अन्न, एवं पाँचवें ज्योतिरन्न के अवान्तर पाँच विवर्त्त —

हे याज्ञवल्क्य ! पुरुष (मानव) किंज्योति है ? । अर्थात् किस ज्योति का आश्रय लेकर मानव जीवित रहता है ? । प्रश्न की सापेक्षतापूर्त्ति उस वैदिक '**सप्तान्नविज्ञान**' पर अविलम्बित है, जिसका-'**यत्सप्तान्नानि तपसाऽजनयत् पिता**' इत्यादिरूप से विस्तार से उपबृंहण हुआ है । उपनिषदों में जिन सातों मानवीय अन्नों के-**ज्ञान, कर्म्म, शब्द, श्वासप्रश्वास, ज्योति, सलिल, मृत्**, रूप इन नामों का संस्मरण ही पर्य्याप्त होगा । मानव जिस मनःप्राणवाङ्मय-प्रजापति की प्रसूति है, उस मानव में इन तीन हीं पर्वों का तो समन्वय प्रकृतिसम्मत माना जायगा । मन ज्ञानशक्ति का उक्थ है, प्राण क्रियाशक्ति का उक्थ है, एवं वाक्तत्त्व अर्थशक्ति का उक्थ है, जैसाकि पूर्वपरिच्छेदों में यत्रतत्र स्पष्ट किया जाचुका है । **पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश**, पाँचों सुप्रसिद्ध भूत वाङ्मय हैं, जिन्हें तैत्तिरीय ने '**अन्नमयकोष**' रूप से संग्राह्य मान लिया है । इन पाँचों वाग्भावों का मूलाधार कर्म्मशक्तिरूप प्राण, तथा ज्ञानशक्तिरूप मन है । मन और प्राण की समष्टि **आत्मा** है, शेष वाङ्मय पाँचों भूतों की समष्टि पाञ्चभौतिक **शरीर** है । आत्मा और शरीर की समष्टि ही-'मानव' का स्वरूप-परिचय है, जिसके **मन--प्राण--आकाश--वायु--तेज--जल--मृत्**-रूप आत्म-शरीरानुबन्धी सातों मानवीय पर्वों की स्वरूपस्थिति के लिए ही प्रजापतिनें अत्यन्त तपोयोग से **ज्ञान--कर्म्म--शब्द--श्वासप्रश्वास--प्रकाश--जल--मृत्**--(यवगोधूमादि) ये सात अन्न उत्पन्न किए हैं । इन सातों में से तेजोरूप-प्रकाशान्न के सम्बन्ध में हीं जनक प्रश्न कर रहे हैं कि, **भूतज्योतिर्लक्षण** इस तेज का क्या स्वरूप है ? ।

१८३-पञ्चविध भूतज्योतिर्विवर्त्त, एवं ज्योतिषां ज्योतिः—

ज्योतिस्तत्त्व **ज्योतिषां ज्योतिः, ज्योतिः**, रूप से दो भागों में विभक्त माना गया है । लोकभाषा में 'ज्ञानज्योति' नाम से प्रसिद्ध '**आत्मज्योति**' ही इसलिए '**ज्योतिषां ज्योतिः**' है कि, जबतक मानवसंस्था में यह आत्मज्योति स्वस्वरूप से अभिव्यक्त रहती है, तभीतक ही मानव की जीवनसत्ता सुरक्षित रखती है । विश्वज्योतिर्लक्षणा जीवनसत्ता क्योंकि आत्मज्योतिःसत्ता पर ही अवलम्बित है । अतएव विश्वज्योतिरूप-'ज्योति' भाव की अपेक्षा आत्मज्योति को अवश्य ही **ज्योतिषां (भूतज्योतिषां) ज्योतिः** कहना अन्वर्थ बन जाता है । **सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-विद्युत्-अग्नि**-भेद से भूतज्योतिर्लक्षण-विश्वज्योति के पाँच प्रधान विवर्त्त हैं, जो कि-पाँचों हीं भूतज्योतियाँ आत्मज्योतिर्लक्षण-ज्योतिषां ज्योति-रूप-ईश्वरीय-ज्योति (अव्ययज्योति) से ही प्रकाशित हैं, जैसाकि श्रुति कहती है—

न तत्र सूर्य्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

—मुण्डकोपनिषत् २।१।१०।

१८४-आधिदैविक-आध्यात्मिक-अधिभौतिकरूप-तीन ज्योतिर्विवर्त्त—

उक्त पाँचों भूतज्योतियों में से 'नक्षत्र (तारक) ज्योति' का चन्द्रज्योति में अन्तर्भाव है, एवं-'**विद्युद्वा इन्द्रः**' के अनुसार विद्युज्ज्योति का इन्द्रप्राणमयी-सूर्य्यज्योति में अन्तर्भाव है । फलतः पाँच के

सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि, रूप से तीन हीं भूतज्योतिर्विवर्त्त शेष रह जाते हैं । सौरज्योति ही **'स्वज्योति'** है, चान्द्रज्योति ही **'परज्योति'** है, एवं पार्थिव-आग्नेयज्योति ही **'रूपज्योति'** है । और इन तीनों लोकों की तीनों ज्योतियों की समष्टि का नाम ही **'भूतज्योति'** है, यही है-**'आधिभौतिकज्योति'** । आत्मब्रह्मरूपा सर्जव्याप्ता ज्योति ही-**'आधिदैविकज्योति'** है, एवं प्राणिशरीरानुगता ध्वनिवाग्रूपा, एवं मानवशरीरानुगता (वागिन्द्रियानुगता) वर्णस्वरस्फोटलक्षणा वाग्ज्योति ही **'आध्यात्मिकज्योति'** है । यों भूत-दैवत-अध्यात्म-रूपेण सम्पूर्ण ज्योतिविवर्त्तों के तीन प्रधान विवर्त्त हो जाते हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१-सर्वव्यापकं—आत्मब्रह्मलक्षणं—ज्ञानज्योतिः]—आधिदैविकज्योतिः १

२-प्राणिशरीरानुगतं – वाग्ब्रह्मलक्षणं कर्म्मज्योतिः]—आध्यात्मिकज्योतिः २

३-सूर्य्यज्योतिर्लक्षणं——स्वज्योतिः
४-चन्द्रज्योतिर्लक्षणं——परज्योतिः } —आधिभौतिकज्योतिः ३
५-अग्निज्योतिर्लक्षणं——रूपज्योतिः

} त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी

१८५ -भगवान् याज्ञवल्क्य के द्वारा ज्योतिर्विवर्त्त का स्वरूपदिग्दर्शन—

हाँ, तो जनक के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने क्या उत्तर दिया?, प्रश्न का प्रथम समाधान-वाक्य है- **"आदित्यज्योतिः सम्राट्-इति होवाच"** । हे सम्राट् ! सूर्य्यज्योति को आधार बना कर ही मानव जीवित रहता है । **'अस्तमिते-आदित्ये-याज्ञवल्क्य ! किंज्योतिरयं पुरुषः'** (सूर्य्यास्त हो जाने पर रात्रि में किस ज्योति के आधार पर मानव जीवित रहता है ?) प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया-**'चन्द्रज्योतिः सम्राट्'** इति । पुनः वही प्रश्न कि, जब (कृष्णपक्ष में) चन्द्रमा भी न रहे, तो कौनसी ज्योति अवलम्ब बनती है ? । उत्तर दिया गया-**'अग्निज्योतिः सम्राट्'** इति । अग्नि के सहयोगी कारणों की अनुपलब्धि पर जब अग्निज्योति भी उपशान्त हो जाय, तो उस दशा में किस ज्योति को लेकर मानव जीवित रहता है ?, प्रश्न का उत्तर हुआ **'वाग्ज्योतिः सम्राट्'**-इति । जब सूर्य्य-चन्द्र अस्त हो जाय, अग्नि उपशान्त (बुझ) हो जाय, वाङ्मय-शब्दज्योति भी उपशान्त-अनुपलब्ध हो जाय, तो उस दशा में किस ज्योति को आश्रय बना कर मानव जीवन धारण करता है ?, इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'आत्मज्योतिः सम्राट्'** इति, जिस इस उत्तर का अर्थ है-संस्कारज्योतिर्म्मय-प्रज्ञानसम्परिष्वक्त विज्ञानात्मा से समन्वित संस्कारी वह भूतात्मा (देही जीवात्मा), जो सर्वव्यापक-**'ज्योतिषांज्योति'** लक्षण आत्मब्रह्मरूप चिदात्मा का ही चिदंश है । (देखिए शत० ७।७।१ ब्राह्मण १ कण्डिका से ६ कण्डिका पर्य्यन्त) ।

१८६--लौकिक उदाहरण के माध्यम से पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का समन्वय—

लौकिक-उदाहरण के माध्यम से समन्वय कीजिए उक्त पाँचों ज्योतिर्विवर्त्तों का । एक व्यक्ति सौरज्योति-र्म्मय अहःकाल (दिन) में निर्भयरूप से शून्य-आरण्य-प्रदेशों में भ्रमण कर लेता है । सूर्य्य के अस्त हो जाने पर भी चन्द्रज्योत्स्ना [चाँदनी] इस परिभ्रमणशील मानव में साहस प्रदान कर देती है । तदभाव में इसे दीपज्योति-उल्मुकज्योति, और आज की सभ्यता में 'टार्चलाइट्' आदि आग्नेय प्रकाशों की

अपेक्षा हो पड़ती है अपने एकान्त भ्रमण—व्यासङ्ग में। यदि इस तीसरी अग्निज्योति का भी अभाव हो जाता है, तो इसे समानसहयोगी की वाग्ज्योति (शब्दज्योति) बलप्रदान करती रहती है इस एकान्त परिभ्रमण में। इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, आप कृष्णपक्ष की घोरघोरतमा त्रयोदशी—चतुर्दशी—अमावास्यादि रात्रियों में निर्जन-आरण्य-प्रदेशों में घूमने निकल पड़ते हैं। सूर्य्य-चन्द्र—अग्नि- तीनों ज्योतिरन्नों के न मिलने से आपके मनोराज्य में भय का सञ्चार होने लगता है। इसी भयसञ्चारकाल में यदि चलते चलते सहसा आपकी श्रोत्रेन्द्रिय किसी सजातीय—वाग्ज्योति (मानवभाषा—बोलचाल) की अनुगामिनी बन जाती है, तो तत्क्षण भय के स्थान में इस वागग्निज्योतिः* के प्रवेश से साहस का, अभयवृत्ति का उद्गम हो पड़ता है। यही चौथी वाग्ज्योति का निदर्शन है। यदि दुर्भाग्यवश इस भयसञ्चरणावस्था में वाग्ज्योति भी कहीं से उपलब्ध नहीं होती, तो सर्वबाह्यज्योति-निरोधदशा में आप अपने बल के आधार पर ही साहस सञ्चित कर इस भय से परित्राण करने लग पड़ते हैं। 'अपना बल' का अर्थ है--संस्कारात्मक भूतात्मा का बल, जिसे **'आत्मज्योति'** कहा गया है, जिसका कि व्यावहारिक नाम है—**'संस्कारज्योति'**। "यदि कोई मुझ पर आक्रमण करेगा, तो मैं इधर बच जाऊँगा, उधर निकल जाऊँगा, वृक्ष पर चढ़ जाऊँगा" इत्यादिरूपेण अपने संस्कार—प्रकाश से ही इस भयावस्था मे जीवनसत्ता को अवलम्ब मिलता रहता है। यदि दुर्भाग्यवश आप इस अपने अन्तिम स्वानुगत—आत्मप्रकाश से भी वञ्चित हो जाते हैं, तो अन्ततोगत्त्वा मानवीव भूतात्मा पाँचों हीं ज्योतिरन्नों से आत्यन्तिकरूप से वञ्चित होकर हृद्गत्यवरोध से भौतिक शरीर का ही परित्याग कर देता है। एवं इसी पञ्चविध ज्योतिर्भाव को लक्ष्य बना कर श्रुति ने—**'किंज्योतिरयं-पुरुषः ?'** प्रश्न का--**'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** ही समाधान किया है।

१८७--पञ्चज्योतिर्विवर्त्त का सूर्य्यज्योति में अन्तर्भाव—

उपर्युक्त ज्योतिःस्वरूप—दिग्दर्शन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, जीवनसत्ता का आधार (ज्ञान-कर्म्मादि इतर अन्नों की भाँति) ज्योतिस्तत्त्व भी है, एवं प्रमुखरूप से है। जिन पाँचों ज्योतियों का भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्टीकरण किया है, सौरब्रह्माण्डानुगत (सौरब्रह्माण्डगर्भीभूत) पार्थिव—विश्व में निवास करने वाले मानव की पाँचों ज्योतियों का तत्त्वतः **'सूर्य्यज्योति'** में हीं अन्तर्भाव हो रहा है। **'इत्था चन्द्रमसो गृहे॰'** (ऋक्सं॰ १।८४।१५।) के अनुसार परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा का प्रकाश (चन्द्रज्योति) वस्तुगत्या सौररश्मि—ज्योति का ही प्रतिफलन है। इस दृष्टि से चन्द्रज्योति सूर्य्यज्योति में हीं अन्तर्भूत हो रही है, जैसाकि—**'दिनकर-दिशि चञ्चचन्द्रिकाभिश्चकास्ते'** (सिद्धान्ततत्त्वविवेक) इत्यादि ज्यौतिष—सिद्धान्त से भी स्पष्ट है। भूपिण्ड सूर्य्य का ही उपग्रह है। सौर सावित्राग्नि ही—**'अग्निर्देवेभ्यो निलिल्ये'** सिद्धान्तानुसार पार्थिव गायत्राग्निरूप में

---

* **अग्निर्वाग्भूत्त्वा मुखं प्राविशत्'** इत्यादि श्रौतसिद्धान्त के अनुसार शब्दात्मिका सरस्वतीवाक् अङ्गिरोऽग्निमयी है। शारीराग्नि ही मन की प्रेरणा से प्राणवायु के द्वारा वक्षस्थल—कण्ठ—एवं मूर्द्धा (मस्तक-कपाल) से प्रत्याहत होकर अनुदात्त—स्वरित—उदात्त—स्वरों में परिणत होता हुआ मन्द—मध्य—तार—भावात्मक शब्दविवर्त्तरूप में परिणत हो रहा है। और यों वाङ्मय शब्दविवर्त्त-**'वागात्मा'** इस श्रुति के अनुसार आध्यात्मिक—ज्योतिः बन रहा है (देखिए—पाणिनीयशिक्षा—**'मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम्'** इत्यादि सन्दर्भ)।

परिणत हो रहा है। फलतः अग्निज्योति भी सूर्य्यज्योति में हीं अन्तर्भूत है। 'वाक्-पतङ्गाय धीयते-इन्द्रो-वाक्-अनुष्टुभमनु चच्चुर्य्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा' इत्यादि सिद्धान्तानुसार वाग्ज्योति भी सौर इन्द्रज्योति में हीं अन्तर्भूत है। एवं-'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजुःसं० १३।४६।) के अनुसार मानवीय भूतात्मा से अभिन्ना आत्मज्योति भी सूर्य्यद्वारानुगता बनती हुई सूर्य्यज्योति में हीं अन्तर्भूत है। तदित्थं 'रोदसी-त्रैलोक्य' नामक सौरब्रह्माण्ड के गर्भ में प्रतिष्ठिता चर-अचर-प्रजा के प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण सर्वस्वात्मा विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्यनारायण हीं प्रमाणित हो रहे हैं। सृष्टिकालात्मक पुण्याह-काल के ये ही भाग्यविधाता हैं। इनकी अव्यक्तावस्था ही 'प्रलय' कहलाई है। 'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'-'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'-'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः' इत्यादि निगमवचन इसी तथ्य का समर्थन कर रहे हैं।

१८८-देवदेवता, तथा असुरदेवता-तत्त्वों का स्वरूप-परिचय—

सौर इन्द्रप्राणात्मक प्रकाश सूक्ष्म प्रकाश है, यही आधार है व्यक्तजगत् का। भूतप्रकाश ही स्थूल प्रकाश है, यही आधेय है। दृश्य-भूतभौतिक पिण्ड के असंख्य परमाणुओं (क्षरों-विकारों) को अमुक नियत कालावधिपर्य्यन्त एक सूत्र में आबद्ध कर तत्परमाणुसंघरूप वस्तुपिण्ड (भूपिण्ड) को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखने वाला सुसूक्ष्म, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्राओं के मात्राधर्म्मों (भूतधर्म्मों) से असंसृष्ट, अतएव मात्राग्राहिणी इन्द्रियों से अतीत, अतएव च अधामच्छद। (स्थान न रोकने वाला) कूटस्थ-तत्त्व ही 'प्राण' की स्वरूप-परिभाषा है। प्राण ही भूतपिण्ड की शक्ति (दम) है। प्राण के अन्तर्विलीन हो जाने पर भूतपरमाणुओं का संघठन छिन्न भिन्न हो जाता है, भूतपिण्ड विशकलितावस्था में आकर विनष्ट हो जाता है। भूताधार यही कूटस्थ प्राणतत्त्व निगमपरिभाषा में 'देवता' नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। ऋषि-पितर-देव-असुर-गन्धर्व-आदि सभी प्राण 'देवता' हैं। अतएव-'ऋषिदेवत्य-असुरदेवत्य-पितृदेवत्य आदि व्यवहार प्रतिष्ठित हैं। असुर-प्राणविरोधी सौरप्राणदेवता ही 'देव' कहलाए हैं। कदापि 'देव' और 'देवता' शब्द पर्य्याय नहीं हैं। 'देवता' सभी प्राण हैं। किन्तु 'देव' सौर-पार्थिव-चन्द्रादि-दिव्यप्राण हीं कहलाए है, जैसाकि शतपथभाष्य के अष्ट-विध-देवतास्वरूपविज्ञान में विस्तार से प्रतिपादित है।

जिन त्रिविध भूतज्योतियों का, तथा वाक्, और आत्मज्योतियों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन पाँचों ही ज्योतिर्विवर्त्तों का सौर-प्राणज्योतिर्विवर्त्त में हीं अन्तर्भाव है, जिसे हम 'दिव्य-प्राणज्योति' ही कहेंगे। इस प्राणज्योति के अभिभूत हो जाने पर विद्यमाना भी भूतज्योति स्वस्वरूपरक्षण-विकास में असमर्थ हो जाती है, जैसाकि-श्री और लक्ष्मी के तात्त्विक-स्वरूप के विश्लेषण-प्रसङ्ग में पूर्व में अनेकधा स्पष्ट किया जा चुका है।

१८९-इन्द्रः सर्वा देवताः, अग्निः सर्वा देवताः--का समन्वय—

ज्योतिर्म्मय सौर ऐन्द्र प्राणदेवता ही 'देवदेवता' हैं, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है, जिनके आत्मज्योति-वाग्ज्योति-सूर्य्य-चन्द्र-अग्निज्योति-रूप पाँच विश्वज्योति-विवर्त्त हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत तमोमय प्राण-तत्त्व का ही नाम 'असुरदेवता' हैं। अन्धकार, और पानी, दोनों असुरप्राण की आधारभूमि हैं। अबूगर्भित अन्धं तमः में व्याप्त रहने वाला आसुरप्राण ही-'सर्वं वृत्त्वा शिष्ये' निर्वचन से-'वृत्रासुर' नाम से प्रसिद्ध है। एवं तमोगर्भित आपः में व्याप्त रहने वाला आसुरप्राण ही 'यदवृणोत' निर्वचन से अपने संवरणधर्म्म से

'वरण:' कहलाया है, जो कि–'**वरणं सन्तं–वरुणमित्याचक्षते परोक्षेण**' के अनुसार–'**वरुण**' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। तमःप्रधान असुरप्राण '**वृत्र**' है, अप्प्रधान असुरप्राण '**वरुण**' है। एवं वरुण, तथा वृत्र ही नवतीर्नव (९९) कोटियों में विभक्त असुरप्राणों के अधिनायक मान लिए गए हैं। '**सर्वे असुराः-आप्याः–वारुणा, तमोमयाः–वृत्राः**' यही वक्तव्य–निष्कर्ष है। उधर सौरमण्डलभुक्त ज्योतिर्म्मय केन्द्रस्थ उक्थप्राण '**इन्द्र**' कहलाया है, जिसके आवासलोक प्रकाश–लक्षण ज्योतिर्भाव, तथा तापलक्षण अग्निर्भाव माने गए हैं। अवान्तर ३३ कोटियों (विभागों) में विभक्त, अतएव–'**त्रयस्त्रिंशद्वै सर्वे देवाः**' इत्यादि रूप से उपवर्णित सम्पूर्ण यज्ञिय–देवदेवताओं के मूलाधिष्ठाता इन्द्राग्नी ही मान लिए गए हैं, जैसाकि–'**इन्द्रः सर्वा देवताः**, (शत० ३।४।२।२)–**अग्निः सर्वा देवताः**' (शत० १।६।२।८) इत्यादि निगमों से प्रमाणित है।

१९०–इन्द्र–वरुणात्मक अहोरात्र, एवं देवासुरप्रतिस्पर्द्धा—

इन्द्र, और वृत्र में, इन्द्रात्मक मित्र, और वृत्रात्मक वरुण में, दूसरे शब्दों में देवदेवता, और असुर–देवताओं में, तम और ज्योति में सदा से ही प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त है, जिसके महान् प्रतीक **अहः**, और **रात्रि** बने हुए हैं। पूर्वाधिपति इन्द्र–मित्र, तथा पश्चिमाधिपति वृत्र–वरुण का सहज संघर्ष प्रकृतिसिद्ध है। इसी आधार पर तो '**अश्वमाहिष्यन्याय**' प्रतिष्ठित हुआ है। इस संघर्ष की रङ्गस्थली बनता है–सम्वत्सरमण्डल। सम्वत्सर के १२ महीनों में से चार मास पर्य्यन्त असुरप्राण का बल प्रवृद्ध रहता है, एवं यही देवसुषुप्तिकाल माना गया है, जैसाकि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है। शेष अष्टमासात्मक गायत्रसम्वत्सर में देवप्राण प्रवृद्ध रहता है। वर्षाकालानुगत चार मासों में भी आश्विन के आठ दिवस, पूरा कार्त्तिकमास, एवं मार्गशीर्ष के आरम्भ के आठ दिन–तत्रापि विशेषतः कार्त्तिक–कृष्णपक्ष आसुरप्राण के निग्राभ (उतार) के कारण अत्यन्त ही भयावह मान लिए गए हैं, जैसाकि–'**आश्विनस्य दिनान्यष्टौ–अष्टावाग्रायणस्य च। समस्तः कार्त्तिको मासो यमदंष्ट्रे ति गीयते**' इत्यादि से स्पष्ट है।

समस्त कार्त्तिकमास, तत्रापि कृष्णपक्ष, तत्रापि अमावास्या तिथि, तत्रापि रात्रि तो अत्यन्त ही भयावहा प्रमाणित हो रही है तत्त्वदृष्ट्या, जिसमें मानवजीवन के आधारभूत सभी ज्योतिर्विवर्त्त एकप्रकार से सभी दृष्टियों से अभिभूत प्रमाणित हो रहे हैं। आश्विनमासीय श्राद्धपक्ष से ही सूर्य्यनारायण सुप्रसिद्धा '**कन्याराशि**' से समन्वित रहते हैं। ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार तत्सम्बन्ध से ही श्राद्धपक्ष '**कन्यागत महालय श्राद्धपक्ष**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका सुप्रसिद्धा मघानक्षत्रानुगता '**गजच्छाया**' से सम्बन्ध माना है श्राद्धतत्त्वज्ञ विद्वानों नें। यद्यपि यह ठीक है कि कार्त्तिक–अमावास्या पर सूर्य्य तुलाराशि से समन्वित हो जाता है। तथापि आश्विनमासीया–कन्याराशि की भुक्ति सौरदिव्यप्राण को आत्यन्तिकरूप से उस सीमापर्य्यन्त मूर्च्छित कर देती है, जिस सीमा का आत्यन्तिक विशोधन तो कार्त्तिकशुक्ल–प्रबोधिनी–एकादशी को ही होता है। इसी तेजोहीनता से कन्यागत सूर्य्य–'**नीच का सूर्य्य**' मान लिया गया है फलितज्यौतिष की परिभाषा में।

१९१–कार्त्तिकी अमावास्या की रात्रि, एवं तत्र सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-ज्योतित्रयी का आत्यन्तिक अभिभव—

सर्वोपरि सौर–इन्द्रप्राणमय–ज्योतिर्भाव को अभिभूत करने वाला वृत्रसमन्वित–वारुणप्राण तो विद्यमान है ही इस अमावास्या में भी। इन सब प्राकृतिक कारणों से कार्त्तिकी–अमारात्रि सूर्य्यज्योति के प्राकृतिक-

दिव्यप्राणातिशय के साक्षात् अनुग्रह से वञ्चित हो रही है। चान्द्रज्योति का अभाव तो स्पष्ट ही है। वर्षात्मक–वारुणभोग–काल से पार्थिव–अग्निज्योति भी अभिभूत ही प्रमाणित हो रही है। इन तीनों भूतज्योतियों के अभिभूत रहने के कारण संस्कारलक्षणा–आत्मज्योति, तथा पार्थिवाग्निप्रवर्ग्यभूता वाग्ज्योति का मान्द्य भी स्वतःसिद्ध है। यों पाँचों हीं व्यक्त ज्योतिर्भाव एकप्रकार से अभिभूत ही हो रहे हैं इस अमारात्रि को, जिसमें महालक्ष्मीपूजन विहित है।

१६२–आकाशीय दीपदान, पार्थिव दीपदान, उल्मुकप्रज्ज्वलन, अग्निक्रीड़ा, आदि के द्वारा कृत्रिम ज्योतिर्भावों की अनुगति, एवं ज्योतिःसम्पादक दीपावलीपर्व—

इसीलिए इस रात्रि में कृत्रिम ज्योति, कृत्रिम प्रकाश, एवं कृत्रिम ताप–कृत्रिम–अग्नि का समावेश हो गया है यहाँ के सांस्कृतिक–आयोजन–व्यवस्थापकों के द्वारा। सौर इन्द्रप्रकाश का प्रातिनिध्य दीपक–उल्मुक–कर रहे हैं, एवं अग्निज्योति का प्रातिनिध्य अग्निक्रीड़ा (आतिशबाजी) कर रही है। वातावरण में व्याप्त आसुरप्राण के निरोध के लिए ही कार्त्तिकमास में '**आकाशदीप**' प्रज्ज्वलित किया जाता है [जाता था–वर्त्तमान स्वातन्त्र्ययुग से पूर्वपर्य्यन्त, अर्थात् १० वर्ष पूर्वतक]। भुक्त वारुणान्न–जनित दोषोपशम के लिए विहित कार्त्तिक मासोपवास-विविध–पञ्चभीष्मादि [लोकभाषा में पचभीषण] व्रत पर्वानुष्ठान, सान्तपनाग्निप्रज्ज्वलन के द्वारा दुरित–क्षय के लिए विहित सान्तपनाग्निमूर्त्ति निगमनिष्ठ ब्राह्मण का पूजन सत्कार, अग्निक्रीड़ा, दीपदान, आदि आदि महतोमहीयान् माङ्गलिक क्रत्वर्थ–कर्म्मों से समन्वित '**महालक्ष्मीपूजन–महोत्सव**' का यही प्रासङ्गिक–स्वरूप–विश्लेषण है, जिसे पश्चिम के भौतिक–चाकचिक्य से प्रभावित होकर अपनी निगमागमपुराणनिधि को विस्मृत कर हमनें वारुण–आसुर-सम्प्रदाय का ही आतिथ्य करना आरम्भ कर दिया है। लोक-वित्तैषणात्मक वारुणपाशबन्धन से बड़ा आसुरबन्धन और क्या होगा ?, जिस पाश में सर्वात्मना आबद्ध होकर भारतराष्ट्र आज श्रीविहीना अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी को ही राष्ट्रलक्ष्मी मानने मनवाने की महती भ्रान्ति करता जारहा है।

१६३–श्रीविहीना–अलक्ष्मीरूपा–उल्लूवाहिनी-लक्ष्मी, और केवल वित्तपराओं के द्वारा मध्यरात्रि में तत्पूजनाह्वान—

अब दो शब्दों में लक्ष्मीपूजनात्मक–सांस्कृतिक–आयोजन की इतिकर्त्तव्यता का भी समन्वय कर लीजिए। अमावास्या–तिथि में किस समय लक्ष्मीपूजन करना ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है, जिसके समाधान में मान्यतानुबन्धी अनेक विकल्प हो पड़े हैं। अर्थैषणासक्त मानवविशेषोंनें यह मान्यता बना रक्खी है कि, "अर्द्धरात्रि में हीं लक्ष्मीपूजन करना चाहिए। क्योंकि इस समय प्रायः सभी निद्रानिमग्न हो जाते हैं। फलतः सबको सोता देखकर लक्ष्मी मुझ जागते रहने वाले पर ही अनुग्रह कर देगी"। सबको शयनाभिमुख बना कर जो अपने वैय्यक्तिक–स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए श्रीविहीना लक्ष्मी का ही सञ्चय करना जीवन का मुख्य पुरुषार्थ मानते हैं, उन पर अवश्य ही जड़भूतरूपा, परिणाम में अलक्ष्मीरूपा लक्ष्मी अनुग्रह कर देती होगी।

१६४–श्रीसमन्विता लक्ष्मीरूपा पद्मासना लक्ष्मी, एवं उसका अभ्युदय–निश्रेयस्–परायण मानवों के द्वारा प्रदोषात्मक सूर्य्यसत्ताकाल में हीं आराधन-अर्चन–वन्दन–

किन्तु–जो आर्ष मानव **'मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्'-'सर्वे सन्तु निरामयाः'-'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु'-'सर्वे भवन्तु सुखिनः'-अत्रा सखायः सख्यानि जानते–भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'** लक्षणा श्री से समन्विता–[सरस्वती से समन्विता] लक्ष्मी को ही अपना मुख्य आराध्य-देव मानते हैं, वे सांस्कृतिक-पुरुष तो सूर्य्यसत्ताकाल में हीं लक्ष्मीपूजन करना शास्त्रीय कर्म्म मानते आरहे हैं, जैसाकि-**'प्रदोषसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम्'** इत्यादि विधिवचन से प्रमाणित है । युक्तं चैतत् । श्री, और लक्ष्मी, दोनों यज्ञविष्णुरूप-सोमाहुतिमय–सदाशिव–लक्षण सूर्य्यनारायण की अर्द्धाङ्गिनियाँ हैं । रात्रि पारमेष्ठ्य–तमोमय–वारुण–वृत्र–प्राणप्रधाना है [**वारुणी रात्रिः**] । अहः सौर–ज्योतिर्म्मय–ऐन्द्रप्राणप्रधान है [**ऐन्द्रमहः**] । पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सौर–इन्द्र–प्राणानुगत हिरण्मय–पारमेष्ठ्य तत्त्व ही श्री [सरस्वती] गर्भिता ज्योतिर्म्मयी–हिरण्यवर्णा लक्ष्मी का स्वरूपपरिचय है । रजनीमुखात्मक प्रदोषकाल में हीं लक्ष्मी का यह श्रीसमन्वित–लक्ष्मीरूप विद्यमान रहता है, जबकि रात्रि में, तत्रापि मध्यरात्रि में तो इत्थंभूता हिरण्मयी–ज्योतिर्म्मयी लक्ष्मी का सर्वथा ही अभाव है । विकसित कमल ही इस श्रीसमन्विता लक्ष्मी का आसनात्मक अधिष्ठान माना गया है, जबकि अर्द्धरात्रिगता अलक्ष्मीरूपा—आसुरलक्ष्मी का वाहन रात्रिपक्षी [उल्लू] ही माना गया है आगमशास्त्र में । प्रसिद्ध है कि सूर्य्यास्त पर पङ्कजश्री अन्तर्म्मुख बन जाया करती है * । जब पङ्कज [कमल] ही अवरुद्ध होगया सूर्य्यास्त पर, तो पद्मासना–श्रीसमन्विता देवप्राणमयी–हिरण्यवर्णा लक्ष्मी तो उपलब्ध नहीं होसकती अर्द्धरात्रि के पक्षपातियों को । फिर तो उल्लूवाहना-आसुरीलक्ष्मी ही उपास्या बन सकती है सरस्वती के विरोधी, केवल जड़भूत–लक्ष्मी के अनुगामियों के लिए । इति नु–लक्ष्मीपूजनसमयमीमांसा–प्रासङ्गिकी ।

१६५–प्रदोषकालानुगता-कुबेरपूजनसमन्विता-महालक्ष्मी के पूजन की इतिकर्त्तव्यता—

हाँ, तो प्रदोष–समय में स्नान–आचमनादि–पवित्रीकरण–भावों से समन्वित–गृहकुलवृद्धपुरुष अपने पारिवारिक जनों के साथ शान्त–प्रसन्न–मङ्गलमुद्रा से समासीन होकर अङ्गन्यासादादि पूर्वकर्म्म सम्पादन कर–दीपादि प्रज्ज्वलित कर महालक्ष्मी का नैदानिक ध्यानात्मक संस्मरण करता है निम्नलिखित रूप से—

अथ ध्यानम्—**आसीना सरसीरुहे स्मितमुखी हस्ताम्बुजैर्बिभ्रती—**
दानं पद्मयुगाभये च वपुषा सौदामिनी सन्निभा ।
मुक्ताहारविराजमानपृथुलोत्तुङ्गस्तनोद्भासिणी—
पायाद्वः कमला कटाक्षविभवैरानन्दयन्ती हरिम् ॥१॥

* * * *

---

* रात्रिर्गमिष्यति–भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कश्रीः ।
इत्थं विचयन्ति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥
—कविसूक्तिर्भावुकतापूर्णा

लक्ष्मीपूजनम्--तुलाराशिगते भानौ अमावास्यां नराधिपः ॥
स्नात्वा देवान्–पितॄन्–भक्त्या सम्पूज्याथ प्रणम्य च ॥२॥
ततोऽपराह्णसमये लक्ष्मीं पूजयित्वा यथाक्रमम् ॥
दीपवृक्षास्तथा कार्य्या भक्त्या देवगृहेष्वपि ॥३॥
अमावास्या यदा रात्रौ, दिवाभागे चतुर्दशी ॥
पूजनीया तदा लक्ष्मीर्विज्ञेया सुखरात्रिका ॥४॥

* * * *

कुबेरपूजनम्–लक्ष्मीनारायणाभ्याञ्च नमोऽन्तेन प्रपूजयेत् ।
धिषणञ्च कुबेरञ्च पूजयेत्तदनन्तरम् ॥५॥
"धनदाय नमस्तुभ्यं निधिपद्माधिपाय च ॥
भवन्तु त्वत् प्रसादान्मे धनधान्यादि--सम्पदः ॥६॥"

* * * *

दीपदानम्– अग्निर्ज्योती–रविर्ज्योति–श्चन्द्रज्योतिस्तथैव च ॥
उत्तमः सर्वज्योतीनां दीपोऽयं प्रतिगृह्णताम् ॥७॥

१९६–ऐन्द्र–प्राच्य देश, एवं वारुण–प्रतीच्य देश, तथा प्राच्य देशों से रुष्टा भाग्यलक्ष्मी के सम्बन्ध में प्रासङ्गिक प्रश्न —

पूर्वीय–ऐन्द्र–प्राच्य देशों के वर्त्तमान मानवों का, विशेषतः भारतीय मानवों का यह कहना है कि, भारतवर्षात्मक इन्द्रदेश की लक्ष्मी प्रतीच्य–वारुण–देशों में चली गई। प्राच्य–ऐन्द्रदेश–तत्सहयोगी–'**भारत**'* अग्नि से अनुप्राणित 'भारत–देश' से विनिर्गत होकर लक्ष्मी वारुण-सामुद्र प्रतीच्य देशों में चली गई इनसे रुष्ट ही होकर मानो। प्रश्न सामयिक है कि, इस पूर्वीय प्राच्य–ऐन्द्र देश में, भारताग्निदेश भारतवर्ष में लक्ष्मी को ऐसा कौनसा कष्ट हो पड़ा, जिससे इसने शास्त्रीय मर्य्यादा का उल्लंघन कर श्वसुरगृह का परित्याग कर पितृगृह का आश्रय ग्रहण कर लिया ?।

१९७–लक्ष्मीदेवी के श्वसुरगृह, तथा पितृगृह (उत्पत्तिस्थान) का स्वरूपदिग्दर्शन —

कथाशास्त्रविशारद महाभाग सूत के सम्मुख भी अवश्य ही कथामृतरसास्वादकुशल महाभाग्यशाली शौनक के द्वारा यही प्रश्न उपस्थित हुआ होगा उन आसुरयुगों को लक्ष्य बना कर, जिनमें भारतवर्ष के अति-

---

* अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति। अग्निर्वै देवेभ्यो हव्यं भरति। तस्माद् भरतोऽग्निः–(तत्सम्बन्धादेव-ऐन्द्रदेशोऽयं वर्षभुवनकोशापेक्षया 'भारतवर्ष' नाम्ना निगद्यते।

ष्ठावा भौम स्वर्गवासी इन्द्राग्निप्रमुख भौमदेवताओं से इनकी भाग्यलक्ष्मी इसीप्रकार रुष्ट होकर आसुरप्राणात्मक उस वरुणमण्डल में चली गई थी, जिसे 'समुद्र' कहा जाता है, एवं लक्ष्म्युत्पत्तिस्थान होने से जिस वारुण समुद्र को अवश्य ही लक्ष्मी का पितृगृह कहा जा सकता है, कहा गया है, जैसाकि इसके अनेक नामों में पठित– 'सिन्धुसुता'–सिन्धुकन्या' आदि नामों से प्रसिद्ध है ।

१६८–प्राच्यदेशाधिपति इन्द्र के प्रज्ञापराध से लक्ष्मी का पितृगृह में पलायन, एवं नारायणानुग्रह से उसका पुनरागमन, तथा तत्सम्बन्धी तात्त्विक आख्यान—

सूतमहाभाग ने आख्यानमाध्यम से तद्युग की घटना के सम्बन्ध में यही उत्तर दिया होगा प्रश्नकर्त्ता शौनकको कि,—"महामुनि दुर्वासा ने एक बार प्रसन्न होकर देवेन्द्र को जयमाला प्रदान की । वैराज्य–साम्राज्य-मद से मदोन्मत्त बन जाने वाले देवेन्द्र ने ब्राह्मणप्रदत्ता जयमाला की उपेक्षा ही करते हुए उपहासमुद्रा से ही मानो इसे अपने गले से तत्काल उतार कर अपने वाहन मत्तगजेन्द्र ऐरावत हाथी पर ही फैंक दी । मत्तगजेन्द्र ने अपनी मदमत्तता के आवेश में आकर ब्राह्मणप्रसादरूपा इस विजयमाला को अपने शुण्डादण्ड से धराशायी बना कर मेरुदण्ड–समतुलित अपने भीमकाय पादतल से इसे चूर्णित ही कर दिया, और यह घटना क्षणमात्र में महामुनि दुर्वासा के देखते देखते ही इनके सम्मुख ही घटित हो पड़ी । परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम वही हुआ, जो आज ब्राह्मण के अपमान से हो रहा है, किंवा नहुषयुग में इसी ब्राह्मण-शाप से जो परिणाम सर्पयोनि में परिणत नहुष को भोगना पड़ा था अपने राज्यमद के कारण । दुर्वासा के अन्तकरण से परोक्षरूपेण यह शापाग्नि ही विनिःसृत हो पड़ा तत्क्षण कि—"देवेन्द्र ! जिस राज्यलक्ष्मी के मद से आविष्ट होकर आपने विजयमाला को अपने ऐरावत से धूलिसात् करा दिया है, वह लक्ष्मी तेरे पूर्व–भारतादि लोकों से निश्चयेन चली जायगी उसी अपनी जन्मभूमि समुद्र में, जहाँ ऐरावत ने भी जन्म लिया है । तथैवाभूत् । वैसा ही हो पड़ा मुनि के शापाग्नि से । और यों शासनसत्ता के सर्वोच्च अधीश देवेन्द्र की मदोन्मत्तता से उत्पीड़ित–अवमानित ब्राह्मण की उपास्या सरस्वती के तिरस्कार–अवमान से ही मानो भौम–त्रैलोक्यरूप देवत्रैलोक्य से लक्ष्मी रुष्ट होकर अपनी जन्मभूमि समुद्र में पलायित होगई । लोकलक्ष्मी के विना भौमत्रैलोक्य क्षुब्ध–आर्त्त–संकटग्रस्त बन गया । लक्ष्मी के पुनरावर्त्तन के विविध–प्रकार खोजे जाने लगे । अन्ततोगत्त्वा सम्पूर्ण देवताओं के साथ मिल कर देवेन्द्र को विष्णु की शरण में आना पड़ा । एवं विष्णु के अनुग्रह से ही लक्ष्मी का पुनः देवेन्द्र पर अनुग्रह हो सका । यथाहि—

> **पुरा दुर्वाससः शापात्–भ्रष्टश्रीश्च पुरन्दरः ॥**
> **बभूव देवसंघश्च मर्त्यलोकश्च नारद ! ॥१॥**
> **लक्ष्मीः स्वर्गादिकं त्यक्त्वा रुष्टा परमदुःखिता ॥**
> **गत्त्वा लीना च वैकुण्ठे महालक्ष्म्या च नारद ! ॥२॥**
>
> —इत्यादि ।

१६६–देवासुरसंघद्वारा समुद्रमन्थन, तत्परिणामस्वरूप लक्ष्मी का पुनः प्रादुर्भाव, एवं देवेन्द्र की सर्वसमृद्धि—

यज्ञात्मक विष्णुदेव ने क्या साधारण प्रार्थना–मात्र से ही, विष्णुनाम–गुणकीर्त्तनमात्र से प्रभावित हो कर ही लक्ष्मी का पुनरावर्त्तन करा दिया देवमण्डल में ? । नहीं । अपितु सम्मिलित प्रयास से–जिसमें

आत्मानुगत ऐन्द्र देवबल, तथा वारुण शरीरबल (असुरबल), दोनों बल समाविष्ट थे। मानवस्वरूपभाषानुसार जिस प्रचण्ड अध्यवसाय में–आत्म–बुद्धि से समन्वित आत्मरूपदेवबल तथा मनः–शरीर–समन्वित–शरीरभूतरूप असुरबल–दोनों बल समन्वित थे। ऐसे संघशक्तिरूप–सख्यबल से * ही देवताओंनें समुद्र का मन्थन किया, एवं समुद्रमन्थन से सर्वप्रथम इन्हें कालकूट विष–उपलब्ध हुआ, जो इन्हीं के मूलप्रतिष्ठारूप आदिदेव–महादेव के द्वारा कण्ठ में हीं निरुद्ध कर लिया गया। तदनन्तर अत्यधिक–तपन–सन्तपन–श्रम–परिश्रमात्मक–उत्तरदायित्वपूर्ण संघर्ष से ही लक्ष्मी का सान्निध्य विष्णु के अनुग्रह से (यज्ञात्मक-कर्म्मानुष्ठानों से, तथा सांस्कृतिक-आचारधर्म्मों से) इन्हें पुनः हो सका, जैसाकि तदुत्तर–पठित निम्नलिखित वचनों से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है–

तदा शोकाद् ययुर्देवा दुःखिता ब्रह्मणः सभाम् ॥
ब्रह्माणञ्च पुरस्कृत्य ययुर्वैकुण्ठमेव च ॥३॥
वैकुण्ठे शरणापन्ना देवा नारायणे परे ॥
अतीव दैन्ययुक्ताश्च शुष्ककण्ठौष्ठतालुकाः ॥४॥
तदा लक्ष्मीश्च कलया पुरा नारायणाज्ञया ॥
बभूव सिन्धुकन्या सा शक्रसम्पत्स्वरूपिणी ॥५॥
तया मथित्वा क्षीरोदं देवा दैत्यगणैः सह ॥
सम्प्रापुश्च वरं लब्ध्वा ददृशुस्ताश्च तत्र हि ॥६॥
सुरादिभ्यो वरं दत्वा वरमालाञ्च विष्णवे ॥
ददौ प्रसन्नवदना तुष्टा क्षीरोदशायिने ॥७॥
"देवाश्चाप्यसुरग्रस्तं राज्यं प्रापुश्च तद्वरात्" ॥
तां सम्पूज्य च सम्भूय सर्वत्र च निरापदः ॥
—ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे प्रकृतिखण्डे ३५–३६ अध्यायौ

२००–तपन–सन्तपन–श्रम–परिश्रमात्मक–अध्यवसायमूलक–मन्थनकर्म्म से आविर्भूता लक्ष्मी का नामभक्तिपरायण–अकर्म्मण्यों की कृपा ? से वर्त्तमानयुग में पुनः प्राच्य–भारतराष्ट्र से पितृगृहात्मक वारुणदेशों में पलायन—

आत्मानुगत आधिदैविक नभस्वान् समुद्र, आधिदैविकाध्यात्मिक–बुद्ध्यनुगत सरस्वान् समुद्र, एवं मनःशरीरानुगत–आधिदैविकाध्यात्मिक–समुद्रगर्भित आधिभौतिक अर्णव समुद्र, इन तीनों समुद्रों के मन्थन से ही, तदनुगत–प्रकृतिसिद्ध–नित्य यज्ञकर्म्मात्मक विष्णु के प्रसाद से ही श्री से समन्विता माता-लक्ष्मी का अनुग्रह प्राप्त किया जा सकता है, यही तत्त्व है उक्त आख्यानभाषा का। बिना समुद्रत्रयी के मन्थन के

* 'अत्रा सखायः सख्यानि जानते–भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि' का संस्मरण

यज्ञकर्म्म का सम्पादन सम्भव नहीं, बिना यज्ञकर्म्मात्मक विष्णु की पूर्णतारूपा अनुग्रहदृष्टि के लक्ष्मी का आगमन सम्भव नहीं। यही विष्णुस्तुति का निगमागमपुराणसम्मत वह तथ्य है, जिसे विस्मृत कर मन्थनप्रक्रियात्मक–अध्यवसायजीवन को जलाञ्जलि समर्पित कर देने वाले तप-सन्तपन-श्रम–परिश्रमात्मक संघर्षों से दूर भागने में कुशल–सर्वथैव अनुकूलतावादी–अकर्म्मण्य–सालस हम मन्दभागियोंनें झञ्झाताल–मृदङ्ग–वाद्य–निरतानुगता स्वरविहीना जर्ज्जरवंशध्वनि–समतुलिता–चीत्कारध्वनि को ही सर्वस्वसाधक मान रक्खा है, इति नु महतीयं विडम्बना कलिवात्याहित–काल्पनिक–भक्तिपरम्परायाः।

२०१--प्राच्य--भारतराष्ट्र का यज्ञविष्णुसम्बन्धेन लक्ष्मी के लिए पतिगृहत्त्व, एवं यज्ञविष्णु के आराधन से वञ्चित भारतराष्ट्र पर साध्वी लक्ष्मी का प्रकोप—

हाँ, तो प्रतीच्य–सामुद्र–देशों को इसलिए 'वारुणदेश' ही कहा जायगा कि, पश्चिमदिशा के दिक्पाल, तथा आपोलोक के लोकपाल उसी प्रकार वरुण ही माने गए हैं, जैसे कि पूर्वदिशा के दिक्पाल, एवं ऐन्द्राग्न–ज्योतिर्लोक के लोकपाल ऐन्द्राग्नरूप इन्द्र ही माने गए हैं भारतीय सांस्कृतिक-परिभाषा में। ऐन्द्राग्नरूप प्राच्य भारतवर्ष को जहाँ लक्ष्मी का श्वसुरगृह माना जायगा, वहाँ वरुण--वृत्ररूप प्रतीच्य-केतुमालादि वर्षों को लक्ष्मी का पितृगृह ही कहा जायगा ?। क्यों, कैसे, और किस आधार पर ?। तो श्रूयताम्! श्रीसमन्विता लक्ष्मी के पति माने गए हैं विष्णु भगवान्। **'यज्ञो वै विष्णुः'**—(शत० १।१।२।१३) इस श्रुति के अनुसार यज्ञ का ही नाम 'विष्णु' है। यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा माना गया है-**'त्रयीवेदात्मक–तत्त्ववेद'**, जैसाकि-**'सैषा त्रयीविद्या-यज्ञः'** (शत० १।१।४।३)–**'ते देवा अब्रुवन्–यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै'** इत्यादि से स्पष्ट है। त्रयीवेदमूलक, अतएव हौत्र-औद्गात्र, आध्वर्य्यव-कर्म्ममूलक–शस्त्र–स्तोत्र–ग्रह-कर्म्मरूप यज्ञ का ही तो नाम विष्णु है, जिसका भौतिक प्रतिमान माना गया है वह **'कृष्णमृग'**, जिसके चर्म्म पर (कृष्णाजिन पर) ही उलूखल में मुसल--पेषण--द्वारा हविर्द्रव्य का वितुषीकरण होता है। (देखिए–तै० ब्रा० २।७।३।२।)।

जिस देश में त्रयीवेदप्रतिमान, यज्ञप्रतिमान कृष्णमृग स्वच्छन्द विचरण करता रहता है, वही देश वेदात्मक–यज्ञविष्णु का अपना आवासस्थान (गृह–घर) माना गया है, एवं उसी यज्ञिय नैगमिक देश में वेदमूलक वर्णाश्रमाचारसिद्ध प्रकृतिसिद्ध, आत्मप्रतिष्ठ धर्म्म (आत्म–बुद्धि-मनः–शरीर–समन्वयात्मक–अभ्युदय-निःश्रेयस्–साधक 'मानवधर्म्म' नामक–शाश्वतधर्म्म–सनातनधर्म्म) पुष्पित–पल्लवित हुआ है, जैसाकि–**'यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्म्मान्निबोधत'** (याज्ञवल्क्यस्मृति १।२।) इत्यादि स्मार्त्त वचन से प्रमाणित है। राजर्षि मनु ने भी इसी तत्त्वदृष्टि से ये उद्गार अभिव्यक्त किए हैं कि—

> **कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।**
> **स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः॥** —मनुः २।२३।

२०२–श्रीविहीना भारतराष्ट्र की वर्त्तमान दीवाली, एवं तत्प्रति सांस्कृतिक-निष्ठा के अनन्य प्रतिष्ठारूप ऋषिप्राण के द्वारा भारतराष्ट्र के अभ्युदयार्थ माङ्गलिक उद्बोधन—

ऐसा वह देश यह भारतवर्ष ही तो ही है, जिसकी प्राणप्रतिष्ठा मृग्यमाण, अतएव–**'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'** (ऋक्संहिता····) के अनुसार 'मृग' 'कृष्णमृग' नाम से प्रसिद्ध भारत अग्नि ही है।

यही तो वह यज्ञिय देश है, जिसमें कृष्णमृगरूप भारताग्नि का प्रतिमानरूप कृष्णमृग (काला हरिण) स्वच्छन्द–विचरण करता रहता है । करता क्या रहता है, करता रहता था उस युगपर्य्यन्त ही, जबतक कि यज्ञात्मक विष्णु **यज्ञ–तपो–दान–लक्षण** विद्यासापेक्ष कर्म्मों से, तथा **इष्ट–आपूर्त–दत्त–लक्षण**–सत्कर्म्मों से स्वस्वरूप से अभिव्यक्त थे आज से तीन सहस्रवर्ष पूर्व के भारतवर्ष में । हमनें अनात्मवादानुगत–काल्वाली-कृत–मतवादों का भावुकतावश जिस दिन से अन्धानुकरण कर लिया, उसी दिन से यज्ञविष्णु अन्तर्म्मुख होगए भारतराष्ट्र से । तत्समय से ही प्रकृतिविरुद्ध–भावुकतापूर्ण–अयज्ञिय–असत्कर्म्म प्रक्रान्त हो पड़े । फलस्वरूप प्राच्यदेश इस भारतराष्ट्र के लक्ष्मीपति अप्रसन्न होगए, तो कौन स्वाध्वी पतिपरायणा स्त्री पति के इसप्रकार अपमानित होने पर स्वस्वरूप से यहाँ प्रतिष्ठित रह सकती थी ? । नहीं हुआ । यज्ञविष्णु की अप्रसन्नता के साथ साथ ही इस यज्ञियदेश–पतिगृह–विष्णुगृह (किन्तु विष्णुशून्य) का परित्याग कर भारतराष्ट्र की लक्ष्मी पितृगृहे एव चली गई । अर्द्धाङ्गिनी को यों रुष्ट होकर चले जाने पर यज्ञात्मक विष्णु भी उसी स्थान के अनुगामी बन गए, किन्तु जागरूक बन कर नहीं । अपितु शयानावस्था से । लक्ष्मी के पितृगृह में, अर्थात् श्वसुरगृह समुद्र में सोगए यज्ञविष्णु । और यों निगम–आगम–पुराण–स्मृत्यादि विहित शाश्वत यज्ञ–धर्म्मों का परित्याग कर हम भारतवासियों नें विष्णुयज्ञधर्म्मानुगत आत्मनिःश्रेयस् , तथा लक्ष्म्यनुगत भूतैश्वर्य्य, दोनों से ही अपना पार्थक्य कर लिया ।

२०३–प्राच्य–भारतशरीर की तैल-घृत–मात्रा का प्रतीच्यदेशों के द्वारा शोषण, एवं प्रभाशून्या आज की यह दीवाली—

जहाँ लक्ष्मी चली गई, वहाँ दीपावली जगमगा उठी । अवश्य ही यहाँ की दीपावली की दीपज्ज्वाला तो बुझ गई थी । किन्तु दीपपात्रों (शरीरों) में थोड़ा तैल सांस्कृतिक–परम्परा के सौभाग्य से बचा रह गया था । वहाँ के दीपोत्सवायोजकों नें अनुभव किया कि, पानी से भी कहीं दीप जलें हैं । दीप जलते रहते हैं तैल-घृत से । और उसका अपने सामुद्र–क्षार–जल में अभाव है । अविलम्ब तैल का अन्वेषण आरम्भ हो पड़ा । पूर्वदेशों पर दृष्टि गई । शेषभूत सभीप्रकार के तैलकोश स्वायत्त कर लिए गए पूर्वदेशों के । यों दीपावली के साथ साथ प्राच्यदेशों का प्राणात्मक–भौतिक-सभी प्रकार का तैल–घृत भी बलपूर्वक निकाल लिया गया, कस कस कर चुआ लिया गया, निचोड़ लिया गया, और यों हम रह गए कङ्कालरूपेण अवशिष्ट । यही है तैल–घृत–शून्या, मज्जा–मांस–रुधिर–शून्या, अतएव दीपप्रभाशून्या–कङ्कालमात्रावशिष्टा वर्त्तमान–भारत की निस्तत्त्वा दीपावली, जो प्रतिवर्ष हमारी सुप्त वेदनाओं को उद्बुद्ध कर हमें पीड़ित ही किया करती है, हमारा उपहास ही किया करती है । जो अग्निक्रीड़ा कर सकते हैं, आग से खेल सकते हैं, संघ-शक्तिरूपेण समुद्रमन्थन कर सकते हैं, जिनके दीपपात्रों (शरीर-मन–बुद्धिरूप अग्नि–चन्द्र–सूर्य्यज्योति-रवलम्बरूप दीपपात्रों) में तैलमात्रा (आत्मरस) परिपूर्ण है, वास्तविक दीपावली-पर्वोत्सवायोजनों का अधिकार उन्हीं को प्राप्त हुआ है । दीपज्योति से वे अध्यवसायनिष्ठ–धर्मिष्ठ–आचारनिष्ठ-सत्कर्म्मा मानव लाभ उठा सकते हैं, जिनके चर्म्मचक्षुओं में ज्योतिर्म्मय–चाक्षुषपुरुष जागरूक है ।

२०४–कङ्कालास्थियों की अनुशयरूपा मज्जा से प्रज्ज्वलिता धनिकों की दीवाली—

कङ्कालावशेषरूप दरिद्रों के दीपपात्रों में अनुशयरूपेण यत्किञ्चिन्मात्रा में संलग्न मज्जारूप तैल से प्रदीप्त होती रहने वाली वर्त्तमान भारत के धनिकों की यह दीपावली क्या भारतवर्ष की श्रीसमन्विता दीपावली मानी

जायगी ? । कदापि नहीं । वर्त्तमान भारत की आत्मबुद्धिप्रकाशशून्या, केवल मनःशरीरानुगता, शून्यं–शून्यं की अनात्मभावना से समन्विता दुःखभावप्रवर्त्तिका–समर्थिका इत्थंभूता अलक्ष्मीरूपा यह दीपावली कब भारतीय दृष्टि से '**सांस्कृतिक–दीपावलीपर्व**' रूप में परिणत होगी ?, इस प्रश्न का यथार्थ समाधान आज हम भारतवासी किस से प्राप्त करें ?, जब कि समाधान के प्रथम अधिकारी भारतराष्ट्र के विद्वान् स्वयं ही विगत प्रक्रान्त तीन सहस्रवर्षों से मतवादसापेक्ष–मतवादैषणा–पूर्त्यर्थ–सत्तासापेक्ष–वणिक्तन्त्र–सापेक्ष बने रहते हुए स्वयं ही '**पञ्चज्योतिरयं पुरुषः**' मूलक नैगमिक–सांस्कृतिक–ज्योति से पराङ्मुख ही प्रमाणित होते आरहे हैं। क्य ाराष्ट्र का सत्तातन्त्र उक्त प्रश्न का समाधान करेगा ?, कर सकेगा ? । **अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! सर्वथा धर्म्मनिरपेक्ष,** विशेषतः भारतीय निगमागमपुराणसिद्ध शाश्वतधर्म्मनिरपेक्ष (**किन्तु विभिन्न मतवादात्मक–धर्म्मसापेक्ष**) वर्त्तमान सत्तातन्त्र के सम्मुख तो ऐसा प्रश्न उपस्थित कर देना भी (सत्ता के शब्दों में) सम्प्रदायवादी भारतीय–आस्तिक–हिन्दू का महान् अपराध ही माना जायगा । अब शेष रह गए राष्ट्र के वे धनिक भलन्दनवंशज वैश्यबन्धु, जिन की धर्म्मप्रियता कर्णाकर्णिपरम्परया श्रुतोपश्रुत है । क्या इन से तत्प्रश्न का समाधान प्राप्त हो सकेगा ?, का उत्तर होगा–'**परीक्षा प्रार्थनीय**', जिसमें हमनें तो निरन्तर २० वर्ष पर्य्यन्त प्रणतभाव से दीक्षित होकर भी अन्ततोगत्त्वा 'निराशा' ही उपलब्ध की है ।

२०५–सत्तातन्त्रादि से सर्वथा निरपेक्षा 'स्वाध्याय–व्रतनिष्ठा' से ही भारतराष्ट्र की श्रीसमन्विता राष्ट्रलक्ष्मी के पुनर्जागरण की मङ्गलकामना—

एकमात्र निगमागमसंस्कृति का अनन्य स्वाध्यायव्रत, आचरणव्रत, आयोजनव्रत ही इस प्रश्न की समाधान-प्रस्तावना होगी हमारी स्वल्पमति के अनुसार, जिस प्रस्तावना को व्यक्तित्वविमोहनमूलक मतवादों से, सत्ताश्रय से, सर्वविध वैसे तन्त्रों से–जो स्वाध्यायव्रतविरोधी हों,–सर्वात्मना निरपेक्ष–तटस्थ ही बनाए रखना पड़ेगा । तभी भारतवर्ष के सांस्कृतिक-आचार, सांस्कृतिक–आयोजनों का ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक स्वरूप अभिव्यक्त हो सकेगा, एवं एकमात्र इस अभिव्यक्ति के बल पर ही श्रीसमन्वित, महान् सांस्कृतिकपर्व–दीपावलीमहोत्सव का यथार्थरूप से अनुगमन करता हुआ भारतराष्ट्र राष्ट्रलक्ष्मी को प्रसन्न करने में समर्थ बन सकेगा, निश्चयेन बनेगा ही, इसी मङ्गलकामना के साथ प्रक्रान्त पर्वायोजन की पुण्यगाथा विश्राम ग्रहण कर रही है ।

उपरता चेयं-वैश्यवर्णानुगता—

दीपावलीपर्वस्वरूपमीमांसा तृतीया

—३—

———**———

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

मनोऽनुरक्त–राष्ट्ररचित–वैश्यानुगत
राष्ट्रीय–'दीपावलीपर्व'
उपरत
३

श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक–राष्ट्रीय–पर्व

'होलिका'

शरीरनिष्ठ–राष्ट्ररक्षित–शूद्रानुगतपर्व

४



श्रीः

भारतराष्ट्र का महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व

होला-महोत्सव

(शरीरानुगत-राष्ट्ररचित-शूद्रानुगत पर्व)

४

१-'काम' संस्मरण, एवं लोकप्रसिद्ध 'होलिकापर्व' का प्रचलित स्वरूप—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक्सं० १०।१२६।४।

'होला', किंवा 'होलिका' (होली) नाम से प्रसिद्ध लोकविश्रुत जिस महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन करने के असम-साहस, किंवा दुःसासहस का प्रस्तुत निबन्ध में आज जो उपक्रम किया जा रहा है, उसका 'संस्कृति' शब्द से अनुप्राणित आत्म-देवभावों से कैसा, क्या सम्बन्ध हो सकता है ?, जबकि प्रत्यक्ष में सर्वथा अनियमित-इन्द्रियभावानुगत,-मानसिक उद्वेग, शारीरिक उन्माद-विलास-ताण्डवों से सर्वात्मना समाकुलित, विविध वाच्य-अवाच्य-वैखरीवाग्धाराओं से उद्वेलित, झञ्झा-ताल-मृदङ्ग-वाद्यादि से समन्वित, नर्त्तन-गायन-हास-परिहास-आदि गन्धर्वाप्सराप्राणों से कृतरूप, मनः-शरीरमात्रानुबन्धी लोकायोजनों से पुष्पित-पल्लवित, कृष्ण-पीत-नील-हरित-रक्त-धूम्र-धूसर-आदि विविध रङ्गों से रञ्जित, वैतालचेष्टित-शरीराभिनयों से समलङ्कृत, विविध मादक-उन्मादक-पेय-खाद्य-लेह्य-चोष्य-चर्व्य-आदि द्रव्यों के अनुग्रह से समुत्पन्ना मादकता से मदोन्मत्त-मदनोन्मत्त-असंयत-अलग्ल-काल्वालीकृत, जनरव से सर्वात्मना आन्दोलित, इत्थंभूत वर्त्तमानयुगीय 'होलामहोत्सव' का आत्म-देवानुबन्धी सांस्कृतिक-दैविक-आत्मिक- सुसूक्ष्म-परोक्षभावों से प्रत्यक्ष में कुछ भी तो सम्पर्क प्रतीत नहीं हो रहा ।

२-प्रचलित होलिकोत्सव, और हमारी समस्या—

यही वह महती समस्या है, जिसने प्रस्तुत राष्ट्रीय-पर्व के सम्बन्ध में इस वेदाभ्यासजड़मति, अतएव सर्वथैव रूक्ष-कर्कश,-होलापर्वप्रेमियों की भाषा में तो मानसिक-रसानुगत-कोमलभावों, तथा कोमल अनुभूतियों से सर्वथा ही असंस्पृष्ट,-अतएव रस-राग-समन्वित 'होलिका' जैसे रसपूर्ण-पर्वोत्सव के नामस्मरण में भी

अनधिकृत गुहानिहित--इस प्रज्ञारसशून्य ब्राह्मण को आज वास्तव में ही कुण्ठित प्रमाणित कर दिया है ! प्रयास करने पर भी इसकी जड़प्रज्ञा इस **'रसराज–महोत्सव'** के उस केन्द्रबिन्दु से अपने आपको पृथक्वत् ही अनुभूत कर रही है, जिस केन्द्रबिन्दु की उपलब्धि के बिना सामान्य--समस्या भी महती–समस्था प्रमाणित हो जाया करती है ।

३–होलकापर्व का प्रचलित स्वरूप, और तत्सम्बन्ध में सांस्कृतिक–तथ्य की अनु–पलब्धि—

जबकि प्रत्यक्ष में प्रयास करने पर भी होलामहोत्सव के किसी उस अज्ञात देवता के अङ्ग–प्रत्यङ्गों के स्वरूपोपवर्णन--ध्यान--आदि हमें उपलब्ध नहीं हो रहे, जैसी कि उपलब्धि **रक्षाबन्धन--विजयदशमी–दीपावली**-नामक, पूर्वोपवर्णित सांस्कृतिक–आयोजनों में स्पष्ट है, तो अङ्ग–प्रत्यङ्गशून्य, अतएव **'अनङ्ग'** नामक उस अज्ञात देवता के अज्ञातस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्तुत होलिकापर्व को किस आधार पर हम समन्वित करें ?, प्रश्न का समाधान कैसे, किस माध्यम से, किस शक्ति के अनुग्रह से सुलभ बने ?, यही वह प्रतिप्रश्न है, जिसके समन्वय के बिना कदापि इस आयोजन की उपक्रान्ति सर्वात्मना तो क्या, अंशतः भी तो समन्वित नहीं हो सकती । निबन्ध का उपक्रम करते हुए–'संस्कृति' शब्द का जो अर्थ समन्वित हुआ है, उसका मुख्य व्याप्तिस्थान आत्मब्रह्मरूप **'समब्रह्म'**, एवं अधिक से अधिक इस समब्रह्म से समन्विता सत्त्वबुद्धि है, जिसे तत्रैव **'देवभाव'** कहा गया है (देखिए पृ० सं०७, ८,) । यों संस्कृति शब्द से प्रधानरूपेण **आत्मा**, तथा देव, ये दो भाव ही परिगृहीत हैं । अतएव वही भारतीय आयोजन **'सांस्कृतिक'** उपाधि का अधिकारी माना गया है, जिसमें प्रत्यक्ष, किंवा परोक्षरूप से आत्मभाव, किंवा देवभाव येनकेन रूपेण मूलप्रतिष्ठा बना रहता है ।

४-स्वस्वरूपविस्मारक वर्त्तमान होलामहोत्सव, एवं समस्यात्मक प्रश्न—

होलिका के सम्बन्ध में जिन आयोजनों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उन आयोजनों का न तो बुद्धि से ही सम्बन्ध है, न आत्मा से ही सम्बन्ध है । अपितु जिसप्रकार मनःशरीरपरायण पशु–पक्षी--कीट--कृमि--आदि प्राकृतिक प्राणी प्रकृति के जड़परिवर्त्तनों के अनुपात से विकसित–संकुचित–स्तब्ध--उन्मुग्ध--उद्भ्रान्त--होते रहते हैं अपने मानसिक–शारीरिक--भावों से । तथैव होलामहोत्सव में मानवसमाज भी **आत्मसंवित्**, तथा **बुद्धिनिष्ठा**, दोनों को विस्मृत कर सर्वथा मनःशरीरधर्म्मा ही बन जाया करता है । स्वस्व-रूपविस्मारक ऐसा होलामत्सव यों प्रत्यक्ष में सर्वथा ही मनःशरीरभावप्रधान बनता हुआ आत्मबुद्धिभावानुगत सांस्कृतिक--भाव से कुछ भी तो सम्पर्क रखता हुआ प्रतीत नहीं हो रहा । ऐसी स्थिति में इस विश्वविदित महोत्सव को किस आधार पर **'सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-पर्व'** मान लिया गया ?, प्रश्न सचमुच ही तो महती समस्या का सर्जक प्रमाणित हो रहा है ।

५–होलिका–समस्या का जन्मदाता उत्सवप्रिय गुप्तसाम्राज्य—

'महती–समस्या' को किसने जन्म दिया ?, यह एक वैसा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके समन्वय के बिना होलामहोत्सव के परोक्ष–सांस्कृतिक--पक्ष की यथार्थता का समाधान प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । केवल--मानसिक–विलासों, एवं शारीरिक विजृम्भणों से समाकुलित होलामहोत्सव का

वर्त्तमान--स्वरूप अपने आत्मदेवभावानुगत मूलप्रतिष्ठान से क्यों, कैसे, कब वञ्चित होगया ?, प्रश्न भारतराष्ट्र को उस युग की ओर आकर्षित कर देता है, जिस युग में राष्ट्रप्रज्ञा अपनी मूलनिष्ठाओं को विस्मृत कर मानव के मनःशरीरभावों की ही अनुगामिनी बन गई थी। तीन सहस्र--वर्ष पूर्वारम्भ के जिस शून्यवाद ने भारतराष्ट्र को आत्मसत्ता, एवं तदनुप्राणिता देवसत्ता से पराङ्मुख कर दिया था, उस अनात्म--अदेव--शून्यवाद के निग्रहात्मक अनुग्रहयुग से ही भारतीय प्रजा उत्तरोत्तर आत्म--देवभावों से तो होती गई पराङ्मुख, एवं तत्स्थान में मनःशरीरभाव बनते गए प्रमुख। अभिनव--ऐतिहासिकों, एवं पुरातत्त्वविदों की मानस- भाषा में अत्यन्त ही सुप्रसिद्ध--सुसमृद्ध--गौरवपूर्ण **'गुप्तसाम्राज्य'** में तो इस सीमापर्य्यन्त भारतराष्ट्र अपनी सत्ता--सापेक्षतामूला--आत्मबुद्धिदासता से अभिभूत हो गया था कि, उस युग में सर्वत्र 'संस्कृति' की पवित्र अभिधा के माध्यम से उसी प्रकार सर्वत्र मनःशरीरप्रधान--व्यासङ्ग ही सर्वमूर्द्धन्य बन गए थे, जैसे कि वर्त्तमान स्वतन्त्रता के युग में उसी आत्म--देव--भावविस्मृति के कारण मनःशरीरमात्र--निबन्धन--नर्त्तन--वादन--गायनादि अमर्य्यादित नग्नताण्डव--चरित्रों को ही **'सांस्कृतिक आयोजन'** जैसी पवित्र--अभिधा से समन्वित कर देने की महती भ्रान्ति हो रही है।

६–विविध व्यवसायकुशल पणियों की वित्तैषणा से, तथा विविधोत्सवपरायण गुप्त–सम्राटों की लोकैषणा से निगमसंस्कृति का अभिभव, एवं अनुरञ्जनात्मक शृङ्गार--प्रधान साहित्य का सर्जन, और गुप्तकाल—

विविध व्यवसायों के द्वारा कुशल पणियों (वणिजों) के माध्यम से प्रचुर अर्थराशि का संग्रह हुआ भारत के उस गुप्तयुग में, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। तद्युग में प्रचण्ड--पौरुषयुक्त समुद्रगुप्तादि जैसे सबल--सशक्त भारतीय सम्राट्--नृपतियों के कारण राष्ट्र सर्वथैव असपत्न भी बना रहा। राष्ट्र के विद्वानों को भी अपने अध्ययनाध्यापन–विकास के लिए पूर्ण सुविधा उपलब्ध हुई वैसे सुसमृद्ध--सशक्त--भारतराष्ट्र में। और यों प्रत्यक्ष--भूतदृष्टि से गुप्तयुग सचमुच ही भारत का **'स्वर्णिमयुग'** प्रमाणित होगया। किन्तु इस स्वर्णिमयुग के मूल में शून्यवादात्मक जो काल्वालीकृत--अनात्मवाद प्रतिष्ठित हो चुका था, उसने राष्ट्रप्रज्ञा को उस अजस्र--सांस्कृतिक--ज्ञानविज्ञानस्रोत के साथ सम्पर्क स्थापित करने हीं नहीं दिया, जिस आत्मश्री के बिना बाह्य--भूत--लक्ष्मी अनियन्त्रित--अमर्य्यादित होती हुई शीघ्र ही अलक्ष्मीरूप में परिणत हो जाया करती है, जैसाकि दीपावली--प्रकरण में विस्तार से निवेदन किया जा चुका है। इस सांस्कृतिक--निष्ठा के प्रवाहावरोध का स्वयं गुप्तयुग में ही नग्न नर्त्तन आरम्भ हो चुका था, जैसाकि गुप्तयुग के विद्वानों की साहित्य--काव्य--नाटक--धाराओं से सर्वात्मना प्रमाणित है।

७-गुप्तकालीन सुसमृद्ध नौयानव्यापार के द्वारा द्वीपान्तरसम्पत्ति का आहरण, तद्द्वारा स्थापत्य--मूर्त्ति--प्रासादादि कलाओं का प्राचुर्य्य, विविध विलासों का सर्ज्जन, एवं सुसमृद्धा भूतजड़ता के व्यामोहन से आत्मसंस्कृति का पराभव—

गुप्तयुगकालीन सुसमृद्ध नौयान--साधन--जनित--व्यापार के अनुग्रह से द्वीपान्तरों से सरिताप्रवाह की भाँति आगता भूतलक्ष्मी के कारण सचमुच वह युग--स्थापत्यकला--मूर्त्तिकला--प्रासादशिल्प--नृत्य--गीत--

वाद्यादि-समन्वित मूर्त्त-भौतिक-सौन्दर्य्य की उस निःसीमा गरिमा पर पहुँच गया था, जिस जड़सीमा के आकर्षणबिन्दु पर पहुँच जाने वाले बाह्यकलासौन्दर्य्यभक्त मानव की बुद्धि का आत्मानुगत नैष्ठिक धैर्य्य विचलित हो जाया करता है। एवं परिणामस्वरूप, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणामस्वरूप मानव अपने आत्म-बुद्धिनिबन्धन 'संस्कृति' भाव को विस्मृत कर तथाकथित बाह्य-जड़-भौतिक-सौन्दर्य्य को ही 'संस्कृति' की उपाधि से समन्वित कर दिया करता है, एवं इसी में आसक्त व्यासक्त होकर अन्ततोगत्वा केवल मनः-शरीरधर्म्मा बनता हुआ सर्वात्मना अरक्षित ही प्रमाणित हो जाया करता है।

८-गुप्तयुगानुगता आसवपानपरायणता, वाराङ्गनानुगति, सामूहिक उद्दामविलास-लक्षणा पतनपरम्पराएँ, कुबेरसम धनपतियों के सप्तसमुद्रदानादि विजृम्भण, सत्ता एवं वणिग्दास तत्कालीन विद्वानों का साहित्य-कविता-व्यासङ्ग, और राष्ट्रीय संस्कृति का आत्यन्तिक पतन—

मनःशरीर-व्यासङ्गों को प्रधानरूपेण सर्वस्व-महत्त्व प्रदान कर देने वाले गुप्तयुगीय मानव ने सचमुच में अपना आत्मदेवभाव तो कर लिया था सर्वात्मना विस्मृत, एवं मनःशरीरभाव बना लिए थे इसने प्रधान, जिस की कृपा से ही आगे चल कर भारतीय प्रजा * आसवपान-वाराङ्गनागमन-सामूहिक उद्दामविलास-

*-गुप्तकाल के ही प्रसून-रूप ईस्वी० ५ वीं शताब्दी से आरम्भ कर ८ वीं शताब्दी-पर्य्यन्त के जैनसाहित्य से प्रमाणित है कि, तदवधि में समाज का स्तर सर्वथा ही निम्न प्रमाणित होगया था। आत्मदेवप्रतिष्ठाशून्या निष्ठाविगलिता इसी जर्ज्जरावस्था के कारण सम्भवत: ७ वीं शताब्दी में अनात्मवादरूप शून्यवाद (बुद्धमत) पुनः अपनी जीर्णभस्त्रा से कायाकल्पपथानुगामी बन गया था, जो समुद्रगुप्तकाल में एकबार प्रसुप्त होगया था। इसी कायाकल्प के कारण पुनः भारतीय सम्राट् पौरुष-शून्य बन गए। कलिङ्गविजेता, विश्वविजेता अन्तिम सम्राट् अशोक ने इसी भस्त्रा के आश्रय से मानो सदा सदा के लिए ही भारतीय-साम्राज्यवैभव को स्मृतिगर्भ में विलीन कर ही तो दिया, जिसका प्रायश्चित्त आजतक भी नहीं हो सका है। शून्यवाद के इस नवीन जागरण के अनन्तर तो राष्ट्र के विद्या-पौरुष-पराक्रम-शौर्य्य-शक्त्युपासना-सभी कुछ प्रबलवेग से अभिभूत ही होते गए। परिणामस्वरूप इस अहिंसावादमें आसक्त राष्ट्र को आततायी-आक्रान्ताओंनें रक्तस्नान से ही आप्लुत करना आरम्भ कर दिया, जिस बर्बरतापूर्ण-रक्तस्नानेतिहास के अभिनव चरित्रों से तो सभी सुपरिचित होंगें हीं। यों शक्ति-बल-पौरुष-शून्य-आत्मदेवशक्तिशून्य-शून्यवादी राष्ट्र की शून्या अहिंसाने 'अहिंसा' के वास्तविक-गरिमामहिमामय तत्त्व को आवृत कर राष्ट्र को सदा के लिए उन हिंसक-क्रूर-नराधमों का ही ग्रास बना डाला, जिस ग्रासावद्धता से आज भारतराष्ट्र रक्तशून्य-ओज-तेजशून्य-पुरुषार्थशून्य-संघर्ष-शून्य-बनता हुआ अपने हा-हा-ही-ही-रूप भौंडे-हास-परिहासों को, नाच-गानों को हीं सांस्कृतिक-आयोजन-मानने, मनवाने का दम्भ करता हुआ यत्किञ्चित् भी तो लज्जित नहीं हो रहा। कालाय तस्मै नमः।

सामाजिक दुरवस्था के उस भीषण-पतनात्मक युग के चरित्रचित्रण के लिए ही तत्कालीन कविश्रेष्ठ शूद्रक ने जिस-'मृच्छकटिक' का निर्म्माण किया है, उसके संवाद विस्पष्टरूप से आत्मदेवभावशून्या-मनःशरीरपरायणा-पतनावस्था को ही व्यक्त कर रहे हैं। द्यूतकर्म्म-वेश्यागमन-सुरापान, एवं अन्यान्य हीन कर्म्मों का अनुगमन, आदि आदि संवादों से समवेत मृच्छकटिक ही पर्य्याप्त है उस कविप्रधान शृङ्गारयुग के उद्दाम-लीलाविलासों के नग्नचित्रण के लिए, इत्यालम्यालमेव।

नृत्यगीतवाद्यपरायणता—इत्यादि उन दुश्चरित्रों की अनुगामिनी बन ही तो गई, जिसे पर्य्याप्तरूपेण प्रोत्साहन मिला उस युग के उन राज्याश्रित,—किंवा कुबेरोपम-सप्तसमुद्रदानैषणानुगामी वैश्यतन्त्राश्रित-भारतीय—दास-विद्वानों की सौन्दर्य्यसुधाप्रवाहकुशला वाणी से, जो वाणी 'कविता' नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिस शृङ्गारप्रधाना कविता के व्यासङ्ग में आसक्त व्यासक्त—आज के साहित्यिक—विद्वानों की प्रतिभा उसी पतनेतिहास—परम्परा के अनुपात से आज भी—'परगुणश्लाघासु वाचंयमाः' को ही अक्षरशः चरितार्थ कर रही है।

९—सत्तातन्त्रानुरञ्जनभावप्रधाना शास्त्रव्याख्याएँ, एवं तद्द्वारा सत्ताधीशों, तथा धनपतियों की चाटुकारिता, और भारतीय-शास्त्रप्रज्ञा का पतन—

मानसिक भावुता से आत्मबुद्धिस्वरूपव्यामुग्ध बन जाने वाले आत्मबुद्धिनिष्ठाशून्य भावुक भारतीय हिन्दूमानव ने परदर्शनप्रभावमूला-परसापेक्षतानुगता—सत्तासापेक्षता, वणिक्तन्त्रानुगता—अर्थसापेक्षता, एवं तद्-भिन्ना लोकसम्मानसापेक्षता के वारुणपाश में आबद्ध होकर अपनी ज्ञानविज्ञानपरिपूर्णा निगमागमपुराणसंस्कृति से तो बना लिया अपने आपको यों सर्वथा निरपेक्ष, तटस्थ, एवं अपनी वित्तैषणागर्भिता-लोकैषणा को सफल बनाने के व्यामोहन से सत्तासापेक्षतामूला सर्वलोकापेक्षता के समर्थक—अनुरञ्जक—चाटुकारिता-पूर्ण मतवादों, साहित्यवादों, कवितावादों, तथा विलासवादों के प्रति प्रमाणित कर लिया अपने आपको उस सीमापर्य्यन्त सर्वथा सापेक्ष ही, जिस सापेक्षता की पूर्ति के लिए इस ने, इसके प्रतिनिधि—संस्कृतिसन्देशवाहक विद्वद्वर्गने निगमागमशास्त्र की भी वैसी ही व्याख्याएँ कर डालीं, जिनसे इनके मानसिक मतवादों का समर्थन सम्भव था, किंवा जिन व्याख्याओं से इनके अभिभावक-सत्तातन्त्र—वणिक्तन्त्रादि प्रसन्न-प्रभावित होकर इन्हें लोकैषणात्मक सम्मान, तथा अर्थप्रदान कर दिया करते थे।

१०—विद्वानों की मनोनिबन्धना भावुकता के अनुग्रह से सांस्कृतिक-निष्ठा की उत्तरोत्तर अन्तर्म्मुखता—

तभी तो कलके ऐकश्वरवादी राजभक्त विद्वान् आज के अनेक वादात्मक गणतन्त्रीय प्रजातन्त्र के समर्थन करने वाले वचनों के अन्वेषण में प्रवृत्त हो रहे हैं वर्त्तमान गणतन्त्रात्मक—प्रजातन्त्रवादयुग में। समस्त—सांस्कृतिक निधि के विद्यमान रहते हुए भी भारतराष्ट्र अपनी सांस्कृतिक—गरिमा से, लोकसौन्दर्य्य से, तत्प्रतिष्ठारूप आत्मैश्वर्य्य से क्यों, और कैसे वञ्चित होगया ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर इसकी वह भावुकता ही तो माना जायगा, जिसका आरम्भ हुआ तीन सहस्रवर्ष पूर्व, जिसे प्रोत्साहन दिया गुप्तयुगानुगता भूतसमृद्धि ने, जिसे पुष्पित-पल्लवित किया नारीसौन्दर्य्यवर्णनकुशल—शृङ्गारसैकवर्णनप्रवण कवियों की कविताने, जिसे उत्तेजित किया संस्कृतिशून्य भारतीय नृपतियों की कमलविलासलीलाओंनें, एवं जिसे षोडश शृङ्गारों से आपाद-मस्तक सुसज्जित किया स्वार्थलिप्सासंसाधक विभिन्न मतवादोंनें। और यों सर्वसाधन—सज्जा—शृङ्गार—परायणा नवोढ़ा इस 'भावुकता' का उपभोग किया सशक्त-पौरुषयुक्त आक्रान्ताओंनें, सिकन्दरनें, हूणोंनें, एवं बर्बर उन शकोंनें, जिन के 'शक' का आज पुनः विक्रम के स्थान में प्रतिष्ठापन होगया है उसी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से।

११-हूण-शकादि-कालोत्तरभावी मुगलसाम्राज्य, तदुत्तरभावी बृटिशसाम्राज्य, एवं वर्त्तमान शासन, तथा भारतराष्ट्र की भावुकता, एवं भावुकता-माध्यमेन राष्ट्र का पारम्परिक आत्यन्तिक-पराभव—

शकानन्तर भावुकता से लाभ उठाया मुगलसाम्राज्यने, एवं इसी भावुकता के माध्यम से राष्ट्र का सर्वात्मना सर्व्वाङ्गीण शोषण किया बुद्धिनिष्ठ चाणाक्षचतुर बृटिशसत्तातन्त्रने। और दुर्भाग्य है यह भारतराष्ट्र का, किंवा इस की मूलसंस्कृति का कि, आज के इस सर्वतन्त्र-स्वातन्त्र्य-युग में भी इसी भावुकता के माध्यम से स्वयं इसी की सन्तति राष्ट्रीय गौरव का सर्वस्व निगरण कर जाने के लिए मानों कटिबद्ध ही बन चुकी है। निरन्तर तीन सहस्र वर्षों से अपनी भावुकता से उत्पीड़िता आस्तिक-प्रजा, हिन्दूप्रजा ही आज उसी के द्वारा जीवित रहने वाले सत्तातन्त्र से 'साम्प्रदायिक' उपाधि से दण्डित हो रही है, जब कि वास्तव में सम्प्रदायवादात्मक-मतवादों के प्रवर्त्तक अन्य वर्ग इसी धर्म्मनिरपेक्ष--सत्तातन्त्र की वरदा अभया छत्रछाया में पुष्पित-पल्लवित होते हुए मानो इस राष्ट्र के प्रज्ञा-बुद्धि-वैभव का उपहास ही कर रहे हैं। और इसी उपहास को मूलप्रतिष्ठा बना कर भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्रवर्षों से '**होलामहोत्सव**' के मनःशरीरनिबन्धन-बाह्य-अमानवीय-आडम्बरों को ही सांस्कृतिक-पर्व मानने मनवाने की भूल करता आरहा है।

१२-होलिकापर्वानुगत आत्मदेवभावसम्बन्धी महान् प्रश्न, एवं समस्या की महती जटिलता—

'महती समस्या को किसने जन्म दिया ?', प्रश्न-समाधान-प्रसङ्ग में सम्पूर्ण समस्याओं की मूलभूता-'समस्यानां समस्या' रूपा सर्वनाशकारिणी उस भावुकता का प्रासङ्गिक यशोगान हो पड़ा, जिसका आविर्भाव आत्मबुद्धिमूला निगमागमनिष्ठा की विस्मृति से, तथा मनःशरीरनिबन्धना परदर्शनात्मिका सापेक्षता से तीन सहस्र वर्ष पूर्व उद्भावित आत्मबुद्धिशून्य शून्यवाद से हो पड़ा था, एवं जिस शून्यवाद से आजतक राष्ट्रप्रज्ञा अपना परित्राण नहीं कर पाई है। अतएव इस राष्ट्रीय-प्रज्ञा का '**होलिका**' जैसा **अग्निजागरणनिबन्धन**, असुरराक्षस-विनाशात्मक सांस्कृतिक-पर्व भी बाह्य प्रतीकासक्ति से अपनी सांस्कृतिकता से पराङ्मुख बनता हुआ केवल वैसे '**मनोविनोद**' का ही क्षेत्र प्रमाणित हो गया है, जो आत्मबुद्धिनिष्ठाशून्य मनोविनोद अन्ततोगत्त्वा सर्वनाश का ही कारण बन जाया करता है। अतएव हमें विवश बन कर स्वयं अपने आप से ही समस्यात्मक यह प्रश्न कर लेना पड़ा कि-होलिकापर्व का वह ऐसा कौन सा आत्मभाव, किंवा देवभाव है, जिसके कारण प्रत्यक्ष में लोकायोजन प्रतीत होने वाला भी यह आयोजन '**सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-आयोजन**' मान लिया गया ?। इति नु किञ्चिदिव प्रास्ताविकं-प्रश्नात्मकम्।

१३-पर्व--उत्सव--सम्मेलन--समारोह--नामक सांस्कृतिक आयोजनों की क्रमशः आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-भावप्रधानता का समन्वय—

प्रश्नसमाधान-समन्वय से पूर्व मानव से सम्बन्ध रखने वाले उन चारों आयोजनों को सिंहावलोकन-दृष्ट्या लक्ष्य बना लेना चाहिए, जिनका निबन्ध के प्रथम प्रकरण में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जचुका है। **आत्मानुगत आयोजन को 'पर्व' कहा गया है, बुद्ध्यनुगत आयोज 'उत्सव' कहलाया है, मनोऽनुगत**

आयोजन 'सम्मेलन' कहलाया है, एवं शरीरप्रधान आयोजन को 'समारोह' कहा गया है। इन चारों में भी प्रत्येक में मानव के चारों पर्वों का गौण-प्रधानरूप से समन्वय हो रहा है। अतएव चारों आयोजनों के प्रत्येक के चार-चार-आयोजन हो जाते है। सम्भूय ४ के १६ आयोजन हो जाते हैं। इन १६ आयोजनों में चारों आयोजन क्रमशः राष्ट्रीय-सामाजिक-पारिवारिक, तथा वैय्यक्तिक हैं। इन चारों में से सर्वादिभूत-आत्मानुगत-'पर्व' नामक 'राष्ट्रीय' आयोजन का ही स्वरूप प्रक्रान्त है, जिसके भी आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-भेदेन चार अवान्तर पर्व हो रहे हैं, जिन में से तीन पर्वों का दिग्दर्शन क्रमशः कराया जाचुका है। अब वह चौथा राष्ट्रीय पर्व हमारे सम्मुख है, जिस में शरीर प्रधान बना हुआ है। स्मरण रहे-'पर्व' से सम्बद्ध आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-चारों हीं पर्व आत्मप्रधान माने जायँगे, उत्सव से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व बुद्धिप्रधान ही माने जायँगे, सम्मेलन से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व मनःप्रधान ही माने जायँगे, एवं समारोह से सम्बद्ध आत्मादि चारों पर्व शरीरप्रधान ही माने जायँगे।

१४-चतुर्विध सांस्कृतिक आयोजनों का गौण--प्रधान--न्यायेन परस्पर ओतप्रोतभाव—

इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि, 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से पूर्व-पूर्व-पर्व उत्तर-उत्तर-पर्व में समाविष्ट रहते हैं। अखण्डात्मा से आविर्भूत खण्डात्मारूप सोपाधिक भूतात्मा पहिला पर्व है, जिसका अर्थ है-आत्मसमन्वित (अखण्डात्मसमन्वित) आत्मपर्व (भूतात्मा)। दूसरा बुद्धिपर्व है, जिसका अर्थ है-आत्मसमन्वित (भूतात्मसमन्वित) बुद्धिपर्व। तीसरा मनःपर्व है, जिसका अर्थ है-बुद्धिसमन्वित मनःपर्व। चौथा पर्व है-शरीर, जिसका अर्थ है-मनःसमन्वित शरीरपर्व। इसका यह अर्थ निकलता है कि, आत्मपर्व अखण्डात्मयुक्त भूतात्मपर्व है, बुद्धिपर्व आत्मयुक्त बुद्धिपर्व है, मनःपर्व बुद्धियुक्त मनःपर्व है, एवं शरीरपर्व मनोयुक्त शरीरपर्व है। इसी से यह भी सर्वात्मना सुस्पष्ट है कि, आत्मनिष्ठ ब्राह्मण से अनुप्राणित रक्षाबन्धनपर्व आत्मयुक्त आत्मपर्व है, बुद्धिनिष्ठ क्षत्रिय से अनुप्राणित विजयदशमीपर्व आत्मयुक्त बुद्धिपर्व है, मनःपरायण वैश्य से अनुप्राणित दीपावलीपर्व बुद्धियुक्त मनःपर्व है, एवं शरीरपरायण शूद्र से अनुप्राणित होलिकापर्व मनोयुक्त शरीरपर्व है। 'पर्व' पर्वत्वेन आत्मप्रधान है, जैसे कि उत्सव-सम्मेलन-समारोह-नामक शेष तीनों आयोजन बुद्धि-मनः-शरीरत्वेन-क्रमशः बुद्धि-मनः-शरीर-प्रधान हैं। आत्मप्राधान्य ब्राह्मण-प्राधान्य का ही सूचक है। अतएव तत्प्रधान चारों ही पर्वों में कहीं साक्षाद्रूपेण, तो कहीं परोक्षरूपेण आत्मनिष्ठ ब्राह्मण का निगमाचार ही मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है। आत्मप्रधान-निगमाचार के कारण हीं चारों आयोजन 'पर्व' कहलाए हैं, एवं इन चारों पर्वों की राष्ट्रीयता का यही मूलबीज है। इसी बीज को लक्ष्यारूढ करते हुए हमें चतुर्थ होलिकापर्व के मूलप्रतिष्ठारूप राष्ट्रीयता के मूलबीजात्मक आत्मानुगत उस 'निगमाचार' का ही अन्वेषण करना है, जिस आत्माचारनिष्ठानें हीं प्रत्यक्षरूपेण मनःशरीरप्रधान प्रतीत होने वाले भी होलिकापर्व को 'सांस्कृतिक-आयोजन' की उपाधि से सुविभूषित कर रक्खा है।

१—अखण्डात्मानुगतं—आत्मपर्व [आत्मयुक्त-आत्मपर्व]-{ आत्मात्मानौ-आत्मा
२—आत्मपर्वानुगतं——बुद्धिपर्व [बुद्धियुक्त-बुद्धिपर्व]-{ आत्मबुद्धी—बुद्धिः
३—बुद्धिपर्वानुगतं——मनःपर्व [बुद्धियुक्त-मनःपर्व]-{ बुद्धिमनसी--मनः
४—मनोऽनुगतं———शरीरपर्व [मनोयुक्त-शरीरपर्व]-{ मनःशरीरे-शरीरम्

——*——

१—आत्मात्मानौ—तदनुगतं—**रक्षाबन्धन-पर्व** [ब्राह्मणपर्व—ब्राह्मणाचारात्मकम्
२—आत्मबुद्धी—-तदनुगतं—**विजयदशमी-पर्व** [क्षत्रियपर्व—-ब्राह्मणाचारसमन्वितम्
३—बुद्धिमनसी—-तदनुगतं—**दीपावली-पर्व** [वैश्यपर्व—-ब्राह्मणाचारयुक्तम्
४—मनःशरीरे—-तदनुगतं—**होलिका-पर्व** [शूद्रपर्व—ब्राह्मणाचारे प्रतिष्ठितम्

——**——

१५–होलिकापर्व के सांस्कृतिक स्वरूपसमन्वय का प्रयास, एवं नैगमिक जागरूक अग्नि-देव का पावन संस्मरण—

लोकबुद्धि से अनुप्राणित, मनःशरीरप्रधान होलिकापर्व का मूलप्रतिष्ठात्मक नैगमिक आत्माचार क्या है ?, प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत 'होलिकापर्व' का वह सांस्कृतिक–स्वरूप है, जिसे विस्मृत कर देने वाला भारतराष्ट्र आत्माचारशून्य, केवल–मनःशरीरप्रधान बाह्य–प्रतीक भावों को ही 'होलिका' का स्वरूप मान बैठा है। होली के बाह्याचार के सम्बन्ध में इसलिए कुछ भी निवेदन न करना हीं श्रेयःपन्था मान लिया है हमने इसलिए कि, इसके प्रतीकात्मक बाह्य–भावों के सम्बन्ध में जो कुछ कहना चाहिए था, वह तीन सहस्रवर्षों से निरन्तर कहा जारहा है। प्रकृतिसिद्ध, अर्थात् लोकबुद्धि से–युक्त मनःशरीरसिद्ध प्राकृतिक मानसिक शारीरिक कामभावात्मक हास–परिहासों–मनोविनोदों, नृत्य–गीत–वाद्यों, विविध–रङ्गरञ्जनों, आदि आदि से समन्वित होलिका के प्रतीकात्मक–बाह्य–भावसमुद्रों में हीं भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्र वर्षों से आपाद–मस्तक निमज्जित होता आरहा है। अतएव हमें तो उस निगमदृष्टि–युक्त–आत्माचार के सम्बन्ध में हीं दो शब्द निवेदन कर देने हैं, जो नैगमिक आचार तीन सहस्रवर्षों से प्रक्रान्ता मनःशरीरानुगता भावुकता के उत्तेजक आत्मबुद्धिशून्य-शून्यवाद के निग्रह से अन्तर्मुख ही प्रमाणित होता आरहा है। तदेव श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् !! जिस '**अग्निजागरणनिबन्धन–होलिकापर्व**' का सूत्र है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह–तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—ऋक्संहिता

१६–अग्निजागरण, एवं होलिकामहोत्सवानुगत चिरन्तन–सांस्कृतिक-इतिवृत्त का मनोराज्य में अन्वेषण—

"अग्निदेव जग पड़े हैं। ऐसे जागरूक अग्निदेव की ऋचाएँ कामना कर रहीं हैं। अग्नि जग पड़े हैं। ऐसे जाग्रत अग्नि की ओर साम अनुगत होरहे हैं। अग्नि जाग पड़े हैं। ऐसे जाग्रत अग्निदेव से सोम कह रहे हैं कि, हे अग्निदेव ! मैं [तो] आपका निचली श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने वाला [भोग्य] सखा [मित्र] हूँ", यह है मन्त्र का अक्षरार्थ, जिसके द्वारा महर्षि ने आधेयरूप से अग्नि का जागरण ही बतलाया है। वह कौनसा सोम है, जो आधाररूप से स्वयं तो भोग्य बन जाता है, एवं अग्नि को आधेयरूप से अपने ऊपर प्रतिष्ठित कर उसे अधिकाधिक प्रज्वलित होने का अवसर दे रहा है ?, इस प्रश्न के रहस्यात्मक समाधान में हीं '**होलिकापर्व**' का सम्पूर्ण चिरन्तन इतिवृत्त गर्भीभूत है। अन्वेषण कीजिए अग्निजागरणात्मक उक्त मन्त्रसूत्र

के आधार पर प्रश्न–समाधान का अपनी नैगमिक-आचारप्रज्ञा के द्वारा अपने मनोराज्य में हीं-'**मनीषिणो मनसा पृच्छतेतदु**'–'हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा'।

१७-महाकालपुरुष के सत्तासिद्ध, एवं भातिसिद्ध नामक दो विवर्त्त—

महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली से समन्वित अर्द्धनारीश्वर आदिदेव महादेव ने विश्वस्वरूप-संरक्षण के लिए अपने आपको **सत्ताकाल**, **भातिकाल**–रूप से दो महिमाभावों में परिणत किया, जिनकी कि दशमहाविद्या के प्रथम महाकाली–प्रकरण में स्तुति की जा चुकी है। '**करालं–कालकालं–महाकालं–कृपालुम्**'-लक्षण महाकालपुरुष का संस्मरण करते हुए ही आज हम उस महान् '**अग्निजागरणेतिवृत्त**' के यशोवर्णन में प्रवृत्त हो रहे हैं, जिसका **महर्षि दीर्घतमा** के सुप्रसिद्ध अस्यवामीयसूक्त के कतिपय–मन्त्रों से स्पष्टीकरण हुआ है। आनन्द–विज्ञान-गर्भित, मनः–प्राण–समन्वित–वाग्रूप, सहस्रवल्शेश्वर-षोडशी अश्वत्थात्मा-पूर्णेश्वर–प्रजापति ही वह 'सत्तासिद्ध' महाकाल है, जिसके आधार पर नाम-रूप–कर्म्मात्मक–भातिसिद्ध काल प्रतिष्ठित है। महाकालपुरुष की महाशक्ति महाकाली का ही यह प्रभाव है कि, मनःशरीरमात्रपरायण–मादृश–प्राकृत–प्राणी नामरूप–कर्म्मात्मक भातिसिद्धकाल को तो सत्तासिद्ध (वस्तुतत्त्व) मान रहे, और मनवा रहे हैं, जबकि तत्त्व-द्रष्टा महर्षियों की दृष्टि में नामरूपात्मक काल भातिसिद्ध ही है। एवमेव मनःप्राणवाग्रूप सुसूक्ष्म इन्द्रियातीत-सत्तासिद्धकाल हमारे लिए भातिसिद्ध बना हुआ है, जबकि ऋषिदृष्टि में यही वास्तव में सत्तारूप काल है, जिस की सत्ता से ही भाति भी भाति [प्रतीति] की अनुगामिनी बन रही है। यही तो **ऋषिप्रज्ञा**, तथा **लोकप्रज्ञा** में वह महान् अन्तर है, जिसके लिए कालपुरुषावतार भगवान् ने कहा है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गीता२।६।६।)

१८ महाकालपुरुष के पारम्परिक प्रतिनिधि—

"जो हम संसारियों के लिए रात है, तत्त्वज्ञों के लिए वही दिन है। उनके लिए जो दिन है, वही हम मूढ़मतियों के लिए रात है।" तथैव भातिसिद्ध काल हमारे लिए जहाँ सत्तासिद्ध बन रहा है, वहाँ तत्त्वदृष्ट्या वही वास्तव में सत्तासिद्ध है, जबकि जिस नामरूपात्मक विवर्त्त को हमने सत्तारूप मान रक्खा है, वह वस्तुगत्या भातिसिद्ध ही है। महाकालानुगत–तत्त्ववाद की इस दुर्बोध्या मीमांसा से हम होलिका जैसे उन्मुक्त–वातावरण को क्षुब्ध नहीं करना चाहते। अतएव महाकालपुरुष की इस गहनाटवी से बाहिर निकलते हुए हम लोकदृष्ट-श्रुत–उपवर्णित उस कालचक्र की ही शरण में आजाते हैं, जिसे हम अपनी लोक–व्यवहार-भाषा में '**वर्ष**' कहा करते हैं। अनन्त-असीम-कालपुरुष को मनमें हीं प्रणाम कर उनके ही इस सोपाधिक–सीमित '**वर्षकाल**' का आश्रय-ग्रहण कर लेना हीं हमारे लिए श्रेयःपन्था होगा, जिस वर्षात्मक–सम्वत्सरकाल को ही हम उस अनन्त-अनवच्छिन्न–लोकातीत–महाकालपुरुष का उसी प्रकार नैदानिक प्रतीक मान लेंगे, जैसेकि–वर्षात्मक सम्पूर्ण काल का प्रातिनिध्य एक अहोरात्र कर रहा है।

१६-सम्वत्सरकालानुगत कालाग्नि के दो विवर्त्त—

अनन्तकाल के प्रतिनिधि बने हुए, अतएव हमारे लिए तो **धाता यथापूर्वन्याय** से अनन्तभाव में हीं परिणत रहने वाले इस '**सम्वत्सरकाल**' को हम जैसे बालबुद्धियों के लिए उपास्य–आराध्य–अनुगमनीय-

बनाने के लिए ही ऋषिप्रज्ञा ने अनेक सोपाधिक खण्डों में परिणत कर रक्खा है, मान रक्खा है, जोकि खण्ड-काल, किंवा कालखण्ड **अयन, चातुर्म्मास्य, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त्त,** आदि आदि भेद से अनेक विवर्त्तभावों में परिणत हो रहे हैं। अनन्तकालपुरुष जैसे **सत्ता,** और **भाति**-रूप से दो महिमाभावों में परिणत है, तथैव तत्-प्रतीक-प्रतिनिधिरूप यह सम्वत्सरकाल भी उन्हीं दोनों सत्ता-भाति-रूपों से दो महिमा-भावों में परिणत हो रहा है। '**वयोनाधकाल**' का नाम है भातिसिद्धकाल, एवं '**वयःकाल**' का नाम है सत्ता-सिद्धकाल। क्या तात्पर्य्य ?। अभी यही तात्पर्य्य जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, प्रत्येक धामच्छद [स्थान घेरने वाले] पदार्थ में पदार्थ, और पदार्थ का आकार, ये दो भाव प्रत्यक्षदृष्ट हैं। वस्तुपिण्ड की चारों ओर की वर्त्तुल-षट्कोण-चतुष्कोण-त्रिकोणादि-बाह्यसीमाएँ हीं वस्तुपिण्ड का वह आकार है, जिस सीमात्मक बाह्य आकार से वस्तुपिण्ड सीमित बना रहता हुआ अपने **अस्ति-जायते-विपरिणते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति**-इन छ प्रकार के भूतविकारधर्मों से समन्वित रहता है। आकार वस्तु नहीं है, अपितु आकार से जो आकारित है, वही वस्तु है, जो स्थानावरोधी तत्त्व है अत्रिप्राण के अनुग्रह से। आकार का नाम हीं '**वयोनाध**' है, आकारित वस्तु का नाम हीं-'**वयः**' है। वयोनाध को ही '**छन्द**' [सीमा-आयतन] कहा गया है। इस छन्द से छन्दित-सीमित वस्तु-तत्त्व का नाम हीं छन्दित पदार्थरूप वह '**वय**' है, जबकि इसे सीमा से नद्ध-बद्ध सीमित करने वाला छन्द ही-'**वयोनाध**' है। यह वयोनाधरूप छन्दोभाव, तथा वयोरूप छन्दित पदार्थ कहने मात्र के लिए दो विभिन्न तत्त्व हैं। वस्तुतः किसी एक ही अचिन्त्य-सदसद्विलक्षण तत्त्व के ही दो महिमारूप विवर्त्तमात्र हैं। वही अन्तर्म्महिमा से 'वयः' है, बहिर्म्महिमा से 'वयोनाध' है। और ये वयोनाध-वय-भाव ही क्रमशः-**भातिसिद्धकाल, सत्तासिद्धकाल** हैं, जो एक ही अनन्तकालतत्त्व के दो महिमात्मक विवर्त्त हैं। जो नामव्यवहार भातिसिद्धकाल के लिए नियत हैं, प्रायः वे ही नामव्यवहार सत्तासिद्धकाल के लिए नियत हैं। सम्वत्सर-अयन-चातुर्म्मास्य-ऋतु-मास-पक्ष-अहः-रात्रिः-आदि सत्ता के नाम हैं, तो ये ही भाति के भी नाम हैं। क्या तात्पर्य्य ?, तात्पर्य्य यही है कि, उदाहरणरूपेण एक आम्रवृक्ष आपके सम्मुख है। वसन्त में इसके नवपल्लव-आए, मञ्जरी आई, फल आए, वर्षा के आते आते आम्रवृक्ष आम्र-फलों से समालुप्त होगया। ये पल्लव-शाखा-प्रशाखा-मञ्जरी-फल-आदि सभी सत्तासिद्ध हैं, धामच्छद 'वयो' रूप पदार्थ हैं। इन्हीं का नाम हैं सत्तासिद्ध 'काल', जो भातिसिद्ध वसन्त-ग्रीष्मादि भातिसिद्ध कालों के द्वारा सीमित हो रहा है। भातिसिद्धकाल से सीमित सत्तासिद्धकाल ही आम्ररूप में परिणत हो रहा है। आम्राकार भातिसिद्धकाल है, आम्रवृक्ष सत्तासिद्धकाल है। काल से पीड़ित काल ('सत्ता' से पीड़िता 'भाति') ही आम्रवृक्ष का सम्पूर्ण इतिवृत्त है *। दोनों में अस्मदादि सामान्य जन भातिसिद्धकाल का तो अपने व्यवहारों में-'**समय पर ही सबकुछ होता है**' इत्यादिरूप से यशोवर्णन करते रहते हैं। किन्तु-'**समय पर समय ही सबकुछ बनता है**' इस व्यवहार से हम अपरिचित हैं, जिसमें-'**समय पर**' का '**समय**' भाति का सूचक है, एवं '**समय ही**' का '**समय**' सत्ता का सूचक है।

---

* **एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं, 'मां' चाचिन्त्यपराक्रमः।**
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः-कालं कालेन पीडयन् (मनुः १।५१।)

२०–सम्वत्सरप्रजापति, और उसके अग्न्यात्मक सम्वत्सर, तथा कालात्मक सम्वत्सर-नामक दो महिमा विवर्त —

क्या स्वरूपव्याख्या है सत्तासिद्ध काल की ?, तो उसी उपलालनभाव से निवेदन कर दिया जायगा कि–'अग्नि' ही स्वरूपव्याख्या है सत्तासिद्धकाल की। उपलालन शब्द का प्रयोग हमें इसलिए करना पड़ा कि, यही व्याख्या भातिसिद्धकाल की है। छन्दोरूप वयोनाध भी अग्नि ही है, छन्दित वस्तु भी अग्नि ही है। **छन्दोऽग्नि** भातिसिद्ध कालाग्नि है, **छन्दितोऽग्नि** सत्तासिद्ध कालाग्नि है। अग्न्याधार सोम ही वस्तुस्वरूप में परिणत हो रहा है। सोमाधार अग्नि ही वस्तुस्वरूप का छन्द बना हुआ है। और भातिसिद्ध, तथा सत्तासिद्ध,-दोनों हीं काल अग्नीषोमात्मक ही प्रमाणित हो रहे हैं। स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि ही पारमेष्ठ्य सोम का आधार है। यही सोमाधारभूत ब्रह्माग्नि है, जिसे हम भातिसिद्ध काल कहेंगे अपनी भूतत्रिलोकी की दृष्टि से। एवं पारमेष्ठ्य सोमाधार पर प्रतिष्ठित सौरकालाग्नि को ही हम कहेंगे–सत्तासिद्धकाल, जिस इस अग्नीसोमयुग्म से ही त्रैलोक्यपदार्थ प्रसूत हैं–**'नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः'**। और कदापि इस तथ्य का समन्वय भाषा–लिपि–आदि से सम्भव नहीं है। यह तो अनन्यनिष्ठा से स्वाध्याय के द्वारा अन्तर्म्मन में आराधना का ही विषय है, जिसका वैखरी वाणी के द्वारा व्यक्त करने का जितना अधिक प्रयास किया जायगा, तत्त्व उतना ही अधिक जटिल बनता जायगा। **यमेवैष वृणुते, तेन लभ्यः नानुध्यायान्–बहूञ्छब्दान्–वाचो विग्लापनं हि तत्**"।

२१–सम्वत्सरप्रजापति, और उसके छन्दःपुरुष, तथा यज्ञपुरुष नामक दो महिमाविवर्त–

छन्दोऽग्नि भातिसिद्धकाल है, जिसे सर्वसाधारण **'समय'** कहा करता है, एवं छन्द से छन्दित वयोरूप वस्त्वग्नि सत्तासिद्धकाल है, जिसे सर्वसाधारण **'पदार्थ'** कहा करता है। समय पर ही वस्तु उत्पन्न होती है, समय पर्य्यन्त ही उत्पन्न वस्तु ठहरती है, एवं समय आने पर ही वस्तु विलीन हो जाती है। यह 'वस्तु' ही सत्तासिद्धकाल है। यद्यपि यों दोनों हीं काल अग्न्यात्मक, किंवा अग्नीषोमात्मक हैं। तथापि समझने के लिए हम यहाँ छन्दोग्नि को तो **'काल'** कह देते हैं, एवं छन्द से छन्दित वस्तुरूप अग्नि को **'अग्नि'** कह लेते हैं। काल का नाम **'कालपुरुष'** रख लेते हैं, अग्नि का नाम **'यज्ञपुरुष'** रख लेते हैं। एवं महाविश्व में अव्यक्त **स्वयम्भू** को तो **'कालपुरुष'** का प्रतिनिधि मान लेते हैं, एवं व्यक्त **सूर्य्य** को **'यज्ञपुरुष'** का प्रतिनिधि मान लेते हैं। और इसी मान्यता के आधार पर अब हम यह कह सकते हैं कि, सौरब्रह्माण्ड ही वह सत्तासिद्ध कालाग्नि है, जिसके सम्वत्सर–अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–मास–पक्ष–अहः–रात्रि–आदि कलनात्मक अवयव हैं। स्मरण रहे–सम्वत्सर–अयनादि 'समय' वाचक नहीं है इस दृष्टिकोण में। अपितु अग्नि की स्वरूपावस्थाओं का नाम हीं सम्वत्सर--अयनादि हैं, जो सम्वत्सर--अयन--चातुर्म्मास्य--आदि शब्द लोकव्यवहार में भातिसिद्ध, सुप्रसिद्ध **'समय'** रूप काल के भी संग्राहक बन गए हैं। सम्वत्सर अग्नि है। इसका भोग जितने समय में होता है, वह कालावधि भी 'सम्वत्सर' कहलाने लग पड़ी है। अयन अग्नि का नाम है, तद्भोग्यकाल भी 'अयन' कहलाने लगा है। और यही व्यवस्था चातुर्म्मास्य--ऋतु--मास--पक्ष–अहोरात्रादि में समन्वित हो रही है।

२२–अग्निसम्वत्सर से अभिन्न कालसम्वत्सरचक्र का स्वरूपदिग्दर्शन—

कालाग्निरुद्र, कालाग्निसूर्य्य, आदि शब्द अग्न्यात्मक--सत्तासिद्ध--सौराग्निकाल की ओर ही सङ्केत कर रहे हैं, जिसके सम्बन्ध में--'**कालसंज्ञमादित्यमुपासीत**' (मैत्र्युपनिषत् ६।१६।) इत्यादि प्रसिद्ध है। भातिसिद्ध इस सम्वत्सरचक्र (समयचक्र) के गायत्री--उष्णिक्--अनुष्टुप्--बृहती--पंक्ति--त्रिष्टुप्--जगती--नामक सात अवान्तर छन्द माने गए हैं, जो कि सप्त छन्द सौर आदित्यप्राण के वाहन–स्थानीय--'अश्व' बने हुए हैं। क्रान्तिवृत्तरूप एक ही छन्दोरूप अश्व गायत्र्यादि सात व्याहृतियों (नामों) में परिणत हो रहा है, जैसाकि--'**एको अश्वो वहति सप्तनामा**' इत्यादि से प्रसिद्ध है। ये ही सुप्रसिद्ध सात अहोरात्रवृत्तात्मक पूर्वापरवृत्त हैं, जिनके आधार पर सम्वत्सर के अवयवरूप कालात्मक अहोरात्रों की व्यवस्था व्यवस्थित है। त्रिकेन्द्रात्मक क्रान्तिवृत्त अण्डवृत्ताकार है। अण्डवृत्त का स्वरूपनिर्म्माण ही त्रिवृत्तों (वर्त्तुलवृत्तों) से हुआ करता है, जिसे '**दीर्घवृत्त**' कहा गया है। ऐसा है यह क्रान्तिवृत्तात्मक एकचक्रात्मक रथ, जिस इत्थंभूत कालचक्र पर (छन्दोरूप कालचक्र पर) आरूढ सत्तासिद्ध कालरूप सूर्य्यनारायण विश्वचक्षा–विश्वसाक्षी बने हुए हैं अपने भोग्य भास्वरसोमरूप चन्द्रमा को साथ लिए हुए। सत्याग्निमूर्त्ति सूर्य्य, तथा सत्यमूर्त्ति चन्द्रमा हीं–'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः**' (ऋक्सं० १०।१९०।३।) के अनुसार इस व्यक्त–महाविश्व के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बने हुए हैं, जिन इन दोनों में विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य्य ही वह रथाक्ष (धुरा) है, जो सम्वत्सरचक्ररूप रथ के अजस्ररूप से, अनवरतरूप से परिभ्रमण करते रहने पर भी नाममात्र के लिए भी तो उत्तप्त नहीं हो जाता *, जैसे कि लौकिक रथ की अक्षनाभि (धुरा–लौदण्ड) रथगति से उत्तप्त होकर रथगति की अवरोधिका बन जाया करती है। सत्तासिद्ध सौरकालाग्निगर्भित भातिसिद्ध कालात्मक–सम्वत्सरमण्डल के इसी स्वरूप का महर्षि दीर्घतमाने अनेक मन्त्रों से रहस्यपूर्ण विश्लेषण किया है, जिनमें से प्रकृत में केवल इसी मन्त्र का संस्मरणमात्र कर लिया जाता है कि—

> **सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।**
> **त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः॥**
>
> —ऋक्सं० १।१६४।२।

२३-सम्वत्सरचक्रानुगत सनातन सृष्टिधाराक्रम—

छन्दोरूप सम्वत्सरचक्र के केन्द्र में प्रतिष्ठित अक्षरूप सूर्य्यनारायण हीं सृष्टिकामना से, '**एको ऽहं बहु स्याम्**' लक्षणा सिसृक्षा से अपने प्राणमय तप से, तथा वाङ्मय श्रम से अपने अङ्गीस्वरूप को प्रस्तुत कर तद्द्वारा प्रवर्ग्यभाग में परिणत हो रहे हैं। एवं सत्यसूर्य्य, तथा सत्य चन्द्रमा के प्रवर्ग्य अग्नि–सोम हीं उस अङ्गभाव में परिणत हो रहे हैं, जिन अङ्गों की समष्टि को तो कहा गया है-सम्वत्सर, एवं जिन अङ्गों की

> * **पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।**
> **तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्य्यते सनाभि॥**
>
> —ऋक्सं० १।१६४।१३।

व्यष्टियाँ प्रसिद्ध हुई हैं अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–मास–पक्ष–अहोरात्रादि नामों से । समष्टि–व्यष्टयात्मक–प्रवर्ग्यरूप इन अङ्गों से ही सूर्य्यनारायण प्रजासन्तति के उत्पादक बन कर आज लोक-वेद में '**प्रजापति**' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसेकि अर्द्धाकाशात्मक पुरुष (पति), एवं अर्द्धाकाशात्मिका स्त्री (पत्नी) के दाम्पत्य से प्रवृत्त–अङ्गभूत शुक्र–शोणित के समन्वय से सन्तति उत्पन्न कर यह दम्पती 'प्रजापति' कहलाने लग पड़ता है । किंवा जिसप्रकार अपने स्वायम्भुव **ब्रह्माग्नि**, तथा पारमेष्ठ्य **सुब्रह्मसोम** के प्रवर्ग्य भागों से विराटसूर्य्यपुत्र को उत्पन्न कर आदिब्रह्मा 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं । यही तो वह सनातन–सृष्टिधाराक्रम है, जो **आब्रह्मभुवनाल्लोकात्** (स्वयम्भुवब्रह्म से उपक्रान्त होकर पार्थिव प्राणिसर्गपर्य्यन्त) यथापूर्व उसी प्राजापत्य–मर्य्यादा से प्रक्रान्त है धारावाहिकरूपेण ।

२४–विश्वकर्म्मा प्रजापति के प्रतिमानभाव—

विश्वकर्म्मा स्वयम्भूने (आदिब्रह्माने) सृष्टिस्वरूपाविर्भाव के लिए जो सनातन नियम आचाररूप से स्वयं अपने दाम्पत्य–जीवन में समन्वित किए थे, '**शिक्षा सखिभ्यः॰**' ÷ के अनुसार मानो अपने प्रतिमान-रूप ही इतर सम्पूर्ण समष्टि–व्यष्टयात्मक प्राणसर्गों–प्राणिसर्गों–भूतजड़सर्गों को उन्हीं सनातन–दाम्पत्य–नियमों की शिक्षा ही दे रहे हैं, **जिस दाम्पत्य नियम के शिक्षण की जयन्ती से सम्बन्ध रखने वाला सौर-ब्रह्माण्डानुगत महोत्सव ही 'होलामहोत्सव,' किंवा 'होलिकापर्व' नाम से प्रसिद्ध है । एवं उसी उपक्रमतिथि को सनातनकाल से सनातन–आर्षप्रजा उस जयन्ती–उत्सव का ही मानो होलिका-दहन के माध्यम से प्रतिवर्ष सोत्साह–सोल्लास मनाती आरही है, जिसके नैगमिक इतिवृत्त के सम्बन्ध में हीं हमें प्रकृत प्रकरण में दो शब्द निवेदन कर देने हैं ।**

२५–सौरमण्डलानुगत दाम्पत्य–स्वरूप का दिग्दर्शन—

कौन सी है वह पावनतिथि, जिस दिन दाम्पत्यजीवन की मूलप्रतिष्ठारूपा सनातन–नियमधारा का उपक्रम हुआ था सौरब्रह्माण्ड में, एवं आज भी जिस उस तिथि पर ही प्राकृतिक दाम्पत्यजीवन प्रतिवर्ष उपक्रान्त होता रहता है ?, प्रश्न के समाधान से पूर्व दो शब्दों में सौरब्रह्माण्ड के 'दाम्पत्य' स्वरूप का ही हमें साक्षात्कार कर लेना चाहिए । श्रुति का एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है–'**तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्वयो जाया भवन्ति**' । जिसका अक्षरार्थ है–'**एक पुरुषपति के अनेक जाया–पत्नियाँ हुआ करतीं हैं**' । इस श्रुति–के द्वारा प्रतिपादित तत्त्ववाद में न जाकर हमें रोदसीब्रह्माण्डाधिनायक सूर्य्यपुरुष के सम्बन्ध में हीं उन के जायाभावों का विचार कर लेना है, जिस सूर्य्यपुरुष के साथ तो उक्त श्रुति अवश्य ही सर्वात्मना समन्वित हो रही है ।

२६–सूर्य्यपुरुषानुगत विविध 'पत्नी' भाव—

शनैश्चर–बृहस्पति–देवसेना–मङ्गल–शुक्र–बुध–भूपिण्ड, आदि सभी पिण्ड सूर्य्य के उपग्रह माने गए हैं । अनन्त–पारमेष्ठ्य–सरस्वान् समुद्र में प्रचण्ड–उल्काग्निरूप में परिणत ज्योतिर्म्मय पिण्ड ही सूर्य्य

÷ या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
—ऋक्सं॰ १०।८१।५।

का भृग्वङ्गिरोमय आदि स्वरूप था, जो प्राजापत्य–गतिशील–प्राण से समन्वित होकर प्रचण्डरूप से ही परिभ्रममाण था, आज भी परिभ्रममाण है, कल्पान्त–पर्य्यन्त यों हीं परिभ्रममाण बना रहेगा। परिभ्रममाण उस महान् ज्योतिःपिण्ड से जो भाग प्रवर्ग्यरूप से पृथक् होकर उसी स्थान में अपना अपना स्वतन्त्र परिभ्रमणवृत्त बनाते हुए अपने मूलप्रभव ज्योतिःपिण्ड के चारों ओर परिभ्रमण करने लग पड़े, आज भी परिभ्रमण कर रहे हैं, उन परिभ्रममाण प्रवर्ग्य भागों को ही 'उपग्रह' कहा गया, एवं प्रवृक्त होने से जो शेष ज्योतिःपिण्ड बच रह गया, वही इन उपग्रहों की अपेक्षा 'ग्रह' नाम से प्रसिद्ध होगया, जिसे कि व्यवहारभाषा में 'सूर्य्य' कहा जारहा है। इसका यह ग्रहत्त्व अपने उपग्रहों से ही अनुप्राणित है, इन अपने उपग्रहों से ही यह स्थिररूप से परिभ्रममाण है, जबकि परमेष्ठ्यी की दृष्टि से तो यह भी उपग्रह बनता हुआ परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, जिस स्थिति का प्रकृत में प्रसङ्ग नहीं है।

२७–ब्रह्मौदनरूप सूर्य्यग्रह के प्रवर्ग्यरूप सौर उपग्रह, एवं उनमें भू–उपग्रह का स्थान—

प्रवर्ग्यरूप उपग्रहपिण्ड ही भूपिण्ड–बुध–शुक्र–मङ्गल–आदि नामों से प्रसिद्ध हुए, जो सूर्य्य के उपग्रह कहलाए हैं। प्रत्येक उपग्रहपिण्ड अपने प्राणात्मक प्रथनभाव से '**यदप्रथयत्**' निर्वचन से 'पृथिवी' है। पृथिवीरूप प्रत्येक उपग्रह के लिए ग्रहरूप सूर्य्य 'द्युलोक' है। यों ग्रह–उपग्रह रूप से '**द्यावापृथिवी**' नामक एक अपूर्व सम्बन्ध का उदय हो पड़ता है। द्यौ एक है, उपग्रहरूप पिण्डपृथिवियाँ अनेक हैं। द्यौरूप ग्रहसूर्य्य पुरुष है, पति है। पृथिवीरूप उपग्रहपिण्ड स्त्री है, पत्नियाँ है। और यों एक ही सूर्य्यरूप द्युपुरुष के उपग्रहरूप अनेक पृथिवी–पत्नियाँ विद्यमान हैं, जिनमें से प्रकृत में हमारा सम्बन्ध उस '**जाया**' से है, जिसे 'भूपिण्ड' नामक उपग्रह कहा जारहा है, जो कि हम भौम–पार्थिव–प्राणियों की सर्वस्व बनीं हुई हैं। अन्य पृथिवी–पिण्डों के साथ भी सूर्य्यरूप द्युपिता का ऐसा ही दाम्पत्य सम्बन्ध हो रहा होगा, जिन रहस्यपूर्ण इतिवृत्तों का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। पुराणशास्त्र की सुप्रसिद्धा **ज्योतिष्चक्रविद्या** (**खगोलविद्या**) में इन सभी सौरदाम्पत्य–विवर्त्तों का विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

२८–पार्थिवप्रजा के प्रवर्त्तक सौर–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

हमारा लक्षीभूत दाम्पत्य तो है सूर्य्य, और तत्प्रवर्ग्यभूत वह भूपिण्ड, जिस पर हम जन्म लेते रहते हैं कर्म्मसंस्कारानुसार। सूर्य्य पुरुष है, यही द्यौः है, यही पति है भूपिण्डरूपा हमारी पृथिवी का, एवं यही हमारा पिता है। '**यो नः पिता जनिता धाता०**' (ऋक्संहिता)। भूपिण्ड ही स्त्री है, यही पृथिवी है अपने प्रथनरूप से। यही पत्नी है * द्यौरूप सूर्य्यपति की, एवं यही हमारी माता है। '**द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः**'÷) इत्यादि मन्त्र इसी सौरदाम्पत्य का स्वरूप व्यक्त कर रहा है। वही सूर्य्य–

---

* द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी, तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ [मनुः]

÷ द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः।
विश्व अदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वि यन्त ॥
—ऋक् सं० ६।५१।५।

पुरुष यों स्वयं अपने हीं ब्रह्मौदन, एवं प्रवर्ग्यभाव से ग्रह-उपग्रह रूप से दो भावों में परिणत होता हुआ पति-पत्नी--रूप में, द्यावापृथिवीरूप में परिणत हो रहा है। जिस प्रभु स्वयम्भू के दाम्पत्य से (ग्रहरूप द्यौः स्थानीय स्वयम्भू पिता, तथा उपग्रहरूप पृथिवी स्थानीय परमेष्ठी माता के दाम्पत्य से) विराट्सूर्य्य उत्पन्न हुए थे*, उसी प्राजापत्य-दाम्पत्य नियम का अनुगमन करते हुए स्वयं सूर्य्यनारायण में भी अपने ग्रहरूप स्वद्यौरूप से, तथा उपग्रहरूप स्वपृथिवी--रूप से, अपने आपको ही दाम्पत्यरूप में परिणत कर उस ÷ वैराज-मानवप्रजा को उत्पन्न कर दिया, जिसका प्रजननकर्म्म भी उसी सनातन-दाम्पत्यभाव का अनुगामी बना हुआ है।

२६-सौर दाम्पत्यभाव के आधार पर 'सम्वत्सर' शब्द का निर्वचनार्थ--समन्वय—

हाँ, तो मातृस्थानीय भूपिण्ड, तथा पितृस्थानीय सूर्य्यपिण्ड, इन दोनों द्यावापृथिवी--भावों की समष्टि का नाम हीं अपेक्षित वह दाम्पत्यरूप है, जिसके द्वारा हमें 'सम्वत्सर' शब्द की व्याख्या का अन्वेषण करना है। सूर्य्य को केन्द्र मान कर नियतवृत्तरूप-त्रिकेन्द्रात्मक-दीर्घवृत्त-क्रान्तिवृत्त पर स्वाक्षपरिभ्रमण करता हुआ, इस स्वाक्षपरिभ्रमण से होने वाली दैनंदिनगति से अहोरात्र का स्वरूप--निर्म्माण करता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर परिभ्रममाण है। सूर्य्य अपने हृदयाकर्षण से भूपिण्ड को अपने समीप आकर्षित कर रहा है, तो भूपिण्ड स्वयं अपने आकर्षण से सूर्य्य को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। इन दोनों समानाकर्षणों से मध्य में एक तीसरा ही वैसा नियत परिभ्रमणमार्ग बन जाता है, जो दोनों के आकर्षण-प्रत्याकर्षणों की सीमा निर्द्धारित कर रहा है। वही नियत मार्ग क्रान्तिवृत्त कहलाया है। 'वृत्त' का क्या अर्थ ?, क्या स्वरूप ?। यही अर्थ, और यही स्वरूप कि, भूपिण्ड अपने हृदयानुगत सत्य-ऋजुभाव से सर्वथा ऋजुमार्ग (सीधी रेखा) पर जाने लगता है, तो पुनः केन्द्रस्थ सूर्य्य भूपिण्ड को सीधा न जाने देकर वक्रित कर लेता है। यों परिभ्रमणशील भूपिण्ड की गति अपनी प्रतिबिन्दु से सूर्य्य की ओर अनुगत होती जाती है। प्रतिबिन्दु-बिन्दु-भावानुगता इस छद्मगति-कुटिलगति-वक्रगति से ही पार्थिवगतिमण्डल-'वृत्त' (चक्र) रूप में परिणत हो जाता है। जिसे वृत्त (छन्द--वयोनाध-चक्र) कहा जाता है, उसकी प्रतिबिन्दु केन्द्रानुगामिनी बनती हुई वक्रित होरही है। यह वक्रता ही वृत्तस्वरूप की सम्पादिका है। इसी वक्रता के कारण इस पार्थिव परिभ्रमणवृत्त का नाम रक्खा गया है-'**सर्वत्सर**'। '**सर्वतः-त्सरन्-गच्छति,-सर्वतः त्सरन्नेव भवति**' ही इस शब्द का निर्वचनार्थ है। जो गतिमण्डल अपने सम्पूर्णरूप से त्सरण ('त्सर' छद्मगतौ) कराता हुआ, प्रतिबिन्दु से कुटिल-वक्रित-बनता हुआ मण्डलरूप में परिणत हो रहा है, वही-'**सर्वत्सर**' कहलाया है, जो कि 'सर्वत्सर' शब्द ही परोक्ष-प्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में-'**सम्वत्सर**' कहलाया है, जैसाकि श्रुति ने कहा है—

स ऐक्षत प्रजापतिः-सर्वं वाऽअत्सारिषं, य इमा देवता असृक्षीति, स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतत्-यत् सम्वत्सर इति। —शत० ११।१।६।१२।

---

* **यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्सं० १०।८२।३।

÷ **वैराजो वै पुरुषः** (ताण्ड्य० ब्रा० २।७।८)।

३०–कालसम्वत्सर, तथा अग्निसम्वत्सर–नामक दोनों सम्वत्सरों की सर्वत्सरमूला–सम्वत्सरता का समन्वय—

उक्त श्रुति कालात्मक, तथा अग्न्यात्मक, दोनों सम्वत्सरों का सम्मिलितरूप से स्पष्टीकरण कर रही है। अग्निरूप पार्थिव प्रजापति इस परिभ्रमण के द्वारा अपने आग्नेय भावों का पार्थिवप्रजा के निर्म्माण में प्रस्रवण–करते जारहे हैं। इस पार्थिवपरिभ्रमण से ही पार्थिवतत्त्व प्रवर्ग्य बन कर पार्थिवप्रजा के निर्म्मापक–स्वरूप–सम्पादक बन रहे हैं। सम्पूर्ण परिभ्रमणमण्डल में व्याप्त प्राजापत्य–पार्थिव अग्नि अपने इस सम्पूर्ण स्वरूप से प्रवर्ग्यदान करते हुए–'**सर्वं वा अत्सारिषं–य इमा देवता असृक्षीति**' को चरितार्थ कर रहे हैं। इस सर्व–प्रवर्ग्यदान–सम्बन्ध से जहाँ अग्न्यात्मक पार्थिवतत्त्व (सत्तासिद्ध अग्निकाल) सर्वत्सररूपेण 'सम्वत्सर' है, वहाँ कालात्मक पार्थिवमण्डल (अग्निसिद्ध कालाग्नि) भी अपने प्रवर्ग्याग्नि के प्रवर्ग्यदानानुपात से वक्रगतिरूप से 'सर्वत्सर' बन रहे हैं। कालात्मक सर्वत्सर का अर्थ है–**वक्रिता गति**, एवं अग्न्यात्मक सर्वत्सर का अर्थ है–'**सम्पूर्ण प्रवर्ग्य का दान**'। तत्त्वदृष्ट्या मण्डलरूपेण सर्वत्सरता दोनों सम्वत्सरों की संसिद्ध है।

जिस दाम्पत्य के आधार पर सनातननियमधारा का जिस पावनतिथि में उपक्रम होता है, उस दाम्पत्य के सम्बन्ध में '**एकस्य पुरुषस्य बह्व्यो जाया भवन्ति**' अनुगमन से सम्बन्ध रखने वाले सौरप्रजापति के दाम्पत्य भाव–प्रसङ्ग में 'सम्वत्सर' का स्वरूप स्पष्ट करना पड़ा। द्युलोकाधिष्ठाता, अतएव 'द्यौः' नाम से ही प्रसिद्ध सूर्य्य हमारे पिता हैं, एवं पृथिवी हमारी माता है, जो सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त के आधार पर पितासूर्य्य से दाम्पत्यभाव प्राप्त करती हुई अपने दाम्पत्यरूप इस 'द्यावापृथिव्य' स्वरूप से पार्थिवप्रजा के प्रजननोत्तर–दायित्त्व से समन्वित हो रही है। सम्वत्सरपरिभ्रमणमूलक इसी दाम्पत्यसम्बन्ध को 'सामविद्या' की भाषा में–'**सामातिमान**' कहा गया है। सौरसम्वत्सरमण्डल–'**बृहत्साम**' कहलाया है, पार्थिव सम्वत्सरमण्डल '**रथन्तर-साम**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। उक्त परिभ्रमण से सौर बृहत्साम पार्थिवसाम में, तथा पार्थिव रथन्तरसाम सौर बृहत्साम में अन्तरान्तरीभावात्मक–ओतप्रोतसम्बन्ध से समन्वित हो जाता है, एवं इसी पारस्परिक समन्वय को 'सामातिमान' कहा गया है, जिसका लोकव्यवहारार्थ है–'**दाम्पत्यसम्बन्ध**'। दोनों का समन्वित होकर एक–पूर्णरूप में परिणत हो जाना हीं इस अतिमान का अर्थ है। द्यावापृथिवी–सामों के समन्वय से सम्पन्न एक सम्वत्सर ही दोनों का दाम्पत्य है। अतएव 'सम्वत्सर' शब्द से दोनों विवर्त्त परिगृहीत हैं।

३१–साम्वत्सरिक–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्यभाव के संयोग, तथा विप्रयोगात्मक मिलन, तथा विरह–भावों का समन्वय—

'**संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः**' (महाभारत) इस प्राकृतिक नियम के अनुसार संयोग का अन्तिम परिणाम विप्रयोग है, एवं विप्रयोग का अन्तिम परिणाम संयोग है। इसी नियम के अनुग्रह से सूर्य्य–पृथिवी का यह दाम्पत्य भी **संयोग**, **वियोग**, रूपेण दोनों नियमों का लक्ष्य बनता रहता है। सम्वत्सर–चक्रमण्डलात्मक क्रान्तिवृत्त को लक्ष्य बनाइए। 'क्रान्ति' शब्द का एक अर्थ है–'**विदूरभाव**'। जो वृत्त सूर्य्य-पिण्ड, तथा भूपिण्ड, दोनों के प्राणों को सामातिमान के द्वारा परस्पर अतिसन्निकट ला खड़ा करता है, वही वृत्त अपनी वाक्परिमाणात्मिका छन्दोमर्य्यादा से दोनों पिण्डों को परस्पर कदापि नहीं मिलने देता। इस विदूरभाव-प्रवृत्ति के कारण ही सम्वत्सरमण्डलात्मक परिभ्रमणवृत्त क्रान्तिवृत्त [सूर्य्य–भूपिण्ड को एक दूसरे से दूर रखने

वाला वृत्त) कहलाया है। क्रान्तिवृत्त क्योंकि त्रिकेन्द्रात्मक बनता हुआ दीर्घवृत्ताकार है, अण्डवृत्ताकार है। अतएव इसकी क्रान्ति (दूरी) में वृत्ताकारानुपात से विदूरत्व एवं सामीप्य होता रहता है। कभी दोनों एक दूसरे से अत्यन्त विदूर चले जाते हैं, तो कभी थोड़े सन्निकट आजाते हैं। कभी ऐसा भी सुअवसर आजाता है कि, दोनों एक ही धरातल पर आजाते हैं, जबकि पिण्ड तो सदा पृथक् ही रहते हैं। दृष्टिसमसाम्मुख्यता ही एकधरातलता है। इसी अनुपात--तारतम्य से इस क्रान्ति [दूरी] के चार-प्रधान स्तम्भ मान लिए गए हैं। दक्षिणाकाश की चरमसीमा, उत्तराकाश की चरमसीमा, ये दो बिन्दुएँ क्रान्ति की निःसीमबिन्दु हैं। अतएव इन्हें-'**परमक्रान्ति**' कहा गया है, जिसका अर्थ है सूर्य्य, और पृथिवी की अत्यन्त दूरी, जिन दोनों परम-क्रान्तियों में दिन-रात सब से बड़े हुआ करते हैं।

३२-प्राकृतिक दाम्पत्यानुगत--क्रान्तिरूप विप्रयोगभाव, एवं क्रान्तिपातरूप संयोगभाव--

सूर्य्य का अपना प्रतिष्ठावृत्त है सातों अहोरात्रवृत्तों (गायत्र्यादि सात छन्दों) में मध्य का 'बृहतीछन्द' नामक अहोरात्रवृत्त, जैसाकि-'**सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति**' इत्यादि से स्पष्ट है। यही बृहतीछन्द (मध्य का अहोरात्रवृत्तात्मक पूर्वापरवृत्त) **विष्वद्वृत्त**, किंवा **विषुवद्वृत्त**, नाम से प्रसिद्ध है, जिसके केन्द्र में सूर्य्य स्थिररूप से प्रतिष्ठित है। '**मध्ये एकल एव स्थाता**' [छां० उप०] रूप सूर्य्यनारायण के इस विष्वद्वृत्त पर परिभ्रममाण भूपिण्ड जब आजाता है, तो दोनों की क्रान्ति [दूरी] हट जाती है। क्रान्ति का यह पतन ही '**क्रान्तिपात**' कहलाया है, जिसे ज्योतिर्वित् '**सम्पात**' कहा करते हैं। उत्तरपरमक्रान्ति, दक्षिणपरमक्रान्ति, इन दोनों परम-क्रान्तियों के अतिरिक्त वर्ष में दो बार ही इस क्रान्ति का 'पतन' भी हो जाता है, जो सम्पातकाल क्रमशः **वसन्तसम्पात, शरत्सम्पात** नाम से प्रसिद्ध है। यों वर्ष के क्रान्ति [दूरी] रूप वियोग, तथा सामीप्यरूप संयोगभावों के चार मुख्य स्तम्भ बन जाते हैं। इन चारों स्तम्भों में दो स्तम्भ-वियोगात्मक हैं, तो दो स्तम्भ संयोगात्मक हैं, और यहीं पुनः सूक्ष्मरूपेण कुछ और भी समझ लेना है।

३३--संयोगोपक्रमात्मक वसन्तसम्पातकाल, एवं विप्रयोगोपक्रमात्मक शरत्सम्पातकाल—

परिभ्रममाणा पृथिवी वसन्तसम्पातकाल में भी विष्वद्वृत्तस्थ सूर्य्य से संयोग कर रही है, एवं शरत्सम्पातकाल में भी सूर्य्य से संयोग कर रही है। और यों स्थूलदृष्टि से दोनों ही सम्पातकाल संयोगकाल बने हुए हैं पृथिवी के लिए। किन्तु संयोगजनित परिणाम की दृष्टि से वास्तविक संयोगकाल तो दोनों संयोगकालों में से केवल वसन्तसम्पातात्मक संयोग ही माना जायगा, जिसमें सौराग्नि अपने मधुरूप से पार्थिव प्राणों के साथ संयोग करता है, जैसाकि '**वसन्त**' शब्द से ही स्पष्ट है। शरत्सम्पातात्मक संयोगकाल तो मधु अग्नि की उत्क्रान्ति का ही काल ही माना गया है, जैसाकि स्वयं '**शरत्**' शब्द ही अभिव्यक्त कर रहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

३४-सूर्य्यपुरुष की पत्नीरूपा पृथिवी, एवं इसकी मिलनरात्रि, तथा वियोगरात्रि--

वसन्त में जहाँ सौर मधु-अग्नि पृथिवी से संयोग कर रहा है, वहाँ शरत् में पार्थिव सौर मध्वग्नि उत्क्रान्त हो रहा है। यों वसन्त जहाँ संयोगात्मक संयोगकाल बना हुआ है, वहाँ शरत् वियोगात्मक संयोगकाल बना हुआ है। व्यवहारभाषानुसार-वसन्त में सौर मध्वग्नि का पृथिवी में प्रभूतमात्रा से आगमन है

रहा है, एवं शरत् में सौर मघ्वग्नि प्रभूतमात्रा से पृथिवी से निकल रहा है। यों वसन्तसम्पातात्मक अहोरात्र जहाँ पृथिवी के लिए वास्तविक मिलन-अहोरात्र बने हुए हैं, वहाँ शरत्सम्पातात्मक अहोरात्र कहने सुनने मात्र के लिए पृथिवी के लिए संयोगकाल बनते हुए भी तत्त्वतः वियोगात्मक अहोरात्र ही प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव निष्कर्षतः वसन्तसम्पातात्मक अहोरात्र को ही हम द्यावापृथिवी (सौरपार्थिवप्राणों) के लिए 'दाम्पत्यकाल' कहेंगे, एवं इसी **वासन्तिक वासरानुगत** प्राकृतिक दाम्पत्ययुग्म को हम पार्थिव प्रजनन-कर्म्म की मूलप्रतिष्ठा मानेंगे। वासन्तिक-वासरजनिता उन्मादभाषा में इस स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है अपने सछन्दस्क दाम्पत्यार्द्धाङ्ग से ही कि—वसन्तसम्पातानुगता रात्रि **'मिलनरात्रि'** है, एवं शरत्सम्पातानुगता रात्रि **वियोगरात्रि** है। आगमभाषा में यह कहा जासकता है कि, वासन्तिक नवरात्रतत्त्व शक्तिसञ्चयकाल है, एवं शारदीय नवरात्रतत्त्व शक्तिह्रासकाल है। अतएव उपासनाक्षेत्र में शारदीय-नवरात्रों का विशेष महत्त्व स्थापित हो गया है, जैसाकि द्वितीय-आयोजनप्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है।

३५--दाम्पत्यसम्बन्धानुगत प्रजापति का प्रवर्ग्यात्मक विस्रंसन-

कालात्मक सम्वत्सर से (छन्दोरूप वयोनाध से) सीमित-छन्दित अग्न्यात्मक जिस सम्वत्सर का अबतक यशोगान हुआ है, उसके सम्बन्ध में सम्वत्सर के नामनिर्वचनप्रसङ्ग में पूर्व में यह कहा गया है कि, प्रजापति **'सर्वं वा अत्सारिषम्'** के कारण हीं 'सर्वत्सर' बन गए। एवं तभी से ये **'सम्वत्सरप्रजापति'** नाम से प्रसिद्ध होगए। क्या किया सम्वत्सरप्रजापति ने अपने त्सरणरूप विस्रंसन से ?। अर्थात् वसन्त सम्पातानुगत दाम्पत्य से प्रजापति ने कैसे, क्या उत्पन्न किया ?, यह प्रश्न उपस्थित हो पड़ा हमारे सम्मुख, जिसका वास्तविक समाधान रहस्यपूर्णा **'यज्ञविद्या'** पर ही अवलम्बित है, जिसका यहाँ नामसंस्मरण भी असम्भव है।

३६--विस्रंसनमूलक नित्ययज्ञ, एवं तद्द्वारा प्रजासर्गप्रसूति--

परिणाम इस 'यज्ञ' का यही हुआ कि, सम्वत्सर का भी स्वरूप सुरक्षित होता रहा इस यज्ञ से, एवं प्रजोत्पत्ति भी सनातननियमानुसार प्रक्रान्त बन गई। यों दाम्पत्य से सर्वप्रथम समुत्पन्न यज्ञ ने सम्वत्सरप्रजापति की क्षतिपूर्त्ति कर दी, एवं प्रजास्वरूप का भी निर्म्माण कर दिया, जैसाकि निम्नलिखिता स्मार्त्ती उपनिषत् से भी प्रमाणित है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ [गीता]

३७-दाम्पत्यभावानुगत प्रजापति का सृष्टिनिरपेक्ष सत्यस्वरूप—

इष्टकामधुक् (यथेच्छफलप्रदाता) सम्वत्सरयज्ञ का स्वरूप तथाकथित दाम्पत्य से कैसे सम्पन्न होगया ?, इस प्रश्न का समाधान ही **'ऋतविद्या'** है, जिसके द्वारा सम्वत्सर की क्षतिपूर्त्ति भी हो रही है, एवं प्रजा-निर्म्माण भी हो रहा है। ऋतविद्यानुगत 'ऋत' शब्द 'सत्यविद्यानुगत **'सत्य'** शब्दसापेक्ष है। सहृदय-सशरीर-वस्तुभाव ही 'सत्य' शब्द की स्वरूपव्याख्या है, एवं अहृदय-अशरीर-वस्तुभाव ही 'ऋत' शब्द की स्वरूपव्याख्या है। सम्वत्सरमण्डलरूप क्रान्तिवृत्त में प्रतिष्ठित सूर्य्य सहृदय-सशरीर बनते हुए 'सत्याग्नि'

मूर्त्ति हैं, एवं भास्वरसोममय चन्द्रमा सहृदय–सशरीर बनते हुए सत्यसोम–मूर्त्ति हैं। 'ब्रह्मौदनभाव' ही सत्य–स्वरूप की प्रतिष्ठा है, जो स्वस्वरूप की ही प्रतीष्ठा माना गया है। कदापि इस ब्रह्मौदनरूप से नवीन सर्ग प्रवृत्त नहीं होता।

३८–दाम्पत्यभावानुगत–प्रजापति का सृष्टिसापेक्ष ऋतरूप––

नवीनसर्ग प्रवृत्त होता है उस 'ऋत' रूप प्रवर्ग्य से, जो ब्रह्मौदनात्मक सत्य की सीमा से उच्छिष्टरूप से पृथक् होजाते हैं। सत्यसूर्य्यरूप ब्रह्मौदनाग्नि का उच्छिष्टरूप ऋताग्नि वह अग्नि है, जो सूर्य्यास्त होजाने पर भी सान्तपन–वायुरूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। एवमेव सत्यचन्द्रमारूप ब्रह्मौदनसोम का उच्छिष्टरूप ऋतसोम वह सोम है, जो वातावरण में अपने शैत्यगुणक वायुरूप से सर्वत्र व्याप्त है। यों सत्यसूर्य्य, एवं सत्य-चन्द्रमा के ब्रह्मौदनरूप सत्याग्निसोमद्वन्द्व से पृथग्भूत ऋतरूप सौर वायव्यग्नि, ऋतरूप चान्द्र वायव्यसोम, इन दोनों ऋततत्त्वों की समष्टि का नाम हीं 'ऋत' तत्त्व है।

३९–ऋताग्नि–ऋत–सोमसमन्वयात्मक ऋतुकाल, एवं तदनुबन्धिनी प्रजासर्गप्रसूति––

इस 'ऋत' तत्त्व से समुत्पन्न, ऋताग्नि–ऋतसोम–समन्वय से उत्पन्न ऋताग्निसोमात्मक अपूर्वभाव का ही नाम है—'ऋतु', जिस इत्थंभूत ऋतुयज्ञ से ही ऋतुकालानुगामी प्रजासर्ग का आविर्भाव हुआ है, हो रहा है, होता रहेगा तबतक, जबतक कि इस 'ऋतु' तत्त्व के मूलप्रभव सत्याग्निसोममूर्त्ति सूर्य्यचन्द्रमा स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहेंगे। इसीलिए तो ऋतु से उत्पन्न–सृष्ट त्रैलोक्य पदार्थों के सम्बन्ध में–'**सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्**' मूला–'**यावच्चन्द्रदिवाकरौ**' यह सूक्ति प्रचलित हो पड़ी है।

४०–ऋतुकालानुगामी 'आर्त्तवयज्ञ', एवं तदनुबन्धी साम्वत्सरिक यज्ञ–*

ऋत अग्नि, ऋत सोम, दोनों के समन्वय से आविर्भूत अपूर्वभाव का ही नाम 'ऋतु' है, जो भोग–कालानुबन्ध से भातिसिद्ध भी है, एवं वस्तुकालानुबन्ध से सत्तासिद्ध भी है। कालात्मिका ऋतुसीमा से सीमिता ऋताग्निसोमात्मिका ऋतु ही वह 'यज्ञ' है, जिससे सूर्य्यचन्द्रपृथिव्यात्मक सम्वत्सर की क्षतिपूर्त्ति भी होती रहती है, एवं प्रजोत्पत्ति भी होती रहती है। इसी ऋतुयज्ञ के द्वारा षट्पर्वा, किंवा पञ्चपर्वा, किंवा त्रिपर्वा बन सम्वत्सरप्रजापति क्रमशः **द्विपर्वा, त्रिपर्वा, षट्पर्वा, पञ्चपर्वा, त्रिंशत्पर्वा, पञ्चदशपर्वा**, बनते हुए **अहोरात्र**भाव में परिणत हो रहे हैं, जो पर्व क्रमशः **अयन–चातुर्म्मास्य–षड्ऋतु–पञ्चर्त्तु**–

---

* **तमागतं–पृच्छति–कोऽसीति ?। तं प्रति ब्रूयात्––विचक्षणात्––ऋतवो रेत आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतः। तन्मा पुंसि कर्त्तर्य्येरयध्वम्। पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः। स जायमान–उपजायमानो–द्वादश–त्रयोदश–उपमासो–द्वादश–त्रयोदशेन पित्रा–ऽऽसं तद्विदे, प्रतितद्विदेऽहं––तन्म ऋतवो अमर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसा ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि। कोऽस्मि, त्वमस्मीति––तमतिसृजते ॥**

—कौषीतक्युपनिषत् १।२।

मास–पक्ष–आदि नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन इन पर्वों के आधार पर समष्ट्यात्मक (सम्वत्सरात्मक) ज्योतिष्टोमयज्ञ–अयनयज्ञ–चातुर्म्मास्ययज्ञ–ऋतुयज्ञ–दर्शपौर्णमासयज्ञ–अग्निहोत्र–आदि नित्य प्राकृति यज्ञ प्रतिष्ठित हैं। जिन इन नित्य–प्राकृतिक–यज्ञों के द्वारा ही भारतीय ऋषियोंनें सर्वसंसिद्धिप्रदात्री वैध–यज्ञविद्या का आविष्कार किया है। प्रकृत में उक्त यज्ञपर्वों में से केवल ऋतुयज्ञपर्व ही लक्षीभूत होलिकापर्व का आधार है। अतएव उसी के स्वरूप को विहङ्गमदृष्ट्या लक्ष्य बना लिया जाता है।

४१–योषा–वृषात्मक रयि, और प्राणतत्त्व, एवं दोनों तत्त्वों का प्रजाप्रवृत्तिकर्म्मानुगत–प्राकृतिक दाम्पत्य—

योषात्मक **रयिभाव**, एवं वृषात्मक **प्राणभाव** के समन्वय का नाम हीं 'दाम्पत्य' है, एवं यह दाम्पत्य ही प्रजननकर्म्म का मूलप्रवर्त्तक है। सोमभाव योषात्मक रयिभाव है, यही 'स्त्रीतत्त्व' है प्राकृतिक दाम्पत्य में। अग्निभाव वृषात्मक प्राणभाव है, यही 'पुरुषतत्त्व' है प्राकृतिक दाम्पत्य में, जैसाकि अग्रिम परिच्छेदों में यत्र तत्र अनेकधा स्पष्ट होने वाला है। ऋताग्निसोमात्मक ऋतुयज्ञ के स्वरूप–समन्वय के लिए अभी ऐसा मान लीजिए कि, मानो प्रकृतिमण्डल में सर्वत्र ऋतसोम का ही साम्राज्य है। मानो सम्पूर्ण पार्थिवधरातल सोममय बनता हुआ अपने योषात्मक–सौम्य–(रयिभावात्मक) स्त्रीभाव को ही अभिव्यक्त कर रहा है। यह वैसा समय है, जिसमें वृषात्मक–आग्नेय–(प्राणभावात्मक) पुम्भाव मानो सर्वथा ही स्त्रीभावात्मिका पृथिवी से पृथक् होरहा है। इस वियोगदशा में ग्रस्ता पृथिवी मानो मूर्च्छिता–तुषारानलपीड़िता ही प्रमाणित हो रही है। शरत्काल से उपक्रान्ता यह वियोगावस्था इस शिशिरकालान्त में तो मानों अत्यन्त ही भीषणदशा में पहुँच गई है। इसी पार्थिवावस्था को कहा गया है लोकभाषा में–'प्रचण्डशीतकाल'।

४२–मुखं वा एतत्सम्वत्सरस्य–यत्फाल्गुनी पौर्णमासी, एवं ऋतुराज 'वसन्त' का नाम निर्वचन–

अन्त में सौर इन्द्रदेवप्राण से समन्वित * फल्गुनीनक्षत्र के अनुग्रह से वसन्तसम्पातात्मक वह काल उपस्थित हुआ, जिसने सोममयी पृथिवी को अग्नि के साथ समन्वित कर दिया। और वही पुण्या–भाग्यशालिनी–पार्थिवसौभाग्यप्रवर्तिका तिथि **'फाल्गुनीपूर्णिमा'** नाम से प्रसिद्ध हुई ÷, जिसे सम्वत्सरारम्भ–रात्रि माना गया है, जैसा कि–**'मुखं वा एततसम्वत्सररूप–यत् फाल्गुनी पौर्णमासी'** (शतपथब्राह्मण–६।२।२।१८) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। प्रचण्ड शीतकाल के सौम्य धरातल को लक्ष्य बनाइए, एवं इसी धरातल को उपक्रम मानकर **'ऋतुराज'** का जन्ममहोत्सव आरम्भ कीजिए। सर्वत्र शैत्यगुणक सोम का साम्राज्य था। किस सोम का ?, जो मध्वद अग्नि से वञ्चित होगया है। ऐसे इस सोमधरातलात्मक शीतधरातल पर मध्वद् अग्नि का निवास-आरम्भ होगया। एवं यही अग्निवासात्मक प्रथमकाल अग्निनिवास के कारण **'वसन्त'** नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिस शब्द का निर्वचन माना जायगा यही कि—

***-फल्गुनीष्वग्नीऽआदधीत। एता वा इन्द्रनक्षत्रं--यत्फल्गुन्यः।**
अप्यस्य प्रतिनाम्न्यः। [शत० ब्रा० २।१।२।१२।]।

÷ सम्पातकाल का पूर्णिमा से सम्बन्ध नहीं है। अपितु यहाँ पूर्णिमा को निदानभावेनैव वसन्तसम्पात का प्रातिनिध्य समर्पित कर दिया गया है।

"यस्मिन् काले अग्निकणाः–पार्थिवपदार्थेषु निवसन्तो भवन्ति, सकालः-'वसन्तः'।

४३--प्रवृद्धाग्नि से समन्विता ग्रीष्म--ऋतु, एवं 'ग्रीष्म'--नामनिर्वचन--

मध्वद और अग्नि के निवास से सोमानुगत शैत्य की प्रचण्डता उपशान्त होगई। विरह मिलनरूप में परिणत होगया। सर्वत्र मधुरिमा का साम्राज्य स्थापित होगया। और यों **ऋतुराज वसन्त** के आगमन के साथ ही लता–गुल्म–ओषधि–वनस्पतियाँ इस वसन्तमहोत्सव से थिरक उठीं, जैसाकि इसके 'मधु' नाम से ही स्पष्ट है, जिस 'मधु' का संस्मरण अनुपद में हीं होने वाला है। आगे चलकर अग्नि और प्रवृद्ध हुआ, प्रबलवेग से इसने सोम का आलिङ्गन कर लिया। इस प्रबल आलिङ्गन का परिणाम यह हुआ कि, ऋतु का सौम्य–माधुर्य्य अन्तर्म्मुख बन गया, एवं अग्निदेव की प्रचण्डता प्रधान बन गई। यही दूसरा ऋतुकाल माना गया, जिसे 'ग्रीष्म' कहा गया है, जिसका निर्वचन है—

"यस्मिन्काले--अग्निः पदार्थान् प्रचण्डवेगेन गृह्णाति, स कालो ग्रीष्मः'।

४४--प्रचण्डग्रीष्मात्मक--'निदाघ' नामनिर्वचन--

ग्रीष्म के ही **सामान्यवेग**, **अतिशयवेग**–रूप से दो विभाग हो जाते हैं, जो दोनों ही विभाग 'ग्रीष्म' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। वैशाख–अर्द्धज्येष्ठ का अग्नितापं सामान्यवेगात्मक है, इसे ही **ग्रीष्म** कहा गया है। एवं शेष ज्येष्ठ, एवं अर्द्ध आषाढ का अग्निताप अतिशय वेगात्मक है। अतएव–**'यस्मिन् काले अग्निः पदार्थान् नितरां दहत्येव–इति, स कालो निदावः'** रूपेण **'निदाघ'** नाम से प्रसिद्ध हो गया है। दोनों हैं तत्त्वतः 'ग्रीष्म' हीं।

४५–निःसीम अग्निभावात्मक 'वर्षा' नामनिर्वचन—

क्या निदाघरूप ग्रीष्मकाल में अग्नि का सोमसमालिङ्गनकर्म्म चरम सीमा पर पहुँच गया?। नहीं। जब यह चरम सीमा पर पहुँच जाता है, आत्यन्तिकरूपेण प्रचण्डतम-प्रवृद्धतम–बन जाता है, उस समय तो स्वयं इसे भी अपनी उग्रता छोड़ कर उस मृदुभाव में आजाना ही पड़ता है, जिस द्रुतभाव को–**'आपः'** कहा गया है। **'अग्नेरापः'** सिद्धान्त सुप्रसिद्ध है। प्रचण्ड परिश्रमाग्नि ही स्वेदरूप आपः है, शोकाग्नि–संघर्ष ही शोकाश्रुरूप आपः है, स्नेहाग्निरूप संघर्ष ही प्रेमाश्रुरूप आपः है। इसी सहज नियमानुसार ग्रीष्माग्नि जब आत्यन्तिकवेग का अनुगामी बन जाता है, तो इसे अपने इस निरतिशय 'उरु' भाव को आपः रूप में परिणत कर लेना पड़ता है। और यही ग्रीष्मोत्तरकालीना वह **'वर्षा'** अवस्था है, जिसका निर्वचन किया गया है–**'यस्मिन् काले अग्निः–निरतिशयेन 'उरु'–इति वर्षाः'**। **'उरु'** और **'वर्षा'** का क्या सामाञ्जस्य ?, प्रश्न का उत्तर व्याकरणशास्त्र है। भगवान् पाणिनि के मतानुसार 'उरु' को 'वर्ष' आदेश हो जाता है। और यों 'उरु' शब्द ही 'वर्ष', किंवा 'वर्षा' रूप में परिणत हो जाता है। और यही तृतीय ऋतुकालमिलन की अन्तिम अवधि मानी गई है, जिसके अनन्तर तो पुनः वियोगकाल ही आरब्ध बन जाता है पृथिवी के प्राकृतिक–प्रारब्ध कर्म्मानुबन्धों के निग्रह से।

४६–सौर मध्वद अग्नि की बाल--युवा--वृद्धा–अवस्थात्रयी का समन्वय—

तदित्थं–वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा, इन तीन ऋतुओं की समष्टि में क्रमशः मध्वद अग्नि अपने जन्मकाल से आरम्भ कर वृद्धावस्थापर्य्यन्त भोगानुगामी बन रहा है। और यही ऋतुत्रयात्मक अर्द्धसम्वत्सरकाल षण्मासात्मक

उत्तरायणकालात्मक देवकाल माना गया है, जिसमें अग्निदेवप्रमुख देवदेवताओं का ही प्राधान्य है, जैसाकि–'वसन्तः, ग्रीष्मः, वर्षाः, ते देवा–ऋतवः' (शत० २।१।३।१।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है । चैत्र–वैशाखानुगता वसन्त–ऋतु, ज्येष्ठ-आषाढानुगता ग्रीष्म–ऋतु, एवं श्रावण–भाद्रपदानुगता वर्षा–ऋतु, रूप षण्मासात्मक अर्द्धसम्वत्सर का यही ऋतुत्रयात्मक अग्निप्रधानकाल है, जिसका अन्तिम वर्षापर्व अपने सर्वऋतुरूप को अभिव्यक्त कर रहा है । कैसे ?, श्रूयताम् ।

४७–अदो वर्षमकुर्म्म, और 'वर्ष' भावानुगत 'वर्षा' शब्द—

'वर्षाऋतु' का 'वर्ष' शब्द वस्तुतः पूर्ण सम्वत्सर का ही वाचक–सूचक–माना गया है लोकव्यवहार में, जैसाकि * अदो वर्षमकुर्म–अदो वर्षमकुर्म्म–इत्यादि वृद्धव्यवहार से प्रसिद्ध है । प्रश्न स्वाभाविक है कि, 'सम्वत्सर' वाचक 'वर्ष' शब्द का सम्बन्ध श्रावण–भाद्रपदमासद्वयमात्रसमष्टिरूपा . प्रवृद्धतमाग्निरूपा एक ऋतुविशेष [वर्षाऋतु] के लिए ही कैसे, क्यों व्यवहृत हो पड़ा ? । इस प्रासङ्गिक प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है कि, मासद्वयात्मिका वर्षाऋतु (अनेक दृष्टियों से) सम्पूर्ण सम्वत्सर का प्रातिनिध्य कर रही है । क्योंकि वर्षाऋतु में शेष सभी ऋतुओं के धर्म्म समाविष्ट हो रहे हैं ।

४८–वर्षाऋतु से समन्विता ६ ऋतुएँ, एवं 'वर्षा' का 'वर्षत्व' (सम्वत्सरत्व)—

उदाहरण के लिए–जलवर्षण से पूर्व दिनों में ऊष्मारूप ग्रीष्म वैसा प्रचण्ड बन जाता है वर्षाऋतु में ही, जैसी की प्रचण्डता स्वयं ग्रीष्मऋतु में भी उपलब्ध नहीं होती । इसी को–'ऊमस' कहा गया है, जो–'ऊष्मा' का ही परिवर्तित रूप है । प्रवृद्ध उष्मा से युक्त वायु ही 'पर्जन्य' कहलाया है । एवं यह पर्जन्यवायु ही वृष्टि का प्रवर्त्तक बना करता है । राजपत्तनप्रान्त इसी प्रवृद्ध ऊमस को–'**मरोड़ा–पड़ना**' कहा करता है, जिसका स्पष्ट अर्थ है ताप की प्रवृद्धि । यों वर्षाऋतु वर्षणजल से पूर्वस्थिति–पूर्वदिनों में सदा ही ग्रीष्म की छटा से समन्वित बनी रहती है । जब वर्षाऋतु में ५–७ दिवस पर्य्यन्त निरन्तर वृष्टि होती रहती है, तो ऊष्मा सर्वात्मना शान्त होजाती है । वर्षा के इस नैरन्तर्य्य के अवसानदिनों में 'शरत्' की छटा आजाती है । मेघखण्ड शरद्ऋतु की भाँति विदलित हो जाते हैं । और यों वर्षाऋतु में ही वर्षान्त दिनों में शरत् का भी भोग होता रहता है । यदि वृष्टि का प्रचण्ड–प्राबल्य है, तो यही शरत् हेमन्त–शिशिररूप–शीत्तर्तुरूप से भी समन्वित हो जाती है । यों वर्षा में हेमन्त–शिशिर–ऋतुओं का भी साक्षात्–भोग उपलब्ध हो रहा है । ऊष्मारूपा–ऊमस से पीछे, वर्षण से पूर्व जब पुरोवात (पुरवइया–पुरवाई) चलने लगता है, तो वसन्तछटा भी समाविष्ट हो जाती है वर्षाऋतु में । स्वयं वर्षा वर्षा तो है ही । तदित्थं–वर्षाऋतु में बालादि अवस्थाभेद से वसन्त–ग्रीष्मादि सभी ऋतुओं का भोग प्रमाणित हो जाता है ।

४९–विभिन्न दृष्टिकोण से वर्षाऋतु के जलवर्षण–कालमाध्यम से षड्ऋतुसमन्वय–

उक्त सर्वऋतुत्त्व सम्पूर्ण वर्षाकाल से ही अनुप्राणित माना जायगा, जबकि एक दूसरे दृष्टिकोण से वृष्टिदिनों में भी (वर्षाऋतु में भी–जब जब पानी बरसता है, उन उन अवान्तर कालों में भी) ६ ओं ऋतुओं

*** अथादो वर्षमकुर्म्म, अदो वर्षमकुर्म्म-इति सम्वत्सरान्-पर्यन्ति ।**
—शत० २।२।३।७

का समावेश समन्वित हो रहा है। बरसने से पहिले जो पुरोवात चलता है कुछ समय के लिए, वह मानो वसन्त है। पुरोवात से सञ्चित मेघों में गर्ज्जन–तर्ज्जन ही मानो ग्रीष्म है, गर्ज्जन–तर्ज्जन के साथ बरस पड़ना हीं मानों वर्षा है। वर्षा के अनन्तर चमकने वाली बिजली ही मानो शरत् है। वर्षा का समाप्त हो जाना–उघाड़ हो जाना–और ठंढी हवा का चल पड़ना ही मानो हेमन्त-शिशिर ऋतु है। और यों इस दृष्टि से भी मासद्वयात्मिका सम्पूर्ण वर्षाऋतु में मध्ये मध्ये जलवर्षणकालों में परोक्षरूपेण ६ ओं ऋतुओं का भोग हो रहा है।

५०–तीसरे दृष्टिकोण से वर्षा के 'वर्षत्त्व' का समन्वय—

तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार इसलिए भी वर्षाऋतु को 'सम्वत्सर' वाचक 'वर्ष' शब्द के साथ समन्वित मानना सुसङ्गत बन रहा है कि, सम्पूर्ण वर्षा का वर्षत्त्व, वर्ष की समृद्धि इस प्रावृट्–ऋतु पर ही अवलम्बित है। वर्षा के जल से सुसमृद्ध बनता हुआ सम्वत्सर अपने प्राजापत्य–स्वरूप को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहा है। भूतात्मिका अर्थशक्ति इस वृष्टिजल पर ही अवलम्बित है। क्योंकि जिस यज्ञ से प्रजापति प्रजा उत्पन्न करते हैं, उस यज्ञ का स्वरूप अन्नात्मक हविर्द्रव्य की आहुति से ही सम्पन्न होता है। स्वयं अन्न की उत्पत्ति पर्जन्य से समन्वित वृष्टिजल पर ही निर्भर है। यों परम्परया वृष्टिजल ही अन्न के द्वारा यज्ञस्वरूप-समर्पक बनता हुआ सम्वत्सर प्रजापति को प्रजोत्पत्ति में समर्थ बना रहा है। अतएव इस दृष्टि से भी वृष्टिकाल को सम्वत्सरवाचक वर्ष शब्द से समन्वित किया जा सकता है, अवश्यमेव किया जा सकता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है—

स वै वर्षास्वादधीत। वर्षा वै सर्वऽऋतवः। वर्षा हि सर्वऽऋतवः- अथादो वर्षमकुर्मादोवर्षमकुर्मेति सम्वत्सरान्त्संपश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषां ऋतुनां रूपम्। उत हि तद्वर्षासु भवति–यदाहुः–'ग्रीष्मऽइव वाऽअद्य'–इति। उतो तद्वर्षासु भवति–यदाहुः–'शिशिरऽइव वाऽअद्य' इति। वर्षादिद्वर्षाः। अथतैदेव परोक्ष रूपं–यदेव पुरस्ताद्वाति–तद्वसन्तस्य रूपम्। यत्स्तनयति–तद्ग्रीष्मस्य, यद्वर्षति–तद्वर्षाणां, यद्विद्योतते–तत्–शरदः, यद्वष्ट्वोद्गृह्णाति- तद्धेमन्तस्य। वर्षाः सर्वऽऋतवः। ऋतून् प्राविशत्।

—शत० ब्रा० २।२।३।७,८,६,।

५१–मध्वद अग्नि की शीर्णावस्था का उपक्रम, तदनुबन्धिनी शरदृतु, तथा 'शरत्' नाम–निर्वचन—

वर्षाऋतु की इसी सर्वरूपता के कारण भारतीय सङ्गीतशास्त्रने मनोधर्म्मा सङ्गीत–परायणों के लिए सर्वऋतुसमष्टिरूपा इस वर्षाऋतु में ६ ओं ऋतुओं के **रागों** का विधान कर दिया है। वर्षा में सभी ऋतुओं के राग, तथा रागनियाँ विहित हैं। इति नु प्रासङ्गिकम्। पुनः प्रकृतमनुसरामः। वसन्त से अग्निदेव सोमानुगत बने, वर्षा की समाप्ति पर अग्निदेव का साम्राज्य भी मानो उपरत-समाप्त होगया। और शरत्सम्पातरूप–काल में मानो पुनः पार्थिव सोमधरातल से अग्निदेव पृथक् ही होने लग पड़े। यों पुनः संयोग का अन्त, एवं वियोग का उपक्रम होगया, जिसमें अग्निकण पार्थिव पदार्थों से शीर्ण ही होने लग पड़े। जिस इस काल में अग्निकण पदार्थों में से शीर्ण–पृथक्–वियुक्त होने लगे, वही वियोगारम्भकाल–**'यस्मिन् काले अग्निकणाः शीर्णा**

भवन्ति–स कालः शरत्' रूप से 'शरत्' नाम से प्रसिद्ध होगया, और यों वर्षा के विगत होते ही वियोग-विधायिनी शरदृऋतु का साम्राज्य होगया पृथिवी पर।

५२–मध्वद् अग्नि की हीनावस्था, तदनुबन्धिनी हेमन्त-ऋतु, तथा 'हेमन्त' नाम-निर्वचन–

आगे क्या हुआ ?। वही हुआ, जो ग्रीष्म में हुआ था। ग्रीष्म में अग्निदेवने जहाँ वेग से पदार्थों में अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था, शरदनन्तर उसी वेग से अग्निदेव पार्थिव पदार्थों से वियुक्त होने लग पड़े, और यही शरदुत्तरकाल–**'यस्मिन् काले अग्निकणा हीनतां गता भवन्ति, स कालो हेमन्तः'** रूप से–**'हेमन्त'** नाम से प्रसिद्ध होगया। वर्षाकाल में जिसप्रकार अग्निदेव अपनी समृद्धि की चरमसीमा पर पहुँच गए थे, तथैव आगे चल कर हेमन्त के अनन्तर अग्निदेव सर्वथा ही पौनःपुन्यरूप से ही मानो पार्थिव पदार्थों से सर्वथा ही वियुक्त होगए।

५३–मध्वद् अग्नि की निःशेषावस्था, तदनुबन्धिनी शिशिर-ऋतु, एवं 'शिशिर' नाम निर्वचन—

हेमन्तोत्तरभावी वही काल–**'यस्मिन् काले अग्निकणाः–पुनपुनरतिशयेन शीर्णा भवन्ति, स कालः शिशिरः'** के अनुसार **'शिशिर'** नाम से ही प्रसिद्ध होगया, जिस काल में पार्थिव धरातल पुनः उसी सोमभाव से शेष रह गया। यों शरत् से आरम्भ कर शिशिर पर्य्यन्त अग्निदेव उत्तरोत्तर अभिभूत ही प्रमाणित होते गए। तत्परिणामस्वरूप शरत्–हेमन्त–शिशिररूप–षण्मासात्मक-इस दक्षिणायनात्मक–अर्द्ध सम्वत्सरकाल में अग्निप्रमुख देवप्राण तो गौण बन गए, एवं सोमप्रमुख पितरप्राण प्रधान बन गए, जैसाकि–**"शरत्–हेमन्तः–शिशिरः–ते ऋतवः–पितरः'** (शत० २।१।३।१।) इत्यादि से प्रमाणित है।

५४–अग्निदेव की प्रस्तावसामानुगता निधनसामावस्था, एवं ६ विवर्तों का समन्वय—

यों अग्निदेव के जन्म से आरम्भ कर अवसानपर्य्यन्त प्रक्रान्त ऋतुसोम से समन्वित ऋताग्नि के वृद्धि–ह्रास–क्रम से सोमाग्निमयी एक ही ऋतु के **वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरत्–हेमन्त–शिशिर**-ये ६ विवर्त्त हो गए, जिन में वसन्त सम्वत्सराग्नि का **'प्रस्तावसाम'** कहलाया, एवं शिशिर **'निधनसाम'** कहलाया, वर्षा **'उद्गीथसाम'** साम नाम से प्रसिद्ध हुआ, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

षड्ऋतुस्वरूपपरिलेखः—

*
१–पदार्थेषु—वसन् अग्निरेव–**वसन्तः** (प्रस्तावसाम–अग्नेः
२–पदार्थान् गृह्णन् अग्निरेव–**ग्रीष्मः** —आग्नेय-ऋतवः (देवाः)
३–पदार्थेषु—उरु—-अग्निरेव–**वर्षाः** (उद्गीथसाम–अग्नेः

—— ——

४–पदार्थेभ्यः–शीर्णः–-अग्निरेव–**शरत**
५–पदार्थेभ्यः-हीनः—अग्निरेव–**हेमन्तः** —सौम्य-ऋतवः (पितरः)
६–पदार्थेभ्यः-विनिर्गतः-अग्निरेव–**शिशिरः** (निधनसाम–अग्नेः)
*

५५–सम्वत्सरयज्ञ की पाङ्क्तता, तदनुबन्धी पञ्चर्तुभाव, एवं सम्वत्सरयज्ञ के पाँच प्रमुख अवयव—

उक्त ६ ओं ऋतुओं की समष्टि ही 'सम्वत्सरप्रजापति' है । और यही ऋताग्नि–ऋत–सोममयी 'ऋतविद्या' से सम्बन्ध रखने वाली 'ऋतु' की एकप्रकार की स्वरूप-व्याख्या है, जिसका पाङ्क्तयज्ञ (पञ्चावयव यज्ञ) के अनुबन्ध से अन्यत्र–'पञ्चर्त्तवः सम्वत्सरस्य' इत्यादिरूपेण पाँच ऋतुओं पर भी पर्य्यवसान मान लिया गया है, जिस पर्य्यवसान का भी दो शब्दों में समन्वय कर लेना चाहिए। अग्नीषोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति के **अयन–चातुर्म्मास्य–ऋतु–पक्ष–अहोरात्र**–रूप से पाँच प्रमुख अवयव हैं, जिनके द्वारा क्रमशः **अयनेष्टि, चातुर्म्मास्येष्टि, ऋतु–इष्टि, दर्शापूर्णमास, अग्निहोत्र**–ये पाँच यज्ञकर्म्म सम्पन्न होते हैं, जो कि अङ्गकर्म्म–अवयवरूप क्रत्वर्थ कर्म्म कहलाए हैं, जिनके अनन्तर ही अङ्गी–पुरुषार्थरूप–सम्वत्सरयज्ञ-लक्षण–'**ज्योतिष्टोम**' (सोमयाग) का स्वरूप सम्पन्न होता है। सम्वत्सरयज्ञ की इस पाङ्क्तारूपा पञ्चावयवता के कारण ही तदवयरूप ऋतु के भी यज्ञानुरोध से पाँच ही प्रमुख पर्व बन जाते हैं। पञ्चर्त्तुरूप–पञ्चावयव–सम्वत्सरयज्ञ ही क्योंकि सर्वात्मना मानव–मानवीयरूप पुरुषयज्ञ का प्रवर्त्तक बनता है । अतएव मानवरूप पुरुषयज्ञसंस्था में यज्ञपाङ्क्तता के कारण पञ्चप्राण–पञ्चेन्द्रिय–पञ्चाङ्गुलि–पञ्चभूतचिति–आदि आदि रूपेण अनेक पञ्चावयव–भाव समन्वित हो रहे हैं, जिन इन सम्पूर्ण पञ्चभावों के समन्वय–परिज्ञान के लिए तो पञ्चपर्वा प्रकृति का ही निष्ठापूर्वक अध्ययन करना चाहिए । प्रकृत में ऋतुप्रसङ्ग से केवल पञ्चर्त्तु का ही समन्वय अभीप्सित है ।

५६–पञ्चर्त्तु–स्वरूपानुगता अग्निचयनविद्या से समन्वित यज्ञप्रजापति—

हेमन्त, एवं शिशिर, इन दोनों ऋतुओं को एक शीतर्त्तु मानते हुए ऋषि ने–'**हेमन्त–शिशिरयोः समासेन**' इत्यादि रूप से ६ के स्थान में पाँच ही ऋतुओं की प्रमुखता मान ली है यज्ञ की पाङ्क्तता के अनुबन्ध से । इस दृष्टि से प्रत्येक ऋतु ७२–७२ अहोरात्र की बन जाती है, जबकि षड्ऋतुपक्ष में प्रत्येक ऋतु ६०–६० अहोरात्र की बनी हुई है। दोनों पक्षों में वैज्ञानिक–सुसूक्ष्म–तत्त्व–समन्वयापेक्षया पञ्चर्त्तुपक्ष ही विशेषरूप से मान्य हुआ है । सम्वत्सरमूला अग्निचयनविद्या की समस्त इतिकर्त्तव्यता (व्याख्या) पञ्चर्त्तु-स्वरूप पर ही प्रतिष्ठित है ।

५७–सवनत्रयात्मिका द्वासप्तति (७२) अहोरात्रात्मिका ऋतु, एवं तदनुबन्धी पञ्चर्त्तु-स्वरूप-समन्वय—

द्वासप्तति–द्वासप्तति–अहोरात्रों से कृतरूपा पाँच ऋतुओं में (प्रत्येक में) **षोडश–चत्वारिंश–षोडश** (१६–४०–१६)–रूप से तीन तीन सवन प्रतिष्ठित हैं, जो क्रमशः **प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, सायंसवन**, नाम से प्रसिद्ध हैं । उदाहरण के लिए वसन्त ऋतु को ही लीजिए । इसके आरम्भ की बालावस्था **प्रातःसवन** माना जायगा, मध्य की युवावस्था **माध्यन्दिनसवन** कहा जायगा, एवं अन्त की वृद्धावस्था **सायंसवन** माना जायगा । मध्य की युवावस्था ४० दिन की मानी जायगी प्रत्येक ऋतु की, जो लोकभाषा में–'**चिल्ला**' नाम से प्रसिद्ध है । हेमन्त–शिशिररूप शीतर्त्तु की ४० दिवस की युवावस्था क्योंकि अस्मदादि

पार्थिव-प्राणियों के लिए [ग्रीष्मप्रधान भारतीय प्राणियों के लिए] असह्य हो जाती है। क्योंकि भारतराष्ट्र भारत अग्नि के प्राधान्य से * अग्निप्रधान है। अतएव हमारे लिए शीतर्त्तु का चिल्ला ही प्रसिद्ध हो गया है। अतएव च शीतर्त्तु के आते ही इसकी युवावस्थारूप दारुणशीतात्मक शीतकाल [धन राशि के १५ दिन, और मकर राशि के २५ दिन, इन ४० दिनों से युक्त शीतकाल ÷] से कम्पित होते हुए हम- 'चिल्ला लग गया, चिल्ले का जाड़ा पड़ रहा है, कड़ा के की ठंढ पड़ने लगी है" इत्यादि रूप से क्रन्दन करने लग पड़ते हैं। अन्य ऋतुओं की ४० अहोरात्ररूपा युवावस्था [चिल्ला] क्योंकि हमें उत्पीड़ित नहीं करती। अतएव वे अन्य चिल्ले लोकव्यवहार में प्रसिद्ध नहीं हो पाए हैं, जबकि चिल्ले सभी ऋतुओं में उसी अनुपात से व्यवस्थित हैं। पाँचों ऋतुओं में मध्य-मध्य की युवावस्थारूपा ४० अहोरात्रात्मिका उद्ग्राभावस्था ही ऋतु का वास्तविक भोगकाल माना गया है। इन पाँचों ऋतुओं का मुखस्थान वसन्त ही बना हुआ है। अतएव अवश्य ही ऋतुप्रतिष्ठारूप वसन्त को प्रमुख ऋतु माना जासकता है, माना गया है, जैसाकि इसकी-'**ऋतुराज**' उपाधि से स्पष्ट है। हमारी ये सांस्कृतिक-वैदिक-परम्पराएँ जहाँ कृत्रिमबुद्धि-शाली सुसभ्यों की जीवनधारा से आज सर्वात्मना पराङ्मुख प्रमाणित हो चुकी हैं, वहाँ इस भूतव्यामोहन-रूपा, अतएव सर्वव्यामोहनपरायणा नवीन शिक्षा का साम्राज्य जिन हम ग्रामीणों में सौभाग्य से नहीं हो पाया है, वे ग्रामीण तो आज भी अपनी उसी पञ्चर्त्तु विज्ञानपरम्परा के सांस्कृतिक-स्रोत से गच्छतः स्खलन-रूप से समन्वित होते आरहे हैं, जैसाकि-इनके-'**पून्यूँ पड़वा गाले, तो दिन बहत्तर टाले**' इत्यादि लोकसूक्ति से प्रमाणित है। ७२ अहोरात्रात्मिका वर्षा ऋतु की आरम्भ की पूर्णिमा, किंवा प्रतिपत् को यदि वर्षा हो जाती है, तो फिर पूरे ७२ दिन ही वर्षा नहीं हो पाती, यही शकुनसूक्ति का अक्षरार्थ है। निवेदन अत्र यही करना है कि, यज्ञानुबन्ध से वैदिक-यज्ञकर्म्मों में प्रधानरूपेण सम्वत्सर की पाँच ही ऋतुओं को प्रमुखता दी गई है, जैसे कि शास्त्रीय विधि-विधानों में अमान्त मास ही प्रमुख माना गया है।

५८-शास्त्रीय शुक्ल-कृष्ण-पक्ष-व्यवस्थानुगत पञ्चर्त्तुस्वरूप-समन्वय,-एवं तदनुगत-पञ्चप्रयाज—

वणिक्तन्त्र के वारुण-पाश से आबद्ध उत्तरभारत जहाँ वणिग्भावानुगत पूर्णिमान्त मास का अनुगामी बन गया है, वहाँ इस तन्त्र से अंशतः स्वतन्त्र रहने के कारण भारतीय संस्कृति के ध्वंसावशेषों की आराधना करने वाला सांस्कृतिक दक्षिण भारत तो आज भी अपनी व्यवस्था में अमान्तमास को ही प्रधान मानता चला आरहा है। आज भी वहाँ शुक्लपक्ष पूर्व है, कृष्णपक्ष उत्तर है, जिस इस सांस्कृतिक-शास्त्रीय-परम्परा के संरक्षण के लिए उत्तरभारत को दक्षिणभारत का अभिनन्दन ही करना चाहिए। ब्राह्मणग्रन्थों के सुप्रसिद्ध '**प्रयाजकर्म्म**' में पञ्चर्त्तु का विस्तार से स्वरूपविश्लेषण हुआ है, जिस प्रयाजकर्म्म का मूलसूत्र है— "**ऋतवो ह वै प्रयाजाः। तस्मात् पञ्च भवति** [प्रयाजाः]। **पञ्च हि ऋतवः**" (शत० १।५।३।१।)।

***-अग्नेर्महाँ असि ब्राह्मण भारतेति** (यजुःसंहिता)

÷-धने शीतं चतुर्गुणम्। मकरे दारुणं शीतम्। कुम्भे शीतमशीतं वा। मीने शीतं निवर्त्तते।

षट्, पञ्च, विवर्त्तों के अतिरिक्त ऋतु के सात–तीन–आदि और और भी अनेक विवर्त्त हैं, जैसाकि–**'त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य'** (शत० १।५।२।१६।)–**'सप्तर्त्तवः-सम्वत्सरः'** (शत० ६।६।१।१४।) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। ऋतुत्रयपक्ष में वसन्तग्रीष्म मिल कर एक **ग्रीष्मर्त्तु** है, वर्षाशरत् मिल कर एक **वर्षर्त्तु** है, एवं हेमन्त–शिशिर मिल कर एक **शीतर्त्तु** है। **ग्रीष्मकाल–वर्षाकाल–शीतकाल**–रूपेण तीन काल भी लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं। इसी आधार पर 'चातुर्म्मास्य' प्रतिष्ठित है। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है, जिसका लोक–अपभ्रंश–**'उह्नालू'** है। वर्षाकाल का लोकरूप **'बरसात'** है, एवं शीतकाल का लोकरूप **'श्यालू'** है। मलिम्लुच (अधिकमास) के सम्बन्ध से एक ऋतु का और समावेश हो जाता है। यों सम्वत्सर १३ त्रयोदश मासात्मक बनता हुआ सप्तर्त्तुरूप भी बना हुआ है। निम्नलिखित परिलेख से पञ्चर्त्तुपक्ष सर्वात्मना समन्वित हो जाता है—

पञ्चर्त्तवः—सम्वत्सरस्य:—सम्वत्सरो यज्ञः—पांक्तो वै यज्ञः

१६–प्रातःसवनम्–प्रस्तावः ४०–माध्यन्दिनसवनम्-उद्गीथः १६–सायंसवनम्––निधनम्	७२–**वसन्तः**
१६–प्रातः०–प्र० ४०–माध्य०–उ० १६–सायं० –नि०	७२–**ग्रीष्मः**
१६–प्रातः०–प्र० ४०–माध्य०–उ० १६–सायं० –नि०	७२–**वर्षाः**
१६–प्रातः०–प्र० ४०–माध्य०–उ० १६–सायं० –नि०	७२–**शरत्**
१६–प्रातः०–प्र० ४०–माध्य०–उ० १६–सायं० –नि०	७२–**हेमन्तशिशिरयोः समासेन**

सोऽयं–पञ्चर्त्तुमूर्त्तिः–सम्वत्सरप्रजापतियज्ञः–प्रजाप्रतिष्ठा

५९-षड्ऋतु-पञ्चत्तु-स्वरूपाधिष्ठाता अग्निदेव का प्राधान्य—

षड्ऋतुस्वरूपानुगत परिलेख पर अवधानपूर्वक दृष्टिपात करने से पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, यद्यपि वसन्तादि तीन देव-ऋतुओं में अग्नि की प्रधानता है, शरदादि तीन पितृ-ऋतुओं में सोम की प्रधानता है। तथापि ६ ओं हीं ऋतुओं में आरम्भ से (वसन्त से) अन्तपर्य्यन्त (शिशिरपर्य्यन्त) अग्नि का ही वृद्धि-ह्रास-भाव प्रदर्शित हुआ है। अतएव स्पष्ट है कि, ६ओं ऋतुओं का ऋतुत्व-'अग्नि' पर ही अवलम्बित है। कारण यही है कि, सोम स्वस्वरूप से सदा ही ऋत बना रहता हुआ स्वप्रतिष्ठा से वञ्चित है, जबकि ऋताग्नि ऋतसोम से समन्वित होकर 'सत्य' बन जाया करता है। अतएव वसन्तारम्भ से शिशिरपर्य्यन्त आधाररूपेण-धरातलरूपेण व्याप्त ऋतसोम आधेयभूत ऋताग्नि के वृद्धि-ह्रासात्मक अग्निभावों के कारण ही सत्यरूप 'ऋतु' भाव का प्रवर्त्तक बना करता है।

६०-'ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः, यथा मनुष्यस्य'—

अतएव ६ ओं 'ऋतु' भाव अग्निप्रमुख ही मान लिए जाते हैं, जैसाकि—"**अग्नयो वाऽऋतवः**'-'ऋतवो ह्येते यदेताः [अग्नि-] चितयः' (शत० ६।२।१।३६) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस अग्निप्रमुखता के कारण ही-'**ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरः-यथा मनुष्यस्य**' (ऐत० ब्रा०१।१३) इत्यादि श्रुति समन्वित हुई है।

६१-ग्रहोपग्रहानुगता महादशा-दशा-अन्तर्दशादिवत् प्रत्येक ऋतु की, प्रत्येक अहोरात्र की, प्रत्येक क्षण की सर्वऋतुरूपता का समन्वय—

एक प्रासङ्गिक निवेदन और। 'वर्षाऋतु' के प्रसङ्ग में यह बतलाया गया है कि-'वर्षा' ऋतु का 'वर्ष' शब्द ६ ओं ऋतुओं का संग्राहक बना हुआ है अपने-'वर्ष' भाव से, जिसका अर्थ है-'**वर्षा हि सर्वे-ऋतवः**'। वस्तुस्थिति तो वास्तव में कुछ ऐसी है कि, केवल 'वर्षा' ही सर्व-ऋतु नहीं है। अपितु प्रत्येक ऋतु ही सर्व-ऋतुरूपा बनी हुई है। १६-४०-१६-संख्यायुक्त ७२ दिनों के सवनत्रयात्मक स्व-स्व-भोगकाल में सभी ऋतुएँ (प्रत्येक ऋतु) न्यूनाधिक मात्रा-भाव-तारतम्य से उसीप्रकार सर्व-ऋतुओं से समन्वित है, जैसेकि प्रत्येक ग्रह की प्रत्येक महादशा में अन्तर्दशारूप से सभी ग्रह समन्वित हैं, एवं प्रत्येक अन्तर्दशा में प्रत्यन्तरदशाक्रम से, प्रत्यन्तरदशाक्रम में सूक्ष्मान्तर-क्षणान्तर-निमेषान्तरादि क्रमानुपात से सर्वत्र सभी ग्रहों का भोग प्रक्रान्त है। यही तो 'एक' की सर्वव्याप्ति का मूलबीज है। इसी मूलबीजानुग्रह से सम्वत्सर अनन्तकाल का प्रातिनिध्य कर रहा है, सम्वत्सर का प्रातिनिध्य अयन कर रहे हैं, अयन का प्रातिनिध्य चातुर्मास्य कर रहा है, इसका ऋतु, ऋतु का पक्ष, पक्षों का अहोरात्र, अहोरात्रों का मूहूर्त्त, इत्यादि धारावाहिक अन्तरान्तरीभाव से प्रतिबिन्दु अनन्तकाल का ही परम्परया प्रतीक बना हुआ है। इसी दृष्टि से सभी ऋतुओं को सर्वऋतुरूप कहा जासकता है, कहा गया है।

६२-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' मूलक ब्रह्मविवर्त्त, एवं तद्वञ्चित जड़वादी के व्यामोहन की निवृत्ति के लिए कारुणिक प्रजापति से मङ्गलकामना—

इसी तथ्य के आधार पर भारतीय द्विजाति-मानव प्रतिक्षण सम्वत्सर को लक्ष्य बनाता हुआ अनन्त-काल की अनन्तविभूति की उपासना में सर्वात्मना समर्थ होजाता है, जिस '**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**'

इस महिमात्मक विवर्त्त का स्मरणाधिकार भी प्राप्त नहीं है उन महानुभावों को, जो केवल अनेकत्वभाव–निबन्धना जड़विकृति को ही सर्वे-सर्वा मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति करते हुए इस ज्ञानवञ्चित (एकत्ववञ्चित) विज्ञानरूप–अज्ञान को ही अपना आराध्य बना बैठे हैं। और ऐसे ज्ञानप्रतिष्ठाशून्य अज्ञानलक्षण–भूतविज्ञान–क्षणिकविज्ञानरूप शून्यविज्ञान के बाह्य आकर्षण से प्रभावित, साथ ही भारतीय ज्ञान–समन्वित–ऋषिविज्ञान की मूलव्यञ्जना से असंस्पृष्ट आज के हमारे भारतीय वेदभक्त–संस्कृतिभक्त ज्ञानसमन्वित–नित्यविज्ञान के द्रष्टा–स्रष्टा ऋषियों की उपाधि से जड़भूतवैज्ञानिकों को समन्वित करने में हीं अपने विमुग्ध–व्यक्तित्व का प्रतिष्ठारक्षण मान रहे हैं, इससे अधिक भारतराष्ट्र की मूलसांस्कृतिक–निष्ठाओं का और अधिक क्या पतन होगा? **'काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः'**। ऋतुतत्त्व की इसी प्रासङ्गिक सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई वाजिश्रुति कहती है—

सम्वत्सरः--एषोऽग्निः। स ऋतव्याभिः संहितः। सम्वत्सरमेवैतत्–ऋतुभिः--सन्तनोति, सन्दधाति। ता वै नाना प्रभृतयः समानोदर्काः। ऋतवो वाऽअसृज्यन्त। ते सृष्टा नानैवासन्। तेऽब्रुवन्-न वाऽइत्थं सन्तः शक्ष्यामः-प्रजनयितुम्। रूपैः-समाया--मेति। ते--एकैकमृतुं रूपैः समायन्। तस्मादेकैकस्मिन्–ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम्।

—शत० ब्रा० ८।७।१।३,४,।

६३--षड्ऋतु के अवयवभूत प्रचलित चैत्र–वैशाखादि द्वादश मास—

अन्यदपि किञ्चित्प्रासङ्गिकम्। वसन्त-ग्रीष्मादि जिन ६ ऋतुओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उनके अवयवात्मक मास **चित्रा-विशाखा–ज्येष्ठा–अषाढ़ा–श्रमण–[श्रवण]–भाद्रपद–अश्विनी–कृत्तिका–मृगशिर–रेवती [पूषा] मघा–फल्गुनी**–इन बारह नक्षत्रों के भोगकालों से सम्बन्ध रखने वाली चान्द्री पूर्णिमा के अनुबन्ध से क्रमशः **चैत्र–वैशाख–ज्येष्ठ–आषाढ़-श्रावण–भाद्रपद–आश्विन–कार्त्तिक–मार्गशीर्ष–पौष–माघ–फाल्गुन**–इन नामों से प्रसिद्ध होगए हैं, जो नाम नाक्षत्रिक–फलादेश की प्रतिष्ठा बने हुए हैं। इनके तत्त्वविज्ञानसम्मत वैज्ञानिक–अन्य रहस्यपूर्ण नामों का भी ब्राह्मणग्रन्थों में यत्रतत्र विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिनका स्वाध्यायनिष्ठा–माध्यम से ही समन्वय करना चाहिए। प्रकृत में केवल नामसंस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

६४–षड् ऋतु के अवयवभूत शास्त्रप्रचलित मधु–माधवादि द्वादश मास—

शतपथब्राह्मणान्तर्गत–सुप्रसिद्ध 'ग्रहयागा' त्मक चतुर्थकाण्ड के 'ऋतुग्रह' नामक ब्राह्मण में (शत० ४ काण्ड। ३ अध्याय। १ ब्राह्मण। २७ कण्डिकात्मक।) विस्तार से चैत्रादि मासों के वैज्ञानिक नामों की स्वरूपव्याख्या हुई है। चैत्र का नाम **'मधु'** है, वैशाख का नाम **'माधव'** है, समष्टि **'वसन्त-ऋतु'** है। ज्येष्ठ **'शुक्र'** है, आषाढ **'शुचि'** है, समष्टि **'ग्रीष्म-ऋतु'** है। श्रावण **'नभ'** है, भाद्रपद **'नभस्य'** है, समष्टि **'वर्षा-ऋतु'** है। आश्विन **'इट्'** है, कार्त्तिक **'ऊर्क्'** है, समष्टि **'शरद्-ऋतु'** है। मार्गशीर्ष **'सह'** है, पौष **'सहस्य'** है, समष्टि **'हेमन्त-ऋतु'** है। माघ **'तप'** है, फालगुन **'तपस्य'** है, समष्टि **'शिशिर-ऋतु'** है।

मधु–माधव,-शुक्र-शुचि,–नभ–नभस्य,–इट्–ऊर्क्,–सह्-सह्स्य,-तप–तपस्य, नामक १२ वैज्ञानिक मासों, तथा वसन्तादि ६ ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर का आद्यन्त का सर्वाङ्गीण स्वरूप है, जिसका चरणस्थानीय उपक्रमस्थान–वसन्त–ऋतु है, किंवा मधुमाधव मास हैं। एवं शीर्षस्थानीय उपसंहारस्थान–शिशिर-ऋतु है, किंवा तप-तपस्य मास हैं, जैसाकि-"**तपश्च-तपस्यश्च शैशिरौ-ऋतु । प्रजापतिः सम्वत्सरः । तस्य शिर एव पञ्चमी चितिः । शिरोऽस्य शिशिर--ऋतुः**" (शत० ८।७।१।५ वीं, तथा ८ वीं कण्डिका)। इत्यादि श्रौतवचन से प्रमाणित है।

६५–वही सम्वत्सर यज्ञप्रजापति, वे ही ऋतुएँ, एवं तदनुगत सर्गों का आकृति-प्रकृति-वैलक्षण्य–वैचित्र्य, तथा तत्सम्बन्ध में महती जिज्ञासा—

पुनरपि किञ्चिदिव अन्यत् प्रासङ्गिकम्। द्यावापृथिवीरूप (सौर–चान्द्र–पार्थिव–समष्टिरूप) सम्वत्सर-प्रजापति त्रैलोक्य–प्रजा के स्रष्टा हैं। अग्नीषोमात्मक ऋतुयज्ञ ही इस प्रजासृष्टि का आरम्भण (उपादान) है। वही सम्वत्सर, वही प्रजापति, वही ऋतुयज्ञ, एवं वे ही वसन्तादि ऋतुएँ। फिर क्या कारण है कि, उसी प्रजापति की उन्हीं ऋतुओं से उत्पन्न प्रजाओं में **'मानवप्रजा'**, एवं **'पशुप्रजा'** * रूप से सर्वथा विभिन्न आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति भाव कैसे, क्यों प्रतिष्ठित होगए ?, प्रश्न का सम्बन्ध उसी **एकत्त्व**, एवं **अनेकत्त्व** पर अवलम्बित है, जिसका पूर्वानुपद में हीं प्रत्येक–ऋतु की सर्वता के प्रसङ्ग में दिग्दर्शन कराया जाचुका है।

६६–एकत्त्वनिबन्धना 'ऋतुना' मूला मानवसृष्टि, तथा अनेकत्त्वनिबन्धना 'ऋतुभिः' मूला अन्य प्राणिसृष्टि, एवं जिज्ञासा का समाधान—

एकत्त्वमूलक आत्मपुरुष मानवप्रजा का मूलाधिष्ठान बनता है, एवं अनेकत्त्वभावानुबन्धिनी प्रकृति मानवेतर प्रजा की स्वरूप–समर्पिका बना करती है। प्रकृतिगर्भित पुरुष मानवसर्ग का, तथा पुरुषगर्भिता प्रकृति पशुसर्ग का मूलोपक्रम माना गया है। तात्पर्य्य यही है कि, मानवसृष्टि ऋतुप्रधाना बनती हुई भी आत्ममूला है, जबकि पशुसृष्टि केवल ऋतुमयी ही है। निष्कर्ष यही है कि, मानव की ऋतु सत्यभावापन्ना है, पशु की ऋतु ऋतभावापन्ना है। सत्य का तात्पर्य्य है एकत्त्व, एवं ऋत का तात्पर्य्य अनेकत्त्व। सत्यात्मयुक्ता वही ऋतु सत्य है, ऋतप्रकृतियुक्ता वही ऋतु ऋत है। इसप्रकार एकत्त्वनिबन्धन–आत्मपुरुषानुगत, अतएव सत्यभाव में परिणत वही ऋतु 'ऋतु' रूप एकत्त्वभाव से, ङ्गीरूप सत्यभाव से जहाँ आत्मप्रधान मानवप्रजा की प्रतिष्ठा बनती है, वहाँ नानात्त्वनिबन्धन–प्रकृतिभावानुगत, अतएव ऋतभाव में परिणत वही ऋतु 'ऋतवः' रूप अनेकत्त्वभाव से, अङ्गरूप–ऋतभाव से प्रकृतिप्रधान पशुप्रजा की प्रवर्त्तिका बनती है। अत्यन्त ही सूक्ष्म है प्रकृति-पुरुष–का यह ऋत–सत्यात्मक विवेक, जिसका ऋतु के बाह्य–भौतिक–जड़–स्वरूपमात्र के आधार पर कदापि समन्वय सम्भव नहीं है। वेदपुरुष ने 'ऋतुना'–'ऋतुभिः' रूप से सम्बन्ध रखने वाले एकत्त्व-तथा बहुत्त्वभाव के माध्यम से अपनी सहज-परोक्ष-सनातन–सङ्केतविधि के द्वारा एकत्त्वमूलक सत्यात्मा से समन्वित एकभावापन्न सत्यऋतु से, तथा अनेकत्त्वमूलिका ऋतप्रकृति से समन्वित अनेकभावापन्न ऋतऋतुओं से

---

* यहाँ का 'पशु' शब्द पशु--पक्षी--कीट--कृमि--नाम की चारों पार्थिवप्रजाओं का संग्राहक बना हुआ है, जैसाकि शतपथभाष्य में स्पष्ट है।

मानवप्रजा, तथा पशुप्रजा का विभेद स्थापित कर दिया है । यही तो वह परोक्ष--रहस्यविधि है, जिस पारिभाषिक--विधि से पराङ्मुख हो जाने वाले वेदव्याख्याताओं--भाष्यकारोंनें वेदशास्त्र के रहस्यपूर्ण ज्ञान--विज्ञानात्मक--स्वरूप को अभिभूत ही कर दिया है अपनी मतवादात्मिका मान्यताओं के द्वारा । लक्ष्य बनाइए निम्नलिखित श्रुतिवचन को, एवं उसके--'ऋतुना'--'ऋतुभिः' मूलक परोक्षसङ्केत का अनुग्रह प्राप्त कर रोमहर्ष का अनुभव कीजिए ।

"ऋतुनेति वै देवाः--मनुष्यानसृजन्त, ऋतुभिरिति पशून् । स यत्तन्मध्यमेन पशूनसृजन्त--तस्मादिमे पशव उभयतः परिगृहीता वशमुपैता मनुष्याणाम्" ।

—शत० ४।३।१।१२।

६७--वसन्त-ऋतु का 'मधु' भाग, तदनुगत 'मधु-उत्सव', तदनुप्राणित 'मधुमास', एवं मधुतत्त्व--जिज्ञासा—

पार्थिव--दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले फाल्गुनपूर्णिमानुगत--वसन्तोपक्रम से सम्बन्ध रखने वाले साम्वत्सरिक--'ऋतु' तत्त्व का प्रासङ्गिक स्वरूप अनेक दृष्टिकोणों से समन्वित हो पड़ा, जिसके माध्यम से हमारा मनोराज्य इस भावुकता का अनुगामी बन गया कि, फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा--तिथि को उस वसन्तसम्पातकाल का प्रातिनिध्य समर्पित किया जासकता है, जिस प्रातिनिध्य के अनुग्रह से यह तिथि अग्नीषोमरूप पार्थिव--द्यौ के दाम्पत्यसम्बन्ध की उपक्रमतिथि बन रही है । सहजभाषानुसार-सौर अग्नि इस पुण्यतिथि को ही सर्वप्रथम पार्थिव धरातल से समन्वित होकर इसे, एवं इसकी पार्थिव प्रजा को, जड़--चेतन--लक्षण--यच्चयावत् पार्थिव--पदार्थों को मधुरसमय बना देता है । अतएव यहीं से मधु का उत्सव आरम्भ होजाता है, जो कि 'मधु--उत्स' ही 'मधु--उत्सव' नाम से लोकभाषा में व्यवहृत किया जासकता है । मधुरमिलनात्मक इसी मधु के सम्बन्ध से बसन्त-ऋतु का चैत्रमास 'मधु' मास कहलाया है, एवं तत्प्रवर्ग्यरूप वैशाखमास--'**माधव**' मास कहलाया है, जिन इन दोनों वासन्तिक मासों में से--'मधु' मास के 'मधु' शब्द की ओर ही * मध्वद--भोक्तात्माओं का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

६८--मधुविद्या से अनुप्राणित रहस्यपूर्ण 'मधु' शब्द, एवं उसके स्वरूप--संस्पर्श से भी वञ्चिता हमारी जड़प्रज्ञा--

'मधु' शब्द का लोकभाषार्थ है--'शहद', जिसका सुप्रसिद्ध मधुमक्षिकाओं के द्वारा अपने छाते में सञ्चय हुआ करता है । प्रकृति में मधुमक्षिकाएँ कौन हैं ?, इन से सञ्चित 'मधु' का क्या स्वरूप है ?, जिस मधुकोशरूप-आवपनरूप पात्र (छाते) में इस मधु का मधुमक्षिकाओं के द्वारा सञ्चय होता रहता है, उस मधु-कोश का क्या स्वरूप है ?, सञ्चित मधु का किस के द्वारा कहाँ कहाँ किस किस उद्देश्य से वितरण होता है ?, इत्यादि

***--य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।**
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

—कठोपनिषत् ४ वल्ली ५ मन्त्र ।

सभी वैज्ञानिक प्रश्न सुप्रसिद्ध उस '**मधुविद्या**' से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका सामविद्याप्रतिपादिका छान्दोग्योपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है, एवं जिस मधुविद्या के प्रथम सम्प्रदायप्रवर्त्तक वे **दध्यङ् अथर्वा ऋषि** माने गए हैं, जिन्हें मधुविद्या के मूलस्तम्भभूत देवेन्द्र से प्रतिज्ञाता संधा (शर्त्त) का अतिक्रमण कर अश्विनीकुमारों को मधुविद्या बतलाने के अपराध में इन्द्र के द्वारा अपना मस्तक कटवा लेना पड़ा था। अत्यन्त ही सुसूक्ष्म–तत्त्ववाद से सम्बन्ध रखने वाली त्रैलोक्यप्रतिष्ठालक्षणा रहस्यपूर्णा तथाविधा मधुविद्या के अक्षरार्थ का भी जब इस मनोवशवर्त्ती–पुराणीप्रज्ञाशून्य–भावुक–जन को अधिकार प्राप्त नहीं है, तो तदनुबन्धी तथाकथित प्रश्नों के समाधान की तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता। अतएव अपनी अज्ञता के इस नग्न स्वरूप के साथ ही मधुविद्या--सम्बन्धी प्रश्नसन्दर्भ दूरतः ही प्रणम्य मान लिया जाता है आयोजनात्मक–प्रस्तुत–लोकानुरञ्जकमात्र सामयिक–निबन्ध की लोकमर्य्यादा के अनुबन्ध से। हाँ, होलामहोत्सवजनित प्रमाद से प्रेरित होकर प्रमादभाषा में प्रमादपूर्ण इत्थंभूत अलग्ल उद्गार अभिव्यक्त कर दिए जासकते हैं इस मधुस्वरूप के सम्बन्ध में कि—

६६–'मधु' शब्द का लोकानुगत समन्वय, तत्सापेक्षतापूरक दधि-घृत-मधु-अमृत--शब्द, एवं दधि--घृत--मधु--अमृत--रसमयी--लोकचतुष्टयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

दधि, घृत, एवं **अमृत** इन तीनों सापेक्षद्रव्यों से अनुप्राणित द्युलोकीय रसविशेष का ही नाम 'मधु' है, जो मानव के **दधि–घृत–अमृत**–रूप व्यवहार्य्य अन्न में प्रतिष्ठित माना गया है । जिस अन्न की सायंप्रातः मानव अपने शारीरिक–वैश्वानर अग्नि में आहुति देता है, उस अन्न में प्रकृतिदेवी चार लोकों के विभिन्न रसों का आधान कर दिया करती है । पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–भौमपार्थिव–अग्निप्रधान–रसभाग ही 'दधि' कहलाया है, जिस से शारीरिक अस्थि-मांस-चर्म्मादि घनधातु उपजीवित हैं । चान्द्र–आन्तरिक्ष्य वायुप्रधान–रसभाग ही '**घृत**' कहलाया है, जिससे शारीरिक–श्लेष्मादि चिक्कणधातु उपजीवित हैं। सौर–आदित्य–प्रधान रसभाग ही '**मधु**' कहलाया है, जिससे शारीरिक मूल–शुक्रधातु उपजीवित है । एवं चतुर्थ–पारमेष्ठ्यलोकीय–तृतीय द्युस्थानीय-भृगुप्रधान रसभाग ही '**अमृत**' कहलाया है, जिससे सूक्ष्मशरीरात्मक मानसधातु उपजीवित है। यों परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी–इन चारों विश्वपर्वों से स्वायम्भुव अव्यक्तप्राण की प्रतिष्ठा के आधार पर प्रवृत्त–प्रवर्ग्यभूत–पारमेष्ठ्य–सौर–चान्द्र–पार्थिव–रसों के समन्वय से ही अमृत–मधु–घृत–दधि–रसात्मक अन्न का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिससे शारीरिक घन–तरल–विरलधातु, तथा मन, चारों पर्व स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहा करते हैं। "**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य, तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्**" इत्यादि श्रुति इन्हीं चारों रसों का क्रमिक दिग्दर्शन करा रही है।

सर्वाधारः स्वायम्भुवोऽव्यक्तप्राणः	१–परमेष्ठी (द्यौः–तृतीया द्यौः)—अत्र सोमः प्रतिष्ठितः—अमृतलोकः	—सैषा रसचतुष्टयी
	२–सूर्य्यः (द्यौः–द्वितीया द्यौः)—अत्र मधु प्रतिष्ठितम्—मधुलोकः	
	३–चन्द्रमाः (अन्तरिक्षं–प्रथमा द्यौः)-अत्र घृतं प्रतिष्ठितम्--घृतलोकः	
	४–भूपिण्डः (पृथिवि–पृथिवी)-अत्र दधि प्रतिष्ठितम्--दधिलोकः	

१–अमृतरसेन—अन्ने–स्वादुरसप्रतिष्ठा	(स्वाद–जायका)	—ततः–अन्नस्वरूपनिष्पत्तिः
२–मधुरसेन——अन्ने–मधुरसप्रतिष्ठा	(मिठास–रस)	
३–घृतरसेन——अन्ने–स्नेहनरसप्रतिष्ठा	(चिकटास)	
४–दधिरसेन——अन्ने–दाढ्‌र्य प्रतिष्ठा	(दाना भाग)	

——**——

१–स्वादु—रसेन–अन्नगतेन (अमृतरसेन)—मानवस्य—मानसधातूनां पोषणम्

२–मधुर—रसेन–अन्नगतेन (मधुरसेन)—मानवस्य—शुक्रादिधातूनां पोषणम्

३–स्नेहन—रसेन–अन्नगतेन (घृतरसेन)—मानवस्य—श्लेष्मादिधातूनां पोषणम्

४–दाढ्‌र्य—रसेन–अन्नगतेन (दधिरसेन)—मानवस्य—घनधातूनां पोषणम्

——**——

७०–चतुर्थलोकीय पारमेष्ठ्य अमृतरूप 'ओषधिसोम'—

पारमेष्ठ्य 'सोमरस' का नाम हीं 'अमृतरस' है, जो पारमेष्ठ्य सरस्वान् समुद्र के मन्थन से विनिर्गत है, जैसाकि तृतीय प्रकरण के लक्ष्मी–उत्पत्ति प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जाचुका है। यही पारमेष्ठ्य सोमरसात्मक अमृततत्त्व रोदसीत्रिलोकी में चान्द्रसोमरूप में परिणत होता हुआ अपने चान्द्र–प्रवर्ग्य भाग से क्योंकि पार्थिव–ओषधियों का आप्यापन करता है, अतएव इस पारमेष्ठ्य सोम का साङ्केतिक नाम रख लिया गया है–**'ओषधिसोम'**, जिसका अथर्ववेद में दिव्यौषधिरूप से विस्तार से उपवर्णन हुआ है। सौरमण्डलात्मक देव-मण्डल से भी पूर्व परमेष्ठी में आविर्भूत इसी ओषधिसोम का ऋग्वेद के १० मण्डल के ९७ सूक्त में विस्तार से वैज्ञानिक–स्वरूप विश्लेषण हुआ है, जिस सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

या ओषधीः पूर्वजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ॥
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥१॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणा ॥
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्य्यम् ॥२॥

—ऋक्सं० १०।९७।१,१९ मन्त्र।

७१–पारमेष्ठ्य ओषधिसोम की सौरसम्वत्सरानुगता 'मधु' रूपता—

यही पारमेष्ठ्य–अमृत सोमरस सौर सावित्राग्नि में आहुत होकर 'मधु' रस रूप में परिणत हो रहा है। सौराग्नियुक्त पारमेष्ठ्य सोमामृतरस का ही नाम सौर–'मधु' तत्त्व है, जैसाकि–"एतद्वै प्रत्यक्षात्–

सोमरूपं-यन्मधु । प्रत्यत्तादेवैनं सोमरूपं करोति' (शत० १२।८।२।१५) इत्यादि से स्पष्ट है । सौर-अग्नि से समन्वित होते ही उस पारमेष्ठ्य अमृतसोम का स्वरूप 'मधु' रूप में परिणत होजाता है, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है । सूर्य्य शुक्ररूप है, ओजरूप है, मधुमान् है । अत्यन्त तेजस्वी है । और ये सब अतिशय सोमाहुति के ही सुपरिणाम हैं ।

७२–सौरमण्डलानुगत मधु की सर्वव्याप्ति के कतिपय नैगमिक दिग्दर्शन—

सौर अग्नि इस सोम से 'मध्वग्नि' बना हुआ है–(विश्वेभिः सोम्य मध्वग्न इन्द्रेण वायुना–ऋक्सं० १।१४।१०।) । सौर गौतत्त्व इसी सोम से 'माध्वीगौ' बन रहा है–(माध्वीर्गावो भवन्तु नः–ऋक्सं० १।९०।८।) । चान्द्र सौम्यमण्डलान्तर्गता माध्वी अप्सराएँ इसी मधु से मधुमयीं बन रहीं हैं–(मधु–अप्सरसो नोऽस्तु यज्ञम्–ऋक् ४।३३।३।) । ओषधियाँ मधुमतीं हैं, द्युलोक मधुमान् है, चान्द्र अन्तरिक्ष मधु है । सर्वत्र मधु का ही साम्राज्य है * । इसी मधुतत्त्व की, मध्वद–मध्वग्नि की कामना व्यक्त करते हुए ऋषि कहते हैं—

(१) मधु वाता ऋतायते--मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ।

(२) मधुनक्तमुतोषसो,–मधुमत्–पार्थिवं रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ।

(३)-मधुमान्नो वनस्पति, मधुमाँ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः । (ऋक्सं० १।९०।६-७-८-) ।

७३–वसन्त-ऋतु के उपक्रम में सौर मधु (मध्वग्नि) का पार्थिव रजोभाग में आधान, एवं मधुमत् पार्थिव रज—

सौरब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्यापक सोमात्मक 'मधु' रस के उस स्वरूप का ही प्रस्तुत होलिकापर्व में प्रधान रूपेण उपयोग है, जो सौर मधुभाग वसन्तोपक्रम में अपने सौर मधुलोक से चल कर पार्थिव रज में आहित–समाहित–हो जाता है । एवं जिस उस मधु के अत्र आगमन से हमारा पार्थिव रज 'मधुमत्–पार्थिवं रजः' के अनुसार मध्वग्निरूप वसन्तभाव में परिणत होजाता है, एवं जिस परिणति से ही वसन्त–ऋतु के मास मधु–माधवमास नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं ।

---

*–मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो अन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमन्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥
—ऋक् ४।५७।३।

७४-प्रकृतिसिद्धा दर्शपौर्णमासप्रक्रिया के द्वारा सौर–रसों का पार्थिव–रज में आधान--

कैसे, किस प्रक्रिया से सौर मध्वग्नि पार्थिवरज से समन्वित होता है ?, प्रश्न का उत्तर है–दर्शपूर्णमास–प्रक्रिया। जितने भी रस भूपृष्ठ से संलग्न–सूर्य्यबिम्ब से भी कुछ ऊपर तक व्याप्त पार्थिव रथन्तरसामसमुद्र में–व्याप्त हैं, वे नक्षत्राधिपति चन्द्रमा के दर्शपौर्णमास के द्वारा ही भूपृष्ठ पर आया करते हैं, जिन तत्तद्विभिन्न प्राणात्मक विभिन्न प्राणरसों के आगमक के द्वार तत्तत्-प्राणरसप्रधान तत्तत्–अश्विनी–भरिणी–आदि नक्षत्र ही माने गए हैं। तत्प्राणप्रधान तत्तन्नक्षत्रभोगकाल में चान्द्रनाड़ी के द्वारा पार्थिवधरातल पर आने वाले आन्तरिक्ष्य रस का काल ही 'पौर्णमास' कहलाया है, एवं रसों का पुनः अन्तरिक्षलोक में परावर्त्तनकाल ही 'दर्श' कहलाया है। यों चन्द्रमा के दक्षवृत्तानुगत दर्श–पूर्णमासात्मक परिभ्रमण से ही आन्तरिक्ष्य रसों का आगमन–गमन–प्रक्रान्त रहता है।

७५-सौर–मधु का पौर्णमासकाल, एवं आकाशीय भरणीनक्षत्ररूप मधुच्छत्र (मधु-- मक्षिकाओं का छाता)--

'मधु' रस का आगमन ही मधु का पौर्णमास कहलाया है, एवं निर्गमन ही मधु का दर्श कहलाया है। तथा मधु का वह दर्श उपक्रान्त बनता है शरत्सम्पात से। वसन्तसम्पातानुगत वसन्तसमय ही मधु का पौर्णमासयज्ञ है, जिसका निमित्त बनता है—सुप्रसिद्ध–'भरणीनक्षत्र''। भरणीनक्षत्र ही वह मधुकोश (मधु–का छत्ता–मधुमक्षिका का छत्ता) है, जिसके द्वारा पृथिवीतल पर मधु रस आता है वसन्त ऋतु में।

७६--'आदित्यो वै देवमधु', बार्हस्पत्य पारमेष्ठ्य सोम, एवं सूर्य्य की मधुनाड़ियाँ--

'आदित्यो वै देवमधु' के अनुसार सूर्य्य देवमधु है, जिसे हम अपनी व्यवहारभाषा में '**मधुकर–राजा**' (मधुमक्षिकाओं–मोहमक्खियों–का राजा, जो मधुमक्षिकाओं का शासक बना रहता है) कह सकते हैं। एवं उक्थरूप मधुकरराजा सूर्य्य से विनिर्गता वे अर्करूपा रश्मियाँ ही मधुमक्षिकाएँ हैं, जो अपने प्राणदपानत्--व्यापार से तृतीय द्युस्थानीय ब्राह्मणस्पत्य–बार्हस्पत्य (**ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसा–सृणत्**--ऋक्सं० २।२४।४।--**बृहस्पतिप्रसूताय अस्मै सं दत्त वीर्य्यम्**–ऋक्सं० १०।९७।१९--) '**ओषधि–सोम**' नामक दिव्यौषधिरस अमृतरस (**या ओषधीः सोमराज्ञी**) का संग्रह कर सौरमण्डलरूप मधुकोश में इसका मधुरूप से सञ्चय करतीं रहतीं हैं। इसप्रकार मधुकरराजारूप सूर्य्यमधु की साक्षी में–शासन में प्रतिष्ठित प्राञ्च–दक्षिणा–प्रत्यञ्च-उदञ्च–ऊर्ध्व–सौररश्मियाँ, तद्रूपा मधुमक्षियाँ हीं, ये मधुनाड़ियाँ हीं पारमेष्ठ्य ओषधिसोम का आदान कर सौर मधुकोश में मधुरूप से इसका सञ्चय करतीं रहतीं हैं (देखिए छान्दोग्योपनिषत् ३। १ खण्ड से १० खण्ड पर्य्यन्त मधुविद्याप्रकरण)। सौरमण्डलरूप इस महान् मधुकोश (मधुच्छत्र) का प्रातिनिध्य हमारी पृथिवी के लिए भरिणीनक्षत्र ही कर रहा है। भरणीनक्षत्र ही वह द्वार है, जिसके साथ समन्वित होते ही सूर्य्य अपने मध्वग्निरूप प्राणात्मक मधु की भूपृष्ठ पर मानो अजस्र-रूपेण वृष्टि ही कर देते हैं।

७७--मधुवर्षणात्मक काल का वसन्तत्त्व, एवं तदनुबन्धी मध्वग्नि--समन्वित प्राकृतिक अग्न्याधानकर्म्म---

भरणीनक्षत्रानुगत मधुवर्षणात्मक वही काल वसन्तऋतु माना गया है, जिसका उपक्रमकाल माना गया है वसन्तसम्पात, एवं इस काल का प्रातिनिध्य प्रदान कर दिया गया है आयोजनपद्धति में फाल्गुनीपूर्णिमा को। प्रातिनिध्य यों हीं प्रदान नहीं कर दिया गया। अपितु बस्तुगत्त्वा मध्वग्निरूप दिव्य सौर अग्नि का पार्थिवरज में सम्वत्सर की उपक्रमभूता प्रथमा फाल्गुनी--तिथि में हीं आधान होता है। इसीलिए तो यह काल अग्न्याधानकाल माना गया है।

७८--प्रकृतिसिद्ध अग्न्याधान के आधार पर सम्पादित दिव्याग्नि-आधानात्मक द्विजातिवर्ग का अग्न्याधानकर्म्म—

प्रकृति में यही वसन्तोपक्रम दिव्य अग्नि का आधानकाल है। अग्न्याधान का अर्थ यही है कि, पार्थिव भूत ज में सौर दिव्य प्राणाग्नि का आगमन होता है इसी सम्वत्सरारम्भ में, जो आगमन प्रक्रान्त रहता है वर्षाऋतु--पर्य्यन्त, किंवा वर्षासमाप्ति, तथा शरदारम्भपर्य्यन्त। अतएव बसन्त-ग्रीष्म-वर्षोपलक्षित शरत्--तीनों ही काल अग्न्याधानकाल प्रमाणित हो रहे हैं, जिनके कारण तीनों ऋतुएँ अग्निप्रधाना बनीं हुई हैं, जैसाकि षड्ऋतुप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। वसन्त--ग्रीष्म, एवं वर्षा से समन्वित--शरत्, तीनों का क्रमशः ज्ञान--पौरुष--अर्थ--रूपा तीनों शक्तियों से समन्वित ब्रह्म--क्षत्र--विट्--नामक तीनों प्राकृतिक वर्णवीर्य्यों से सम्बन्ध है, जो तीनों प्रकृतिसिद्ध वीर्य्यभाव ही मानवीया वर्णत्रयी के प्रवर्त्तक बना करते हैं। अतएव प्रकृत्यनुसार ही ब्रह्मवीर्य्यप्रधान ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याधान करता है, क्षत्रवीर्य्यप्रधान क्षत्रिय ग्रीष्मे, तथा विट्वीर्य्य प्रधान वैश्य वर्षानुगत--शरत् में अग्न्याधान करता है।

७९-अग्न्याधानकर्म्मात्मक दिव्य अग्नि--प्रज्ज्वलनात्मक आर्ष होलिकापर्व का नैगमिक समन्वय----

करताथा उस निगमयुग में, जबकि इस द्विजाति की [ब्रा० क्ष० वै० की] आर्षप्रज्ञा प्रकृति के उस होलिकापर्व से परिचित थी, जिस फाल्गुनी--पूर्णिमातिथि को अग्नि जागरूक होकर पार्थिवधरातल पर प्रज्ज्वलित हो पड़ता था। यही तो वास्तविक **'होलिकापर्व'** था निगमयुग में, जिसमें राष्ट्र की ज्ञानाग्नि का प्रतिनिधि ब्राह्मण अपने अध्यात्म में होलिकाप्रज्ज्वलनरूप अग्न्याधानकर्म्म से स्वयं भी जागरूकता प्राप्त करता था, एवं इसी प्रज्ज्वलित--ऋक्--साम--यजुर्मूर्त्ति--सौर--मध्वग्नि के आधानबल से राष्ट्रप्रजा की अग्नियों को भी प्रज्ज्वलित रखता था। इसी प्रज्ज्वलन से ढुँढादि यदृच्छाशब्दवाच्य राष्ट्रीय असुर--राक्षस--आदि विनष्ट होजाया करते थे। सभी आततायी इसी होलाग्नि में जलकर भस्मावशेष बन जाया करते थे। प्रकृतिसिद्ध इसी **'अग्निजागरण-महोत्सव'** को निगमभाषा में जहाँ-**'अग्न्याधानकर्म्म'** कहा जाता है, वहाँ यही लोकभाषा में- **'होलामहोत्सव'** नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिसका नैगमिक--स्वरूप तो निगमनिष्ठा की अभिभूति से बन गया अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में प्रमादपूर्ण लोकविजृम्भण बन गया प्रधान, इति नु महद्दुःखास्पदम्

८०–अग्न्याधान–कालाङ्गभूता नवसस्येष्टि, एवं तदनुबन्धी होलामहोत्सव (नवसस्याहुति, एवं आहुतिशेषप्राशन–महोत्सव) की नैगमिकता का समन्वय—

जो नवीन अन्न परिपक्व होकर वसन्त में सम्पन्न हुआ है, उसे सर्वप्रथम इस वासन्तिक दिव्य–सौर–मध्वग्नि में हीं आहुत किया जाता है, जो कि आहुतिकर्म्म–'**नवसस्येष्टि**' नाम से प्रसिद्ध है। बिना देवभावना के समावेश के कोई भी भूतपदार्थ कदापि केवल भूतरूप से आत्मदेवनिष्ठायुक्ता सांस्कृतिक–भारतीय–आस्तिक–प्रजा के उपयोग में आ ही नहीं सकता, आना नहीं ही चाहिए। सर्वत्र देवभावस्थापन ही इस संस्कृति का वह महान् कौशल है, जिसका अर्थ कदापि भूतवादिनी जड़प्रज्ञा की समझ में आ ही नहीं सकता। इस देवभावसंग्रह के लिए ही तो प्रतिदिन के परिपक्व–सिद्ध अन्न की सर्वप्रथम वैश्वानर–अग्नि में हीं आहुति दी जाती है, जिसे हमारी प्रान्तीय–भाषा में–'**बेसन्दर–जिमाना**' कहा गया है। वैश्वानराग्निदेव को समर्पित कर के ही, अपने भूतान्न को यज्ञिय–देवभावना से समन्वित कर के ही, इस यज्ञोच्छिष्ट–देवोच्छिष्ट से ही हम अपना दैनिक भोजनकर्म्म सम्पन्न करते रहते हैं।

८१–प्राणस्वरूपरहस्यानभिज्ञ भूतपरायण अर्वाचीन वेदभक्तों की कुशङ्काएँ, एवं प्राणविद्या के द्वारा तन्मूलोत्पाटन—

प्राणरहस्य को न जाने वाले भूतपरायण वेदभक्त ही इस सम्बन्ध में ऐसी कुशङ्काएँ करते रहते हैं कि–"भगवान् तो निराकार हैं। उनके क्या भोग लगाया जाय। यह सब तो रूढ़िवादियों के रूढ़िवादमात्र हैं" इत्यादि। इन दिग्भ्रान्त–विमूढ़–वेदबन्धुओंनें दुर्भाग्यवश वेद के अथरार्थ का भी तो अनुग्रह प्राप्त नहीं किया। अर्थ क्या, वेदाक्षरों पर भी तो दृष्टिपात का अनुग्रह नहीं किया, जिस अक्षरदर्शनमात्र से भी ऐसी मूढधारणाओं–कुशङ्काओं का स्वतः ही निराकरण हो जाया करता है। छान्दोग्योपनिषत् के जिस प्रकरण में प्रक्रान्ता मधुविद्या का स्पष्टीकरण हुआ है, उसी प्रकरण में सम्भवतः इसी कुशङ्का का मूलोत्पाटन करने के उद्देश्य से ही मानो ऋषि ने कहा है—

> "अथ यत्–तृतीयममृतं, तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति"। —छां० उप० ३।४।१

८२–मधुनाड़ियों के द्वारा सोमलोक से आगत मधुरस से वरुणमुख के द्वारा आदित्य–देवता के जीवन का संरक्षण, एवं 'जीवन' परिभाषा का समन्वय—

श्रुति का अक्षरार्थ यही है कि, "**तीसरी मधुनाड़ियों से आगत सौम्य–मधु से वरुण के मुख के द्वारा आदित्यदेवता जीवित रहते हैं**"। जीवन का क्या अर्थ है ?, इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे चल कर श्रुति कहती है कि, प्राणरूप देवताओं का जीवनक्रम कोई '**भौतिक–जीवन**' जैसा मर्त्य जीवन नहीं है, जिसमें भूतान्न का निगरण–चर्व्वण आवश्यक बना रहता है। गलाधःकरणानुकूलव्यापार-लक्षण अशन–पान–रूप–भौतिक–भाव का कोई सम्बन्ध नहीं है प्राणात्मक देवताओं से। वह सम्बन्ध तो '**स्वस्मिन् धत्ते–अन्तर्य्यामरूपेण**' निर्वचन से '**स्वधा**' कहलाया है, जिसका सौम्य–पितरों से ही सम्बन्ध

माना गया है। 'स्वमह्वोति-व्याप्नोति' लक्षण-बहिर्य्यामसम्बन्धात्मक बाह्यसम्बन्ध ही-'स्वाहा' कहलाया है, एवं यही 'देवान्नमर्य्यादा' है। तात्पर्य्य-आहुत द्रव्य में देवप्राण भावनामात्र से समाविष्ट हो जाते हैं। अतएव श्रुति को कहना पड़ा कि, "देवता न खाते हैं, न पीते हैं। अपितु इस अन्नगत-भूतरस को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं"।

८३-'स्वाहा' शब्दार्थसमन्वय, एवं सनातनप्रजा की देवभावमूला सनातननिष्ठा का दिग्दर्शन—

क्या है इस 'स्वाहा' लक्षणा तृप्ति का स्वरूप ?, प्रश्न के समाधान के लिए तो देवसमर्पण के विरोधी वेदभक्तों को वेदशास्त्र की यज्ञविद्या के स्वाध्याय में हीं प्रवृत्त होना चाहिए, जिसका उनके शब्दों में-'वातावरण-विशोधन' (हवाफिल्टर) से सम्बन्ध न होकर किसी सुसूक्ष्मा सृष्टिप्रक्रिया से ही सम्बन्ध माना गया है। उक्त श्रौतवचन के अनुवादरूप से ही आस्तिकप्रजा में यह वाक्यसूक्ति प्रसिद्ध है कि-"देवता खाते पीते थोड़े ही हैं। वे तो केवल वासना के भूखे हैं"। तुलसी-शङ्खजल-स्पर्शामात्र से, वैश्वानराग्नि के भूतप्रतिनिधि अङ्गिराग्नि के स्पर्श-माध्यममात्र से प्राणदेवता निश्चयेन तत्सम्बद्ध अन्न को देवभावमय बना देते हैं, यही उक्त श्रुति का सीधासा अर्थ है।

८४-नैगमिक नवसस्येष्टि का नैदानिक प्रतीकभूत-होलिकोत्सवानुगत-नवान्नार्पण-वितरण-ऽशन-कर्म्म—

प्रसङ्ग नवसस्येष्टि का चल रहा था। नवान्न सम्पन्न है। उधर मघ्वग्निरूप-सौर-दिव्यदेवता पार्थिवरज में आतिथ्यरूपेण समागत हैं। अतएव इस अग्निजागरणात्मक-अग्न्याधानप्रसङ्गावसर पर ही अरणिमन्थन के द्वारा सम्पन्न वैध अग्नि में मन्त्र के द्वारा प्राणाग्नि का आधान कर इसे देवप्राणप्रधान बना कर इसी में देवतृप्ति के लिए नवान्न की भी आहुति दी जाती है पद्धतिपुरस्सर। यही नवसस्येष्टिरूप देवार्पणमहोत्सव है, जो होलिकामहोत्सव का अङ्ग बना हुआ है। जिसप्रकार अग्निजागरणात्मक अग्न्याधान का प्रतिनिधि होलिका-प्रज्ज्वलन बन गया है लोक में, तथैव नवसस्येष्टि का प्रतिनिधि प्रज्ज्वलित होलिका-ज्वाला में परिपक्व किए जाने वाले नवीन अन्न (बाल-दँगी) का समारम्भात्मक कर्म्म बना हुआ है। होलिकापूजनावसर पर ही गोधूम-यव-(गेहूँ जौ) की नवीन बालियों का पुञ्ज होलाग्नि में परिपक्व किया जाता है-आज भी, जिसका शुभशकुन-रूप से परिजनों में स्नेहालिङ्गनपूर्वक वितरण किया जाता है, जो कि 'नवसस्येष्टि' का ही लोकाचारात्मक रूढ़ि-स्वरूप है।

८५-अग्निदेव की अवस्थात्रयी, एवं तदनुबन्धी त्रिविध अग्न्याधानकर्म्म—

नवसस्येष्टिरूप अवान्तर-देवभावनानुगत-देवार्पणरूप-कर्म्म से समन्वित-'अग्न्याधान' ही प्रमुख कर्म्म है फाल्गुनी पूर्णिमा का, जिसका अर्थ है अग्निजागरण। जाग्रदवस्था-युवावस्था, तथा अन्तिमावस्था रूपेण तीन प्रक्रम बने हुए हैं मघ्वग्निरूप सौर-दिव्य अग्नि के, जो पूर्वकथनानुसार क्रमशः ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तिमय ब्रह्म-क्षत्र-विट्-भावों के समर्पक प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव तद्वीर्य्यप्रधान ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-वर्ण के लिए वसन्त-ग्रीष्म-शरत्-तीन कालोपक्रमतिथियों को अग्न्याधानकाल मान लिया गया है, जैसाकि निम्न लिखित तैत्तिरीयश्रुति से स्पष्ट है—

(१)--वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत । वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्त्तुः । स्व एवैनमृतावा-धाय ब्रह्मवर्चसी भवति । मुखं वा एतदृतूनां-यद्वसन्तः । यो वसन्ताग्निमाधत्ते-मुख्य एव भवति । अथो योनिमन्तमेवैनं प्रजातमाधत्ते । (२) -ग्रीष्मे राज्यन्य आदधीत । ग्रीष्मो वै राजन्यस्य-ऋतुः । स्व एवैनमृतावाधाय-इन्द्रियावी भवति । शरदि वैश्य आदधीत । शरद्वै वैश्यस्यर्त्तुः । स्वयेवैनमृतावाधाय पशुमान् भवति । ऐषा वै प्रथमा रात्रिः सम्वत्सरस्य-यदुत्तरफाल्गुनी । मुखत एवैतत् सम्वत्सरस्याग्निमाधाय वसीयान् भवति । —तै० ब्रा० १।१।२।६-७-८ कण्डिकाएँ

८६--वसन्त की आज्यता, ग्रीष्म की इध्मता, तथा शरत् का हवित्त्व-प्रतिपादन, एवं पार्थिव--प्राणाग्नि का समिन्धन—

यजुःसंहिताने वसन्त के इसी मूलोपक्रमानुगत प्राधान्य से वसन्त को 'आज्य' कहा है, ग्रीष्म को 'इध्म' कहा है, शरत् को 'हवि' कहा है । जिसप्रकार आज्य (घृत) की आहुति से सुप्त अङ्गाराग्नि जागरूक हो पड़ता है, भभक उठता है, एवमेव वासन्तिक दिव्य सौर-मध्वग्नि के आते ही पार्थिव योनिरूप अग्नि जागरूक हो पड़ता है । ग्रीष्म मानो वैसा काष्ठ है—जो इस जागरूक अग्नि को अधिकाधिक प्रज्ज्वलित करता रहता है । शरदग्नि से अनुप्राणित परिपक्व अन्नरूप अग्नि ही हविरूप से इस प्रज्ज्वलित पार्थिव अग्नि को पुष्ट करता है । अतएव ग्रीष्म इध्म है, तो शरत्—हवि है । देखिए !

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं, ग्रीष्म इध्मः, शरद्धविः ॥

—ऋक्सं० १०।६०।६।

८७—दिक्--छन्द--साम--स्तोम--ऋतु--वीर्य्य-भावानुगत पञ्चर्त्तु विज्ञान--निबन्धन-'पार्थिव-भूतविज्ञान' का तालिकारूपेण पावनसंस्मरण—

षडृतुस्वरूपानन्तर पञ्च—ऋतुस्वरूप प्रतिपादित हुआ था पाङ्क्तयज्ञानुरोध से । एवं अथर्वसंहिता में विस्पष्ट शब्दों में इन पाँचों ऋतुओं का स्वरूप व्यक्त हुआ है, जिसके दिक्—छन्द—साम—स्तोम—ऋतु—वीर्य्य, इन ६ विवर्त्तभावों का स्वरूपोपवर्णन हुआ है यजुःसंहिता में । दिक्—छन्द—साम—स्तोम—ऋतु—वीर्य्य—भावानुगत पञ्च-ऋतुविज्ञान के समन्वय के लिए तत्प्रकरण का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिस प्रकरण में सम्पूर्ण 'पार्थिव—भूतविज्ञान' समाविष्ट है । प्रकृत में वह तालिकामात्र प्रसङ्गधिया उद्धृत करदी जाती है नैगमिक-पुरुषश्रेष्ठों के मनोविनोद के लिए—

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥

—अथर्व सं० १२।१।३६।

दिग्भावाः	छन्दोभावाः	सामभावाः	स्तोमभावाः	ऋतुभावाः	वीर्य्यभावाः
१—प्राची	गायत्री	रथन्तर	त्रिवृत्	वसन्त	ब्रह्म
२—दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पञ्चदश	ग्रीष्म	क्षत्र
३—प्रतीची	जगती	वैरूप	सप्तदश	वर्षा	विट
४—उदीची	अनुष्टुप्	वैराज	एकविंश	शरत्	फल
५—ऊर्ध्वा	पङ्क्ति	शाक्वररैवत	त्रिणवत्रय-स्त्रिंश	हेमन्तशिशिर	वर्च

देखिए !—यजुःसंहिता १० अध्याय, १० मन्त्र से १४ मन्त्रपर्य्यन्त

८८-तीन-पाँच-छह, किंवा सात-ऋतुसमष्टिरूप सम्वत्सरप्रजापति का अर्द्धाकाशात्मक सौर पतिभाव, अर्द्धाकाशात्मक चान्द्र पार्थिव पत्नीभाव, तदनुगत दाम्पत्य के द्वारा ऋतुराज वसन्त में ऋतुकालानुगता पृथिवी का गर्भधारण, एवं तदनुबन्धी अत्रिप्राण-समन्वित पुष्पकाल, तथा तदनुगता भावुकता-पूर्णा कविसूक्ति—

ऋतु-त्रयात्मक, किंवा ऋतु-पञ्चकात्मक, किंवा ऋतु-षट्कात्मक, किंवा ऋतु-सप्तकात्मक-अग्नीषोममय सम्वत्सरप्रजापति का सौर-मध्वग्नि--प्रधान दिव्य-द्यु लोकीय-अर्द्धाकाशात्मक-(सौरअर्द्धाकाशात्मक) अर्द्ध-सम्वत्सर तो **पतिभाव** है, एवं चन्द्रसोमगर्भित-योनिरेतप्रधान-पार्थिव-पृथिवी-लोकीय-अर्द्धाकाशात्मक (चान्द्रपार्थिवार्द्धाकाशात्मक) अर्द्धसम्वत्सर ही **पत्नीभाव** है। दोनों के समन्वितरूपात्मक सम्पूर्ण सम्वत्सर का नाम ही यज्ञमूर्त्ति-दाम्पत्यभाव है, जिनके मिथुन से ही पार्थिव-प्रजा की प्रसूति प्रक्रान्त है, यह आरम्भ से अबतक के विविध-प्रसङ्गों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इस दाम्पत्य का उपक्रम क्योंकि सम्वत्सर की उपक्रमभूता 'वसन्त-ऋतु' ही बनती है। अतएव इसे ही सर्वऋतुप्रतिष्ठा माना गया है। अतएव यह वसन्तऋतु ऋतुश्रेष्ठ-'**ऋतुराजवसन्त**' नाम से प्रसिद्ध हो गई है मनोराज्यवशवर्त्ती भावुक-समाज में। दाम्पत्य के परिणाम-स्वरूप ही वसन्त-ऋतु में ओषधि-वनस्पतियाँ उस 'पुष्पकाल' से समन्वित हो जाती हैं, जो पुष्पकाल 'ऋतुकाल' कहलाया है। एवं जिस ऋतुकाल को ही अत्रिप्राण के सम्बन्ध से **गर्भाधानकाल** माना गया है। इसी सहज स्थिति का लोककविने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

द्रुमाः सपुष्पाः, सलिलं सपद्मं, स्त्रियः सकामाः, पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः, दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये ! चारुतरं वसन्ते ॥

—ऋतुसंहारकाव्ये

८६–प्राकृतिक–द्यावापृथिव्य–दाम्पत्य के आधार पर प्रतिष्ठित, धर्म्मानुगत–काममूलक भारतीय मानव के दाम्पत्यभाव का उपक्रम—

दाम्पत्यतत्त्व के मूलप्रतिष्ठारूप मधुमय वसन्त से सम्बन्ध रखने वाले अग्निजागरणात्मक नैगमिक–तत्त्व का ही अबतक स्पष्टीकरण–प्रक्रान्त रहा है, जिससे अनुप्राणित उस मानवीय–'दाम्पत्य' का भी स्वरूप-दिग्दर्शन प्रासङ्गिक बन जाता है, जिस मानवीय दाम्पत्यभाव को '**सम्वत्सरयज्ञपुरुष की प्रतिमा**' माना है ऋषिप्रज्ञाने। स्मरण रहे, जिस '**मनोज कामदेवता**' के माध्यम से अब हम जिस मानवीय-दाम्पत्य के लोक-स्वरूप की ओर प्रवृत्त होने जारहे हैं, उसका केवल मनःशरीरप्रधान–स्खलित–विगलित–अमर्य्यादित–पशुसर्ग-समतुलित–जड़–कामानुगत–भूतमिलनात्मक कल्पित उस वर्त्तमान दाम्पत्याभास से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो इत्थंभूत–धर्म्मवञ्चित काममूलक दाम्पत्य मानव-मानवी को सम्वत्सरप्रतिष्ठा से वञ्चित करता हुआ इसे सर्वथा पशुश्रेणि में हीं ला खड़ा करता है।

९०–ब्राह्मणग्रन्थोपवर्णिता–सम्वत्सरमूला–अतिसृष्टि से अनुप्राणिता–पार्थिव–प्रजासृष्टि से समन्वित आर्ष दाम्पत्यभाव, एवं मन्त्रश्रुतिविरुद्ध, तथा प्राजापत्यमर्य्यादाविरुद्ध मायावादी के जगन्मिथ्यात्वमूलक कल्पित संन्यास की निस्सारता—

शतपथब्राह्मण में विस्तार से प्रतिपादित–'**अतिसृष्टिविज्ञान**' नामक प्रकरण में अन्नादाग्नि, अन्न-सोममूला दाम्पत्यभावानुगता जिस '**पार्थिव-प्रजासृष्टि**' का निरूपण हुआ है, उसका मूलभूत 'आत्मपुरुष' ही अपनी मानसिक कामना से सर्वप्रथम स्वयं पति–पत्नी–रूप में परिणत होता है, जिसका '**सम्वत्सरप्रजापति**' रूप से अबतक यशोगान हुआ है। कौन है–वह 'आत्मपुरुष', जिससे सम्वत्सररूप–अग्नीषोमात्मक दाम्पत्य-भाव का उदय हुआ है ?, प्रश्न का समाधान जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्ती की दृष्टि में जहाँ कोई अचिन्त्य–विश्वातीत–निर्द्धर्म्मक–निरुपाधिक अज्ञात–अविज्ञेय 'आत्म' पदार्थ है, अतएव जिस वेदान्ती की दृष्टि में इत्थंभूत निरुपाधिक आत्मब्रह्म से प्रतिपादित प्रजासर्ग जहाँ केवल मायिक है, मिथ्या है, वहाँ पार्थिवप्रजा-सापेक्ष आत्मपुरुष सर्वथा चिन्त्य–उपास्य–विज्ञेय–ज्ञानविज्ञानसमन्वित–अग्नीषोमात्मक वे '**सूर्य्यप्रजापति**' ही हैं, जो–'**नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूताः**'–'**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' इत्यादि मन्त्रप्रामाण्यानुसार विस्पष्ट शब्दों में स्थावरजङ्गमात्मिका पार्थिव जनता–प्रजा के प्रसवकर्त्ता आत्मा प्रमाणित हो रहे हैं। अतएव मन्त्रश्रुतिविरुद्ध वेदान्तवादी का, मायावादी–शून्यवादी का अचिन्त्य ब्रह्म कदापि इस पार्थिवसृष्टि–प्रकरण में ग्राह्य नहीं है, जबकि उसे तो सर्वथा अत्यनपिनद्ध ही माना है श्रुतिने।

९१–आत्मपुरुषलक्षण सौरपुरुष का महदुक्थ–महाव्रत–गर्भित पुरुषभाव, एवं पुरुषविध आत्मभाव—

क्या स्वरूप है उस 'आत्मपुरुषरूप' सौरपुरुष का ?, इसके लिए भी श्रुति की ही शरण में जाना चाहिए अपनी वेदान्तकल्पना का परित्याग कर। सूर्य्यनारायण से सम्बद्धा त्रयीविद्या का स्वरूप बतलाते हुए

ऋषि ने कहा है कि, मण्डलाकार--रूपेण प्रतीयमान तेजःपुञ्जरूप सूर्य्यबिम्ब '**महदुक्थरूप ऋकृतत्त्व**' है, एवं तेजःपुञ्जरूप सूर्यमण्डल (सूर्य्यबिम्बात्मक) महदुक्थ से चारों ओर '**सहस्रधा महिमानः सहस्र**' रूप से व्याप्त अर्चिः-समष्टिरूप रश्मिमण्डलात्मक परिमण्डल (आलोकमण्डल-प्रकाशमण्डल) ही '**महाव्रतरूप सामतत्त्व**' है। ये दोनों हीं छन्दोरूप वयोनाध हैं, पुरभाव हैं, सीमाभाव हैं।

६२-ऋक्सामावेष्टित सौर यजुःपुरुष की अग्निप्रधाना पुरुषता का समन्वय—

इस ऋक्सामरूप पुर से सीमित केन्द्रस्थ प्राणाग्नि ही '**पुरुष**' है, यही '**यजुः**' है, एवं यही वह केन्द्रस्थ-हृदयरूप आत्मपुरुष है, जिसका '**अतिसृष्टिविज्ञान**' ब्राह्मण के उपक्रम में-'**आत्मैवेदमग्र आसीत्--पुरुषविधः**' (शत० १४।४।२।१।) इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। विजयदशमीपर्व-प्रकरण के निगमागम-परिच्छेदों में इस सौर त्रयीवेद का दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अतएव पुनरावर्त्तन व्यर्थ है। प्रसङ्गसमन्वयदृष्ट्या केवल-"**अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति**" (शत० १०।५।२।१-२।) यही वचन पर्य्याप्त होगा सौर-आत्मतत्त्व की 'पुरुष' वाचकता के सम्बन्ध में। ऋक्सामपुरों से सीमित, अतएव '**पुरि शेते**' के अनुसार '**पुरिशय**' शब्द ही लोकभाषा का 'पुरुष' शब्द है, जो यजुरग्निमूर्त्ति है। जूरूप स्थित्याकाश से समन्वित यत्-रूप गतिधर्म्मा प्राणाग्नि ही 'यज्जूः' रूप-'यजुः' की स्वरूपव्याख्या है (देखिए शत० १०।३।५।१,२,।)।

६३-सौर--हिरण्यगर्भ--पुरुषाग्नि का अहंभाव, तद्गर्भीभूत चन्द्रमा का 'प्रकृति' भाव, तद्गर्भीभूता पृथिवी का आकृतिभाव, तथा सौर-चान्द्र-पार्थिव--भावों से मानव के बौद्धिक--मानसिक--शारीरिक--अहङ्कृति--प्रकृति-आकृतिभावों का प्रादुर्भाव—

पुरुषरूप इस सौर हिरण्यगर्भ आत्माग्नि का साङ्केतिक नाम है-'**अहम्**'। बड़ा ही रहस्यपूर्ण है यह 'अहम्' शब्द भी। जैसे आत्मपुरुष कोई अचिन्त्य ब्रह्म नहीं है, तथैव इस सृष्टिसन्दर्भ का यह 'अहं' भी किसी निरुपाधिक ब्रह्म का वाचक नहीं है। अपितु पारमेष्ठ्य-महत्प्रकृतितत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले सत्त्वानुगत अहङ्कृतिभाव, रजोऽनुगत-प्रकृतिभाव, तथा तमोऽनुगत आकृतिभाव से अनुप्राणित 'अहंभाव' का ही सूचक है। क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य यही है कि, सूर्य्य चन्द्रमा-भूपिण्ड-तीनों क्रमशः पारमेष्ठ्य-महत्प्रकृतितत्त्व से समन्वित होते हैं। चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर, सचन्द्र-भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर, एवं सचन्द्र-सभूपिण्ड-सूर्य्य महन्मूर्त्ति परमेष्ठी के चारों ओर परिभ्रममाण है, जो परिभ्रमणप्रक्रिया 'दर्शपूर्णमास' नाम से प्रसिद्ध है। इस परिभ्रमण से सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड-तीनों का परिभ्रमण संसिद्ध है। तीनों के द्वारा पारमेष्ठ्य महान् में क्रमशः सत्त्व-रज-तमोरूप त्रिगुणभाव, एवं तदनुबन्धी-अहङ्कृति-प्रकृति-आकृतिभाव-आविर्भूत हो जाते हैं। मानवसंस्था में शरीर-'आकृति' महान् से, मन 'प्रकृति' महान् से, तथा बुद्धि 'अहङ्कृति' महान् से समन्वित है, जो बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्र क्रमशः सौर-चान्द्र-भौम-माने गए हैं। यों महन्मूलक-सौर 'अहङ्कृति' रूप 'अहं' ही यहाँ का 'अहम्' तत्त्व प्रमाणित हो रहा है, जिसे लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है—

"**आत्मैवेदमग्रऽआसीत्--पुरुषविधः। सोऽनु वीक्ष्य--नान्यदात्मनोऽपश्यत्। सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्। ततोऽहं नामाऽभवत्**" [शत० १४।४।२।१।]।

६४–सौरपुरुषानुगत 'अहम्' भाव के प्राथम्य का श्रौत–समन्वय—

सौर पुरुषात्मा ने जब अपने ऋक्सामावच्छिन्न यजुःपुरुषाग्निस्वरूप पर दृष्टि डाली, तो अपने इस आग्नेय–पुरुषस्वरूप के अतिरिक्त इस प्राथमिक स्वरूप में इसे अन्य कुछ भी दिखलाई न दिया। न प्रकृतिभाव उपलब्ध हुआ, न आकृतिभाव उपलब्ध हुआ। क्योंकि ये दोनों भाव तो सौम्य चन्द्रमा, एवं तदनुगता पृथिवी पर ही तो अवलम्बित हैं। अभी जब भूपिण्ड ही नहीं, तो चन्द्रमा कहाँ से आता?। क्योंकि भूपिण्ड सूर्य्य का उपग्रह है, तो चन्द्रमा भूपिण्ड के उपग्रह माने गए हैं। अभी तो उस अवस्था की चर्चा प्रक्रान्त है, जबकि स्वयम्भू ब्रह्माग्नि, तथा पारमेष्ठ्य–सोम के दाम्पत्यभाव से उत्पन्न विराट्मूर्त्ति यजुरग्निमूर्त्ति सूर्य्यपुरुष ही व्यक्त हो पाए हैं, जिनमें महत्प्रकृति (पारमेष्ठ्यप्रकृति) का स्वानुबन्धी 'अहंकृति' भावात्मक केवल 'अहं' भाव ही विद्यमान है। अतएव यही नाम होगया इस प्रथमावस्था में सौरपुरुषात्मा का। पार्थिवसर्ग से पूर्व क्योंकि सौरपुरुषात्मा केवल 'अहं' रूप ही था, नामरूपात्मक प्रकृत्याकृतिभाव चन्द्रमा–भूपिण्ड के उत्पत्यनन्तर प्रादुर्भूत हुए थे। अतएव आज भी उसी पुरुषात्मा का अंशभूत मानव, और मानवी प्रथमामन्त्रण पर (आह्वान करने पर–कौन है? यह जिज्ञासा व्यक्त करने पर) **'अहमस्मि'** ('मैं हूँ') इस रूप से 'अहम्' रूप से ही अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। पहिले सौर आत्मानुबन्धी–अहङ्कृतिरूप–'अहं' नाम ही व्यक्त होता है। तदनन्तर ही–**'याज्ञवल्क्य–गार्गी'** रूप प्रकृत्याकृति-निबन्धन-चान्द्र-पार्थिव नाम व्यक्त होते हैं। इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए आगे चल कर ऋषि कहते हैं—

"तस्मादप्येतर्हि (पार्थिवसृष्टिकाले) आमन्त्रितः–'अहमयम्' इत्येवाग्रे–उक्त्वा–अथान्यन्नाम ब्रूते–यदस्य भवति" [शत० १४।४।२।१।]।

६५–सौरपुरुष के 'पुरुष' शब्द का श्रौत–तात्त्विक–विलक्षण–निर्वचन, एवं 'सर्व्वान् पाप्मन औषत्' लक्षण पुरुष का नित्यविज्ञानमयत्त्व—

आगे चलिए। अहङ्कृतिरूप–यजुरग्निमूर्त्ति, अतएव 'पुरुष' नामक सौर आत्मा ऋक्सामरूप छन्दःपुर के कारण तो पुरुष कहलाया ही है। एतदतिरिक्त आकृति–प्रकृति–निबन्धन–तमो–रजोऽनुगत पाप्माओं–भूत–मर्त्य–मूर्त्त-धर्म्मों से क्योंकि स्वस्वरूप से यह असंस्पृष्ट ही रहता है पार्थिव–चान्द्रसर्ग से पूर्व भी, पश्चात् भी, जैसाकि–**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः–न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति'** इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से भी स्पष्ट है। अतएव भी इसे 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। मूर्त्त–पाप्मभावों के आसञ्जन का सम्बन्ध तो चान्द्र प्रकृतिभाव, तथा पार्थिव आकृतिभावों से ही होता है। सौरपुरुषरूप आग्नेय विज्ञानात्मा [बुद्धि] तो सचमुच पाप्माओं से असंस्पृष्ट ही है। अवश्य ही चान्द्र–पार्थिव सर्गानन्तर फिर भी सौरपुरुष को साक्षीरूप से प्राकृतभावों से समन्वित हो जाना पड़ता है। किन्तु तत्पूर्व तो यह सर्वथा ही इस भावी सम्पूर्ण मूर्त्तजगत्रूप पाप्म-भाव से [स्थूलव्यासङ्ग से] असंस्पृष्ट ही बना रहता है। अतएव–**'स यत् पूर्व्वो-ऽस्मात्-सर्वस्मात्-सर्व्वान् पाप्मन–औषत्'** निर्वचन से इसे 'पुरुष' कहना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है। सौर आग्नेय ताप के सम्मुख कौन पाप्मा ठहर सकता है?। औषत् का 'अदहत्' ही अर्थ है। मानो सब पाप्माओं को जला ही दिए हों उस विज्ञानाग्निपुरुषात्मा ने। आज भी तो जो आचारनिष्ठ मानवश्रेष्ठ विज्ञानात्मबल से अपने मूलप्रभव विज्ञानतेजोमय सौर सावित्राग्नि के,

तेजोमय पुरुषात्मा के उस पाप्मदहनधर्म्म को जान लेता है, वैसा विज्ञानवान् मानव अवश्यमेव अपने विज्ञानपौरुष से पार्थिव-चान्द्र–[शारीरिक–मानसिक] पाप्माओं को जला ही डालता है । (देखिए–शत० १४।४।२।२।] ।

९६–सौरपुरुषप्रजापति का एकत्वानुगत भय, भयनिवृत्ति, द्वितीय-स्वरूप की कामना, स्वयं का द्वैधीभाव, एवं तदनुगता प्रथमा मौलिकसृष्टि का रहस्यात्मक समन्वय—

सौरपुरुषाग्न्यात्मरूप विराड़ात्मा के उस स्वरूप का इतिवृत्त यहीं उपरत हुआ, जिसमें अभीतक चान्द्र-पार्थिव–भाव समाविष्ट नहीं हुए थे। अब उस इतिवृत्त का श्रुति उपक्रम कर रही है, जो उपक्रम ही पार्थिव–चान्द्रसर्ग का मूलप्रभव बनने वाला है। उपक्रम का क्या स्वरूप ? प्रश्न का अर्थ है—'**किञ्चिचलन**'। स्थिति का आंशिक विकम्पन ही किञ्चिचलन है, एवं यही लोकभाषा में–'भय' कहलाया है। ब्रह्मदण्डरूप नियतिर्लक्षण कालचक्र का सहज नियम ही वह 'भयदण्ड' है, जिसने सूर्य्य को गतिशील बना रक्खा है स्वाक्ष-रूप से स्वस्थल पर, एवं अयनरूप से परमेष्ठी के चारों ओर। इस गति के **केन्द्रस्थिति, परिधिगति**–रूप से दो विवर्त्त हो जाते हैं। केन्द्रस्थितिरूप से सूर्य्य ब्रह्मौदनात्मक है, परिधिगतिरूप से सूर्य्य प्रवर्ग्यात्मक है। यही किञ्चिचलनरूप वह भय है, जिसने केन्द्ररूप स्थितिभाव को भी प्रवर्ग्य के पार्थक्यकाल में अवश्यमेव क्षणमात्र के लिए विकम्पित कर दिया होगा, जैसाकि अज्ञातदशा में द्व्यङ्गुल–त्र्यङ्गुल–मित भी गर्त्त में स्खलित पाद–विकम्पन हृत्कम्प उत्पन्न कर दिया करता है क्षणमात्र के लिए। किन्तु जैसे क्षणानन्तर ही हृत्कम्परूप भय शान्त हो जाता है, तथैव उपग्रहरूप से प्रवर्ग्य के पृथक् होते ही पुनः ब्रह्मौदनरूप केन्द्रात्मक सूर्य्यपुरुष का भी भयात्मक विकम्पन शान्त हो गया होगा। और यों दो विवर्त्तों के द्वारा प्रवर्ग्यानुगत–कम्पनयुक्त भय, पुनः भयोपशान्ति–प्रक्रियाधारा से ही सूर्य्यपुरुष से भूपिण्डरूप प्रवर्ग्यपिण्ड प्रादुर्भूत हो पड़ा होगा। इसी प्रथमा सृष्टि-प्रक्रिया को लक्ष्य बना कर आगे चलकर ऋषि कहते हैं—

"सोऽबिभेत्। तस्मादेकाकी बिभेति। स हायमीक्षाञ्चक्रे–यन्मदन्यत्–नास्ति, कस्मान्नु बिभेमि–इति। तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्धि–अभेष्यत्। द्वितीयाद्वै भयं भवति" । [शत० १४।४।२।३।]।

९७–मनःप्राणवाङ्मय सौरपुरुष का हिरण्यगर्भ–मनुत्त्व, तत्पत्नी मनावी (पौराणिकों की 'शतरूपा' मनुपत्नी), एवं मनुरूप मनोमय दाम्पत्यपुरुष से सर्वप्रथम-मनोज–'काम' का आविर्भाव—

सौर प्रवर्ग्यरूपेण उत्पन्न भूपिण्ड, तथा भूपिण्ड से प्रवर्ग्यरूपेण उत्पन्न चन्द्रमा, दोनों पृथक् होगए सौर-पुरुषाग्नि से। पुनः सूर्य्यपुरुष एकाकी ही बने रह गए। यहाँ आकर केन्द्रानुगत, सृष्टिबीजरूप वह महान् अनु-बन्ध व्यक्त हुआ सौरपुरुष के केन्द्र में, जिस कामबीज को मन का रेत कहा गया है। प्राणाग्निमूर्त्ति (यजुरग्निमूर्त्ति) पुरुष में यत्रूप-प्राण, एवं जूरूप वाक् के साथ साथ प्राण-वाक् के आधार पर वह हृदयस्थ काममय मन भी तो

प्रतिष्ठित था, जिससे समन्वित होकर मनःप्राणवाङ्मय ही सौरपुरुष '**हिरण्यगर्भमनु**' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं*, एवं जिनकी अर्द्धाङ्गिनी अनुपद में ही श्रद्धासोममयी 'मनावी' नाम से प्रसिद्ध होने वाली है, जिसे कि पुराणाचार्य्योंनें शत–सहस्र–सृष्ट्याधारत्त्वेन–'**शतरूपा**' नाम से व्यवहृत किया है। इसी मनुरूप मनःप्राणवाङ्मय विराडग्निमूर्ति–सौरपुरुष के मन से कामना का, प्राण से तप का, एवं वाक् से श्रम का आविर्भाव होता है। कामतपःश्रमरूप सृष्टि–अनुबन्धों में प्रथम अनुबन्ध 'मनोमय काम' (कामना) ही कहलाया है। मन से व्यक्त होने के कारण ही सृष्टि के इस मूलबीज को '**मनोज**' कहा गया है, जिस का काम है हृदय में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहते हुए मण्डलानुगत रश्मिभावों से रस का बलों में समन्वय करते रहना। सद्रस को असद्–बलों से समन्वित करते जाना हीं काम का प्रधान पौरुष है। लोकभाषानुसार–सत्ता को भाति में समन्वित करते जाना हीं 'काम' का प्रधान पौरुष है। सद्रूप अहं को असद्रूप–आकृति-प्रकृति-लक्षण–बलात्मक–नामरूपों से सम्बद्ध करते जाना हीं काम का प्रधान लक्ष्य है, जिस इस रहस्यपूर्ण लक्ष्य का रहस्यभाषा में ही दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि ने कहा है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्–हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

—ऋक्सं० १०।१२९।४।

९८–सौरप्रजापति के सुप्रसिद्ध–'खंब्रह्म–कंब्रह्म–रंब्रह्म–शंब्रह्म' नामक चार महिमामय विवर्त्त—

ब्रह्म के चार विवर्त्त सुप्रसिद्ध हैं भारतीय आर्ष–विज्ञानकाण्ड में, जो **खंब्रह्म–कंब्रह्म–रंब्रह्म–शंब्रह्म**–नामों से उपस्तुत–उपवर्णित हैं। अव्यक्त–परमाकाशात्मा–सर्वाधार–स्वयम्भूब्रह्म ही 'खंब्रह्म' है, जो यजुर्मूर्त्ति काममय सौरब्रह्माण्ड का आवपनात्मक सर्वाधार बना हुआ है। इसीलिए तो यजुःसंहिता की समाप्ति–'**ओं खं ब्रह्म**' (यजुः सं० ४०।१७।) पर ही की है तात्त्विक यजुःपुरुष के द्रष्टा महर्षियोंनें। काममय सौर–अग्निपुरुष (प्रजापति) ही प्रजासुखानुभूति से आनन्द–प्रमोद–मोदात्मक–सुखभावात्मक बनते हुए '**कंब्रह्म**' बने हुए हैं ×। कंब्रह्म का 'कम्' रूप सुखभाव कामना पर ही अवलम्बित है, जैसाकि निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र–से स्पष्ट है—

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि॥

—ऋक्सं० ९।११३।१०,११ मन्त्र।

---

* मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः [मनुः]

× प्रजापतिर्वै कः। तमेव तत्प्रीणाति। अथो सुखस्यैवैतत्–नामधेयं 'कम्' इति। सुखमेव तदात्मन्धन्ते। —शाङ्खायनब्राह्मण ५।४।

इसी आनन्दरतिसुख के कारण काममय सौरपुरुष को अवश्य ही–'कंब्रह्म' कहा जा सकता है, कहा गया है। काममय रतिसुख का ही नाम है–दाम्पत्यसुख। अतएव स्पष्ट है कि, जबतक पुरुषकाम स्त्रीकाम से समन्वित नहीं हो जाता, तबतक इसका काम एकाकीरूप से कदापि 'कं' भाव में परिणत नहीं हो सकता। द्वित्वसापेक्ष रमणभाव ही 'कंभाव' का प्रवर्त्तक है। योषा-वृषात्मक रमणभाव ही मिथुनभाव कहलाया है। अतएव दाम्पत्यभाव को ही 'रमणभाव' की प्रतिष्ठा माना जायगा, जो उभयसापेक्ष है। अतएव दाम्पत्य को ही–रमणसाधकत्वेन–'रंब्रह्म' कहा जायगा, जिसका मुख्य श्रेय उस योषातत्त्व को ही दिया जायगा, जो सौम्य माना गया है। तभी तो स्त्रीभाव ही 'रं' सम्बन्ध से–'रमणी' कहलाया है लोकव्यवहार में। अतएव धर्म्मानुबन्धिनी पत्नी को ही 'कं' का 'रं' रूप माना जायगा। खंब्रह्मप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित 'कं' ब्रह्म (पुम्भाव) रंब्रह्म से (स्त्रीभाव से) समन्वित होकर ही जिस अपूर्वा पूर्णा तृप्ति का अनुगामी बनता है, 'खं-कं–रं' की समष्टिरूप वही अमृतभाव–पूर्णसमृद्धिभाव चौथा–'शंब्रह्म' कहलाया है, एवं इसी पर काममय पुरुष का कामभाव उपशान्त हुआ करता है।

६६–सौरपुरुषरूप विराट्पुत्र के सर्जक ब्रह्म सुब्रह्मरूप (स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्यरूप) प्रथम दाम्पत्य का संस्मरण, एवं तत्पुत्ररूप विराट्सूर्य्य का भी तथैव दाम्पत्यानुगमन, तद्-द्वारा स्त्रीपुंभावात्मक ऋताग्नि-ऋतसोममय तृतीय दाम्पत्य का आविर्भाव, एवं तद्द्वारा मानव--मानवीरूप चतुर्थ दाम्पत्य की प्रसूति—

इदमत्रावधेयम्। सौरपुरुष का प्रवर्ग्यभाग ही भूपिण्ड बना, भूपिण्ड का प्रवर्ग्यभाग ही चन्द्रमा बना। चान्द्र सोमोपग्रह से भूपिण्ड सौम्य बन गया, जबकि स्वयं सौरपुरुष अपने प्रातिस्विकरूप से आग्नेय ही रहा। जिस ब्रह्माग्नि–सुब्रह्मसोमरूप दाम्पत्य से सूर्य्यविराट् व्यक्त हुए थे, वह भी अपने अर्द्ध स्वरूप से अग्निप्रधान बन गए, अर्द्धस्वरूप से सोमप्रधान। प्रथम दाम्पत्य में (जो भावसर्ग का प्रवर्त्तक है) ब्रह्माग्नि ही द्रुत होकर जैसे सुब्रह्मात्मक अथर्वसोम में परिणत हुआ है, तथैव इस द्वितीय दाम्पत्य में भी [जोकि गुणानुगत विकारसर्ग–मैथुनीसृष्टि–का प्रवर्त्तक है] सौराग्नि ही प्रवर्ग्यरूप से द्रुत होकर भूपिण्ड बना। इसी का भृग्वङ्गिरोऽनुगत अत्रिप्राण प्रस्नुत होकर चान्द्रसोम रूप में परिणत हुआ। द्यावापृथिवीरूप साम्वत्सरिक–दाम्पत्यभाव के सम्पादक साम्वत्सरिक ऋताग्निरूप वृषा, तथा ऋतसोमरूप योषा, दोनों पुं–स्त्रीभाव, पति–पत्नीभाव एक ही सौरपुरुष के व्याकृतरूप कहलाए। यही सौरपुरुष 'काम' का प्रथम पौरुष कहलाया, जिससे अर्द्ध अग्न्याकाशसम्वत्सर–अर्द्ध सोमाकाशसम्वत्सर-रूप दो अर्द्धवृगलरूप व्यक्त हो पड़े, जिनसे पार्थिवसर्ग [मानवादि–पश्वादि–सर्ग] उपक्रान्त होने वाला है। स्वतन्त्ररूपेण स्वाध्याय का ही विषय है यह दाम्पत्य-विज्ञानात्मक–अतिसृष्टिविज्ञान, जिसका यहाँ संस्पर्शमात्र ही तो सम्भव है। 'विदल' ही 'वृगल' शब्द का अर्थ है। एक वृत्त के दो समान दल हीं 'विदल' शब्द से परिगृहीत हैं। अर्द्ध सौर आकाश अग्निप्रधान पुरुष है, यह भी अर्द्धवृगल है। अर्द्ध चान्द्र-पार्थिवाकाश सोमप्रधाना स्त्री है, यह भी अर्द्ध वृगला ही है। अर्द्धवृगलपुरुष के अर्द्धाकाश को 'सोम' रूप 'पत्नीभाव' पूर्ण करता है, एवं अर्द्धवृगलरूपा स्त्री के अर्द्धाकाश को अग्निरूप 'पतिभाव' परिपूर्ण करता है। दोनों मिलकर एक दम्पती है, एक सम्वत्सरप्रजापति है, जो अपने इन पति–पत्नीरूप अर्द्धवृगलरूपों से अग्नि–सोमात्मक बनते हुए यज्ञात्मक प्रमाणित हो रहे हैं। सम्वत्सररूप दाम्पत्यलक्षण इसी प्रजापति [द्यावापृथिव्य प्रजापति] से मानवादि सर्ग उपक्रान्त होता है, जिस उपक्रान्ति की तिथि वसन्तारम्भकाल

इसलिए मान लिया गया है कि, फाल्गुनी पूर्णिमा ही उस सौर मध्वग्नि का आगमनोपक्रमकाल है, जो सौर मध्वग्नि ही प्रजननकर्म्म की मूलप्रतिष्ठारूप शुक्रस्थ काम का उद्दीपक माना गया है। अब मानवसृष्टि [मानव मानवी–समन्विता–पुं–स्त्रीभावसमन्विता] प्रजासृष्टि का इतिवृत्त उपक्रान्त होने वाला है। अतएव अबतक के सौर–चान्द्र–पार्थिव–सर्गानुगत प्राकृतिक उस दाम्पत्यभाव को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेना चाहिए, जिसका निम्नलिखित शब्दों में व्यक्तीभाव हुआ है—

"स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास, यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ। सऽइममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्। ततः पतिश्च (ऋताग्निश्च) पत्नी च (ऋतसोमश्च) अभवताम्। तस्मादिदं–अर्द्धवृगलमिव (विदलमिव) स्वः, इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यते–एव। तां समभवत्।

ततः—

मनुष्याः–अजायन्त" । (शत० १४।४।२।४–५।)।

१००–'अग्नीषोमात्मकं जगत्' मूलक–मानवीय-दाम्पत्यभाव, एवं तदनुगत इतर प्राणि-वर्गानुगत मिथुनद्वन्द्वों की प्रवृत्ति—

प्रकृति के द्वितीय दाम्पत्यावतार द्यावापृथिव्य–सूर्य्यचन्द्रपार्थिवात्मक–सम्वत्सर प्रजापति के अग्नि–सोमात्मक यज्ञ से प्रजासृष्टि [पार्थिव–प्राणी–सृष्टि] का आविर्भाव हुआ,–**'मनुष्या अजायन्त'** का यही अर्थ है, जैसाकि तद्ब्राह्मण के अग्रिम सन्दर्भ से स्पष्ट है। जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, पार्थिव प्रजामात्र के मूलप्रभव, इनके पुम्भाव–स्त्रीभावों के मूलाधिष्ठान ऋताग्निरूप अन्नादतत्त्व, तथा ऋतसोमरूप अन्नतत्त्व ही बने, जो सम्वत्सरमण्डल में क्रमशः–दक्षिण–उत्तर–दिशाओं को उपक्रमस्थान मान कर उत्तर–दक्षिण–दिशाओं में उपसंहृत हैं। दक्षिण से उपक्रान्त ऋताग्नि उत्तर में विश्रान्त है, एवं उत्तर से उपक्रान्त सोम दक्षिण में उपशान्त है। तभी तो दक्षिण की ओषधियाँ आग्नेयीं मानीं गई हैं, एवं उत्तर की ओषधियाँ सौम्या मानीं गईं हैं। उत्तर का हिमाद्रि सौम्य है, दक्षिण का विन्ध्याद्रि आग्नेय है—**"हिमवद्–विन्ध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुन्धरा"**। अग्नीषोमात्मकं जगत्। अतएव प्रक्रान्त ब्राह्मण को अन्त में कहना पड़ा कि—

"अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं–तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोमः। एतावद्वा–इदं सर्वं–अन्नं चैव, अन्नादश्च। सोम एवान्नम्। अग्निरन्नादः" । [शत० १४।४।२।१३।]।

१०१–'स हैतावानास–यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' वाक्य का समन्वय, एवं अर्द्ध–वृगलात्मक मानव–मानवी की प्रवृत्ति—

'स हैतावानास–यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ' इस वाक्य का क्या अर्थ ?। क्योंकि इस वाक्य के अनन्तर–'स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्' कहा है श्रुति ने, जिसका अर्थ है—प्रजापति इन स्त्री–पुरुषरूप–

अर्द्धवृगलात्मक-विभिन्न-विभक्त दो रूपों से असमन्वित थे। अनन्तर उन्होंने उभयात्मक एक आत्मा को दो भागों में विभक्त किया"। बात समझ में नहीं आई। पहिले दो रूप थे, तो उनसे असमन्वित कैसे रहे प्रजापति?। यदि दो रूप पहिले नहीं थे, तो **'आत्मानं द्वेधाऽपातयत्'** से पूर्व ही प्रजापति के लिए **'स हैतावानास स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ'** यह कैसे कहा गया?। विप्रतिपत्ति का समाधान स्पष्ट है। सौर यजुरग्नि जिस प्रथम दाम्पत्य से आविर्भूत हुआ है, उसमें ब्रह्माग्नि, सुब्रह्मरूप पुं-स्त्री-भाव बीजरूप से पहिले से ही प्रतिष्ठित हैं, जिनका चान्द्र-पार्थिवभाग के अभिव्यक्तित्त्व के अनन्तर व्यक्तीभावमात्र हो जाता है। स्थिति का मानवसृष्टि के उदाहरण से समन्वय कीजिए। मानव का दक्षिणार्द्ध भाग अग्निप्रधान है, आग्नेय है। वामार्द्ध भाग सोमप्रधान है, सौम्य है। पुरुषरूप-अग्निप्रधान-अग्निरूप भी एक ही मानव में यों दक्षिणोत्तरभागों के भेद से अग्नि-सोम, दोनों तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। और यही स्थिति मानवी की है। यों मानव स्त्रीपुंभाव दोनों से ही समन्वित हो रहा है, जो दोनों रूप इस सम्परिष्वङ्गरूप उन्मुग्धभाव के कारण प्रजोत्पादन में तबतक असमर्थ हैं, जबतक कि दोनों पृथक् पृथक्-रूप से अर्द्ध-अर्द्ध-वृगलरूप से विभक्त न हो जायँ। सोमगर्भित अग्निलक्षण आग्नेय पुरुष, तथा अग्निगर्भिता सोमलक्षणा सौम्या स्त्री, दोनों यों विभक्त होकर, तदनन्तर दाम्पत्यरूप सम्परिष्वङ्गभावानुगत बन कर **[तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तः]** ही प्रजननकर्म्म के प्रवर्त्तक बना करते हैं। इसी दृष्टान्त के माध्यम से दार्ष्टान्तिक लक्ष्य का निर्विरोध समन्वय हो जाता है, जिस इस समन्वय की सीमा में हीं मानव-मानवी से सम्बन्ध रखने वाला वह पवित्र-धार्मिक-परिणयात्मक दाम्पत्यसम्बन्ध गर्भीभूत है, जिसके लोकवृत्त को आधार बना कर ही ऋतुराजवसन्त से अनुप्राणित-मधुप्रधान-काममहोत्सव का हमें दो शब्दों में यशोगान कर लेना है।

१०२-मानव-मानवी का मूलप्रतिष्ठारूप साम्वत्सरिक बृहतीछन्द—

स्त्री-पुम्भावात्मक जिस अग्नि-सोमात्मक सम्वत्सरप्रजापति से मानवसर्ग व्यक्त होने वाला है, उस अग्न्यात्मक (अग्नीषोमात्मक) सम्वत्सर का सीमाभाव ही कालात्मक-भातिसिद्ध सम्वत्सर कहलाया है, जिसका आरम्भ में हीं यशोगान किया जाचुका है। कालात्मक-अग्न्यभिन्न उस सम्वत्सर के मध्य में जो पूर्वापरवृत्तात्मक विष्वद्वृत्त प्रतिष्ठित है, वही नैगमिक वह बृहतीछन्द है, जो सम्वत्सरप्रजापति के साम्वत्सरिक-शरीर (मण्डल) के दक्षिणोत्तर पार्श्वों का विभाजक बना हुआ है, जिस इस विभाजक मध्यवृत्त के समन्वय के लिए सम्वत्सरानुगता उस-**'आतिवाहिक-त्रिलोकी'** को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा, जिसके साथ मानव की **'साम्परायगति'** (प्रेतगति-आत्मगति-परलोकगति) से सम्बन्ध माना गया है।

१०३-वृत्तानुगत ३६० अंशों की मौलिक उपपत्ति, तदनुगता परिश्रितेष्टका, तथा यजुष्मती इष्टकाओं से ७२० अहोरात्रों का प्रादुर्भाव—

प्रत्येक वृत्त को ३६० अंशात्मक क्यों मान लिया गया?, प्रश्न की समाधानभूमि सोमगर्भित अग्नि की चिति से सम्बन्ध रखने वाली 'इष्टकाचिति' पर ही अवलम्बित है। प्रजापतिरूप अग्नि, तथा पृथिव्यनुगत चान्द्र सोम, दोनों के अन्तरान्तरीभाव से सम्पन्न होने वालीं चितियाँ **परिश्रितेष्टकाचिति**, एवं **यजुष्मत्येष्टकाचिति**, नाम से प्रसिद्ध हुई हैं ब्राह्मणग्रन्थों में। **'आपो वै परिश्रितम्'** के अनुसार भृग्वङ्गिरोमय-सोमतत्त्व ही 'परिश्रित' है, जो परिधि की रूपरेखा बना करता है। सोममयी इष्टका 'परिश्रितेष्टकाचिति' है, जिसका अर्थ है अग्निगर्भिता चान्द्रसोमचिति, जिससे 'रात्रि' का स्वरूप सम्पन्न होता है। यजुः-पुरुष ही यजुरग्नि है।

यही यजुष्मती ज्योतिर्म्मयी (सोमगर्भिता–अग्निमयी) इष्टका है, जिससे अहः का स्वरूप सम्पन्न होता है। सौम्यचितिरूपा सौम्या रात्रि, तथा अग्निचितिरूप आग्नेय अहः, दोनों मिलकर एक **'अहोरात्रतत्त्व'** है, जिसके पुनरावर्त्तन से ३६० अहोरात्रेष्टका होजातीं हैं, जिन ३६० इष्टकाओं की उपपत्ति **दशसहस्र–अष्टशत** (दसहजार–आठसौ) पर्वों से सम्बन्ध रखने वाले (शत० १०। ।२।२०।) सम्वत्सरकलाव्युदूहन–ब्राह्मण में हीं देखनी चाहिए। इसी उपपत्ति के आधार पर सम्वत्सर का अग्नि-सोमात्मक–इष्टकारूप अहोरात्रतत्त्व ३६० भागों में विभक्त हो रहा है। **'अह्नां विभक्तिरेव रात्रिः'** के अनुसार पूर्व अहः, उत्तर अहः की विभाजिका रेखा ही 'रात्रि' कहलाई है, जो सोमप्रधाना मानी गई है। ३६० अहरग्निरूप–यजुष्मती इष्टकाचितियों की विभाजिका रेखाएँ भी ३६० हीं हो जातीं हैं। फलतः ३६० ही रात्रियाँ हो जातीं हैं। यों ७२० अहोरात्र–समन्वित हो जाते हैं एक सम्वत्सर में। इसी अहोरात्रस्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

सम्वत्सरो वै प्रजापतिरग्निः, सोमो राजा चन्द्रमाः। स ह स्वयमेवात्मानं प्रोचे–यज्ञवचसे राजस्तम्बनाय–'यावन्ति वाव मे ज्योतींषि, तावत्यो मे इष्टकाः' इति। तस्य वा एतस्य सम्वत्सरस्य प्रजापतेः सप्त च–शतानि–विंशतिश्च (७२०) अहोरात्राणि–ज्योतींषि। ता इष्टकाः। षष्टिच–त्रीणि च शतानि (३६०) परिश्रितः (अह्नां विभक्तयः), षष्टिश्च–त्रीणि च शतानि यजुष्मत्यः। सोऽयं सम्वत्सरः प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि ससृजे-यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं,–उभयान्–देव-मनुष्यान्।

—शत० १०।४।२।१।

१०४–'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, उभयान् देवमनुष्यान्–ससृजे' इत्यादि श्रौतवचन से अनुप्राणित प्राणिसर्ग, अप्राणसर्ग, तथा मानव-देव-सर्ग का अत्यन्त रहस्यात्मक समन्वय—

श्रुति का–'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणं, उभयान्–देव–मनुष्यान्–ससृजे' वाक्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड–तीन पर्व हैं सम्वत्सर के, जिनमें सूर्य्य पुरुषपर्व है, चन्द्रमा–भूपिण्ड की समष्टि प्रकृतिपर्व हैं। आत्म–बुद्धिभाव ही पुरुषभाव है, मनःशरीरभाव ही प्रकृतिभाव है। सौरभाव ही पुरुषभाव है, चान्द्रपार्थिवभाव हो प्रकृतिभाव है। यों साम्वत्सरिक–सर्ग **सौरसर्ग, चान्द्रपार्थिवसर्ग** भेद से दो प्रधान भागों में विभक्त हो रहा है। सौरसर्गानुगत आत्मसर्ग के **मानवसर्ग, देवसर्ग** (सौरदेवसर्ग) भेद से दो प्रधान विवर्त्त हैं, एवं चान्द्रपार्थिव–प्रकृतिसर्ग के **प्राणिसर्ग, अप्राणसर्ग**–भेद से दो प्रधान विवर्त्त हैं। पशु–पक्षी–कीट–कृम्यादि चेतनसर्ग ही प्राणिसर्ग है, लोष्ट–पाषाणादि अचेतनसर्ग ही अप्राणसर्ग है। लोक में जिन्हें **जड़–चेतन** कहा जाता है, उन्हें हीं यहाँ अप्राण–प्राणिसर्ग कहा गया हैं, जो क्रमशः चन्द्रगर्भित भौमसर्ग, एवं भूगर्भित चान्द्रसर्ग ही हैं। भूगर्भित चान्द्रसर्गात्मक प्राणिसर्ग के आगे जाकर चन्द्र–

प्रधान प्राणिसर्ग, भूप्रधान प्राणिसर्ग, ये दो प्रधान भेद होजाते हैं, जो क्रमशः **अष्टविध चान्द्रजीव** *, **चतुर्विध पार्थिवजीव** ÷ कहलाए हैं। एवमेव चन्द्रगर्भित भूतसर्गात्मक अप्राणसर्ग के भी आगे चलकर **विशुद्ध भौमसर्ग, पार्थिवप्राणानुगत भौमसर्ग** भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, जो क्रमशः **असंज्ञ–अन्तः–संज्ञ**–नामों से प्रसिद्ध हैं। लोष्टपाषाणादि सर्ग विशुद्ध भौमसर्ग है, ये ही **'असंज्ञजीव'** हैं। ओषधि–वनस्पति–लता-गुल्मादि पार्थिवप्राणानुगत, अतएव (प्राणसम्बन्धेनैव) सक्रिय–सर्ग है, जो **'अन्तःसंज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसाकि–**'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः'** (महाभारत) इत्यादि से स्पष्ट है।

तदित्थं-प्राणिसर्ग नामक प्रथम भूतसर्ग के चान्द्रप्राणप्रधान (सौम्यप्राणप्रधान) आठ वर्ग, पार्थिव–प्राणप्रधान (आग्नेयप्राणप्रधान) चार वर्ग--भेद से १२ अवान्तर विवर्त्त होजाते हैं। प्राणसर्ग नामक द्वितीय भूतसर्ग के अन्तःसंज्ञ–असंज्ञ–नामक दोनों अवान्तर–भौमसर्गों का एक ही 'जड़सर्ग' विभाग मान लिया गया है। और यों **चान्द्रपार्थिव, पार्थिवभौम**–रूपेण प्राणि–अप्राण-सर्ग के अवान्तर १३ त्रयोदश-विध भूतसर्ग हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

त्रयोदशविधः–चान्द्र–पार्थिवः प्राणि–अप्राण–सर्गः—

—प्राणिसर्गः १२
———————*
१–पार्थिवप्राणगर्भित—चान्द्रप्राणप्रधान —सौम्यसर्ग——[शरीरगर्भित–मनःप्रधान]– यक्षादि अष्टविध–चान्द्रजीव
२–चान्द्रप्राणगर्भित—पार्थिप्रवप्राणप्रधान--आग्नेयसर्ग—[मनोगर्भित–शरीरप्रधान]– पश्वादि चतुर्विध-पार्थिवजीव
———

—अप्राणसर्गः १
———
१–भूतगर्भित———पार्थिवप्राणपरिगृहीत-पार्थिवसर्ग——[भूतगर्भित–प्राणप्रधान]– ओषध्यादिमूर्च्छित–प्राणजीव
२–प्राणगर्भित———भूतपरिगृहीत———भौमसर्ग——[प्राणगर्भित–भूतप्रधान]– लोष्टादि–भूतजीव
———————*

प्राकृता इमे जीवाः
प्रकृतिसर्गः
१–चान्द्रपार्थिवसर्गः–१२ विधः————प्राणिसर्गः [जङ्गमसर्गः].
२--पार्थिवभौमसर्गः–अनेकविधोऽप्येकविधः [१]–अप्राणिसर्गः [स्थावरसर्गः]

* **यक्ष–राक्षस–पिशाच–गन्धर्व–ऐन्द्र–पैत्र्य–प्राजापत्य--ब्राह्म,** नामक आठ चान्द्रजीव हीं चन्द्रप्रधान प्राणिसर्ग है, जो चन्द्रिका में सूक्ष्मशरीरायतनों में परोक्षरूपेणैव इतस्ततः विचरण करते रहते हैं। प्रेतजीवों का भी इसी सर्ग में अन्तर्भाव है। इनमें शरीरधर्म्म गौण है, मनोधर्म्म प्रधान है। अतएव इन्हें 'मनोजीव' भी कहा जासकता है।

÷ **पशु–पक्षी–कीट–कृमि**–ये चार वर्ग पार्थिव जीव हैं, जिनका भूपृष्ठ से ही सम्बन्ध है, जिनमें शरीर प्रधान है, मन गौण है।

१०५–'अहं सूर्य्य इवाजनि, अहं मनुरभवम्' मूलक देवभावापन्न परिपूर्ण मानवसर्ग का समन्वय—

आत्मस्वरूप से अनभिव्यक्त, अतएव स्वतन्त्र केन्द्रीय–आत्ममनु से असंस्पृष्ट, अतएव अनात्मभावापन्न, मनुरश्मिमात्र से परिगृहीत स्थावर–जङ्गमात्मक–उक्त प्राणि–अप्राणि–सर्ग चान्द्रपार्थिवसर्गात्मक बनते हुए केवल 'प्राकृतजीव' ही प्रमाणित हो रहे हैं, जो आत्माभिव्यक्तित्त्व से पृथक् रहने के कारण संस्कारग्रहण--योग्यता से वञ्चित हैं। अतएव इनका संस्कारानुबन्धी पुनर्जन्म से, एवं पापपुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं माना शास्त्रने। अपितु--'जायस्व--म्रियस्व' ही इनका सर्वस्व इतिहास है। साम्परायिकी--गति से वञ्चित, संस्कार--शून्य, यथाजात, यथामृत इन चान्द्रपार्थिव प्राणि--अप्राण--सर्गों को लक्ष्य बना कर ही श्रुति ने कहा है–**'यच्च प्राणि, यच्चाप्राणम्'**। स्वयं इनकी कोई स्वतन्त्र आत्मप्रतिष्ठा नहीं है। अपितु केन्द्रमनुरूप सौर आत्मा ही प्राणिरूप जङ्गम प्राकृत जीवों का, अप्राणरूप स्थावर प्राकृत जीवों का नियन्ता बना रहता है, जैसाकि--**'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** से स्पष्ट है। अवयवरूप हीं हैं ये प्राकृत जीव सम्वत्सरप्रजापतिरूप अवयवी के। अतएव स्वतन्त्र आत्माभिव्यक्तित्त्व का अभाव है इन प्राकृत--जीवों में। महद्ब्रह्म का चन्द्रमानुगत प्रकृतिभाव, तथा पृथिव्यनुगत आकृतिभाव, यों दो [स्वभाव, और आकार] पर्व ही इन चान्द्र-पार्थिव जीवों के सर्वस्व बने हुए हैं। सूर्य्यानुगत--'अहङ्कृति' रूप 'अहं' तत्त्व इनसे असंस्पृष्ट है। अतएव ये **'अहं'** रूप आत्मभाव से असंपृष्ट हैं। **'अहं सूर्य्य इवाजनि--अहं मनुरभवम्'** यह भाषा तो एकमात्र मानव की ही मानी गई है। किस मानव की ?, समन्वय कीजिए देवप्राणानुगता विज्ञानबुद्धि से।

१०६–मनःशरीरानुगत, किन्तु आत्मबुद्धिनिष्ठ, अतएव परिपूर्ण मानव का सर्वश्रेष्ठत्त्व, एवं आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्वमूला–स्वरूप–प्रतिष्ठा का समन्वय, तथा प्रासङ्गिक भूतसर्ग का उपराम—

सम्वसत्सरप्रजापति–स्वरूप केन्द्रीय सौरप्रजापति में आत्मभाव, तथा देवभाव, दोनों समन्वित हैं। अपने ज्योतिर्म्मय प्राणभाग से यही देवघन है (**'चित्रं देवानामुदगात्'**) तो, अपने हृद्य शाश्वत–ब्रह्मस्वरूप मनु–आत्मभाव से यही आत्मस्वरूप भी है। इसी लिए तो इसे पुरूष कहा गया है। देवभाव इस का बुद्धिभाव है, 'धी' भाव है–(**'पुनन्तु मनवो धिया,–' धियो यो नः प्रचोदयात्**)। एवं आत्मभाव आत्मा है। यों सौर–सम्वत्सरप्रजापतिपुरुष इन आत्म–देवभावों से–**'आत्म--बुद्धि'** स्वरूप महान्–देव प्रमाणित हो रहे हैं। इसके इस आत्म–देवात्मक–आत्म–धी–भाव से जो स्वतन्त्र अवयवीसर्ग आविर्भूत होता है, वही देवप्राणानुगत **'मानवसर्ग'** कहलाया है, जो अपने आत्म–बुद्धिभाव से उसके आत्म–धीरूप–अवयवी से सर्वथा अभिन्न है, जैसाकि **"योऽसावादित्ये पुरुषः–सोऽहम्"** इत्यादि से स्पष्ट है। **'तं ह देवमात्म-बुद्धि–प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'** इत्यादि श्रुति भी इसी तथ्य का समर्थन कर रही है। स्वतन्त्र आत्म-देवाभिव्यक्तित्त्व के कारण ही एकमात्र मानवसर्ग ही सम्वत्सरप्रजापति का प्रतिमानसर्ग कहलाया है। अन्यान्य प्राकृतसर्ग जहाँ अवयवसर्ग हैं, वहाँ मानव प्रजापति का अवयवी–सर्ग है। पूर्ण से उदक्त पूर्ण सर्ग है। और यही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समस्त भूतभौतिक–प्राणी–अप्राणी–सर्गों के समतुलन में 'आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व' रूप, अतएव संस्कारी मानवसर्ग का श्रेष्ठतमत्त्व **है–'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'**। इसी से मानव को

इस तथ्य पर भी स्वतः ही पहुँच ही जाना पड़ेगा कि, जो मानव प्राकृतिक मनःशरीरनिबन्धन पूर्वोक्त चान्द्र-पार्थिव-व्यासङ्गों में आसक्त-व्यासक्त होकर अपने इस आत्म-बुद्धि-लक्षण स्वस्वरूपबोध से पराङ्मुख होजाता है, इस व्यक्तित्वविमोहनात्मिका स्वरूपबोधविस्मृति से परिपूर्ण भी, आत्मबुद्धिनिष्ठ भी मानव प्राकृत जीवों की भाँति केवल मनःशरीर-परायण बना रहता हुआ अपने आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्व-लक्षण मानवस्वरूप से सर्वथा ही वञ्चित होजाता है। और इस स्वरूपविस्मृति की दशामें यह भी पशु-पक्षी-कीट कृमि-इन चारों में से किसी एक जीवसर्ग को ही समलंकृत-सुशोभित कर देने के महान् गौरव से समन्वित होता हुआ तद्वत्-**'जायस्व-म्रियस्व'** का ही महापात्र बना रहजाता है । श्रुतिने-**'उभयान्-देवमनुष्यान्'** वाक्य से उस परिपूर्ण मानव का, एवं तदभिन्न सौर यज्ञिय दिव्य देवदेवताओं का ही संग्रह किया है, जो सौरमण्डल के अवयवी बने हुए हैं। अत-एव श्रुतितत्त्वव्याख्याता राजर्षि मनुने भी **'पितृभ्यो देवमानवाः'** (मनुः) कहते हुए सौम्यपितृ-प्राणात्मक परमेष्ठी के गर्भ में देव-मानवरूप धी-आत्मभावात्मक दिव्यसर्ग को ही प्रधानता दी है । यहाँ भी पूर्वोक्त अतिसृष्टिविज्ञान-ब्राह्मणमें-**'ततो मनुष्या अजायन्त'**, [शात० १४।४।२।५] कहते हुए पश्वादिसर्ग से पूर्व अवयवीरूप परिपूर्ण मानवसर्ग को ही प्रधानता दी है । इस सर्वश्रेष्ठ मानव, आत्मनिष्ठ-बुद्धिनिष्ठ-मानव-श्रेष्ठ का ही उस साम्वत्सरिक आतिवाहिक-त्रैलोक्य से सम्बन्ध है, जिस के प्रसङ्ग से सम्वत्सरप्रजापत्यनुगत इस चतुर्दशविध भूतसर्ग का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन व्यक्त हो पड़ा है, जिसका निबन्ध के प्रथम प्रकरण में भी अन्य दृष्टि से समन्वय किया जाचुका है ।

१०७-पञ्चपाद-द्वादशाकृति-सप्तचक्र-षडर-त्रिनाभि-सम्वत्सर-प्रजापति का समष्ट्यात्मक पावन संस्मरण—

प्रकृतमनुसरामः । सौम्या परिश्रित-इष्टकाओं से, तथा आग्नेयी यजुष्मती इष्टकाओं से सम्वत्सरात्मक अग्नि ३६० कलाओं में विभक्त हैं, जिसकी विभिन्न विभक्तिरूप से ७२० कलाएँ हो जातीं हैं । अग्नि-सोमात्मक इन ३६० कलाविभागों से तद्भोगकालात्मक-क्रान्तिवृत्तात्मक-सम्वत्सरवृत्त की भी ३६० कलाएँ निष्पन्न हो रहीं हैं। प्रत्येक वृत्त छन्द है । प्रत्येक छन्द अग्नि-सोममय-वयोलक्षण वस्तुपिण्ड की सीमा है। अतएव ३६० अंशविभाग यों वृत्तमात्र का धर्म्म बन गया है । अणु से अणुवृत्त, एवं महान् से महान् वृत्त में ३६० कलान्वित सोमाग्नि रहेंगे ही वयोरूप से । इस विस्तारकथा को यहीं उपरत कर हमें अब आतिवाहिक-त्रैलोक्य पर आजना चाहिये। साथ ही प्रसङ्गविधया सम्वत्सर के सम्बन्ध में इतना और जान लेना चाहिए कि—मेषादि द्वादश राशियों से समन्वित १२ मास, तदनुगत द्वादश आदित्य ही सम्वत्सर का **'आकृतिभाव'** है । पञ्चसम्वत्सरात्मक 'युग' ही इस के **पञ्चपाद** हैं । गायत्र्यादि सात अहोरात्रवृत्त ही इसके **'सप्त चक्र'** हैं। षड्ऋतु ही रथचक्र के ६ **'आरे'** है। और ३६० अहः, तथा ३६० विभक्तियाँ (रात्रियाँ), सम्भूय ७२० कलाएँ हीं मानो इसके इसके कलात्मक अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं । त्रिकेन्द्रात्मक, अतएव 'दीर्घवृत्तात्मक' (अण्डवृत्तात्मक) क्रान्तिवृत्तापरपर्य्यायक, सम्वत्सरचक्र के इसी भौतिक छन्दः-स्वरूप को लक्ष्य बना कर महर्षिश्रेष्ठ दीर्घतमा कह रहे हैं—

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्त्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ॥
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥१॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् ॥
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥२॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥३॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ॥
सूर्य्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥४॥
—ऋक्संहिता १ मण्डल, १६४ वाँ अस्यवामीयसूक्त

१०८–गगनवृत्तात्मक महान् आकाशमण्डल, एवं तत्प्रतिनिधिरूप सम्वत्सरमण्डल—

हाँ, तो ३६० अंशात्मक सम्वत्सरचक्ररूप क्रान्तिवृत्त को लक्ष्य बनाइए, एवं अब इसके माध्यम से लक्षीभूत त्रैलोक्य का समन्वय कीजिए। क्रान्तिवृत्त स्वयं अपनी वृत्तमर्य्यादा से ३६० अहोरात्रों से जहाँ ३६० कलात्मक है, वहाँ सम्पूर्ण खगोलवृत्त की दृष्टि से क्रान्तिवृत्त का सर्वस्वरूप खगोलीय महावृत्त के ४८ अंशों में ही परिसमाप्त है, जिस इस रहस्य के समन्वय के लिए तो वेदाङ्ग–ज्यौतिषानुबन्धिनी खगोलविद्या का ही स्वाध्याय करना चाहिए, जिससे हम तो सर्वथा ही असंस्पृष्ट हैं। महा आकाशात्मक खगोल को आधार बनाइए, जिसके किसी प्रदेश में ३६० अहोरात्रात्मक क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सर प्रतिष्ठित है, जो सम्पूर्ण खगोल का (अनन्तकालात्मक ब्रह्माण्ड का) ही प्रतिनिधि बना हुआ है-"**पूर्णात्–पूर्णादञ्चन**" न्याय से।

१०९–महावृत्तात्मक खगोल के विभाजक कूर्म्मप्रजापति, एवं तदनुगता कूर्म्मत्रिलोकी, तथा तदनुप्राणित क्रान्तिवृत्तीय सम्वत्सरमण्डल—

महावृत्तात्मक खगोल के ३६० अंशों का विभाजन कीजिए, जिस विभाजन के माध्यम बनते हैं वे **कूर्म्मप्रजापति**, जिनका यशोवर्णन दीपावलीपर्वानुगत–अमृतमन्थनप्रकरण में किया जाचुका है। उत्तरध्रुव से दक्षिणध्रुव पर्य्यन्त का अर्द्ध वह खगोल (खगोलार्द्ध)–जिसमें साक्षीरूप से अहरधिष्ठाता सम्वत्सराध्यक्ष सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, हमारी अपनी सापेक्षभाषा में दृश्यार्द्ध खगोल है। एवं यह प्रदेश (अर्द्ध-दृश्य खगोल) १८० अंशात्मक है। ि क इसके विपर्य्यय में अधोऽवस्थित अर्द्ध वह खगोल—जिसमें साक्षी-रूप से रात्र्यधिष्ठाता चन्द्रमा प्रतिष्ठित है, अदृश्यार्द्ध खगोल है, जिसके भी १८० ही अंश हैं। दोनों इन अण्डकटाहों का समन्वितरूप ही ३६० अंशात्मक महा आकाशात्मक गगनवृत्त (खगोल) है, जिसमें क्रमशः देवताओं, तथा असुरों का साम्राज्य माना गया है। अहरनुगत–ऐन्द्राग्न–अर्द्धवृत्त देवप्रधान है, रात्र्यनुगत वृत्र–वरुणात्मक–अर्द्धवृत्त–असुरप्रधान है। दोनों में से देवप्रधान–१६० अंशात्मक–सूर्य्यानुगत–उत्तर–दक्षिण ध्रुव से सीमित अर्द्धवृत्त को ही यहाँ लक्ष्य बनाना है।

११०–क्रान्तिवृत्तीय–अर्द्ध–सौर खगोल की प्राकृतिक स्थिति—

विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्रात्मक उत्तरध्रुव, तथा दक्षिणध्रुव के मध्य के १६० अंशात्मक अर्द्धखगोलवृत्त के केन्द्र में (अर्थात् उत्तरध्रुव से ९० वें दक्षिणांश पर, तथा दक्षिणध्रुव से भी ९० वें उत्तरांश पर मध्य में)

जो पूर्वापरवृत्त प्रतिष्ठित है, उसी का नाम है–'**विष्वद्वृत्त**' जिसे '**बृहतीछन्द**' कहा गया है, जिस इस मध्य के बृहतीछन्द के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है–'**सूर्य्यो बृहतीमध्यूढस्तपति**'। '**मध्ये एकल एव स्थाता**'। इस बृहतीछन्द से ठीक ९० वें अंश पर उत्तरध्रुव है, एवं ९० वें अंश पर दक्षिणध्रुव है। सैषा अर्द्ध खगोल-स्थितिः। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया।

१११–आतिवाहिक–त्रिलोकी का पृथिवीलोक—

मध्य के तथाकथित बृहतीछन्द (विष्वद्वृत्त) से उत्तर के ९० अंशात्मक आकाश में से २४ अंशात्मक आकाश, एवं दक्षिण के ९० अंशात्मक आकाश में से २४ अंशात्मक आकाश, इन दोनों आकाशों के २४ वें, २४ वें अन्तिम अंश का स्पर्श करता हुआ जो एक स्वतन्त्र वृत्त बनेगा, उसे ही '**क्रान्तिवृत्त**' कहा जायगा, जिसका परिसर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न बनता हुआ ४८ अंशात्मक होगा, एवं यह ४८ अंशात्मक खगोलीय–क्रान्तिवृत्त ही आतिवाहिक–त्रिलोकी का '**पृथिवीलोक**' माना जायगा, जिस पृथिवीलोकात्मक इस क्रान्तिवृत्त के आधार पर भूपिण्ड तत्केन्द्रस्थ बृहतीछन्द के केन्द्र में आरूढ सूर्य्य के चारों ओर परिक्रममाण है।

११२–आतिवाहिक–त्रिलोकी का दैव–अन्तरिक्षलोक, तथा दैव–द्युलोक—

अत्र उत्तर के ९० अंशों में से २४ के क्रान्तिवृत में समाविष्ट हो जाने से शेष रह जाते हैं–६६ [छाछठ] अंश। इनके भी पहिले ४२, अनन्तर २४ इस रूप से दो विभाग कर डालिए। ध्रुवसन्निकट के २४ अंश के व्यासार्द्ध से भी एक स्वतन्त्र वृत्त बनता है, जिसे '**ध्रुवपरिभ्रमणवृत्त**' कहा गया है, जिसका परिसर भी क्रान्तिवृत्तवत् ४८ अंशात्मक ही बन जाता है, जिसको आधार बना कर ध्रुव परिभ्रममाण है तत्केन्द्रभूत नाकस्थ विष्णु के चारों ओर, जो कि ध्रुवपरिक्रमा २५ सहस्रवर्षों में सम्पन्न होती है। यही आतिवाहिक-त्रिलोकी का द्युलोकात्मक–देवलोकात्मक–नाकलोक है, स्वर्गलोक है। ४२ अंशात्मक मध्यवृत्त ही अन्तरिक्ष-लोकात्मक वह '**देवयानपथ**' है, जो '**शुक्लमार्ग**' माना गया है। इसप्रकार उत्तरध्रुव से २४–४२–२४ अंशों के विभाजन से ९० अंशों के तीन विभाग हो जाते हैं।

११३–आतिवाहिक–त्रिलोकी के पैत्र–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु–लोकों का समन्वय—

तथैव दक्षिणध्रुव से भी २४–४२–२४–ये ही तीन विभाग हो जाते हैं। विष्वद्वृत्तीय दोनों २४-२४ मिलकर ४८ अंशात्मक मध्य का क्रान्तिवृत्त पृथिवीलोक है, इसके उत्तर का ४२ अंशात्मक आकाश देवया-नात्मक–शुक्लमार्गात्मक–अन्तरिक्ष है। तदुत्तर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न ध्रुवपरिभ्रमणवृत्तावच्छिन्न आकाश '**देवस्वर्गा**'त्मक द्युलोक है, यही देवभावापन्ना आतिवाहिक-त्रिलोकी है। एवमेव क्रान्तिवृत्तात्मक पृथिवी-लोक से दक्षिण का ४२ अंशात्मक आकाश '**पितृयाणा**'त्मक '**कृष्णमार्गा**'त्मक अन्तरिक्ष है, तदुत्तर २४ अंश के व्यासार्द्ध से सम्पन्न दक्षिणध्रुव–वृत्ताकाश ही पितृस्वर्गात्मक द्युलोक है। और यही पितृभावापन्ना आति-वाहिक–त्रिलोकी है। दोनों त्रिलोकियों का पृथिवीलोक एक ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न मध्य सम्वत्सर ही है। प्रचण्ड ज्योतिष्मान् इस क्रान्तिवृत्तीय पार्थिव पथ का ही नाम '**ब्रह्मपथ**' है, जिस की ओर ब्रह्माण्डभेदी किसी महद्भाग्यशाली का ही भूतात्मा गमन किया करता है इस भूतल से पृथक् होने पर। अन्यथा तो सामान्यरूपेण

आत्मगतिलक्षण प्रेतात्मगति के ४२-४२-अंशात्मक देवयान-पितृयाण-नाम के सुप्रसिद्ध शुक्लार्चि-कृष्णधूम-मार्ग ही नियत हैं, जिन इन सम्पूर्ण गतिभावों का श्राद्धविज्ञानग्रन्थ के चतुर्थ **'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्'** नामक खण्ड में हीं विशद विवेचन देखना चाहिए । प्रकृत में इस उभय-आतिवाहिकत्रिलोकी [खगोलीया देवत्रिलोकी, तथा पितृत्रिलोकी] से हमें दोनों त्रिलोकियों के पृथिवीलोक बने हुए मध्य के उस क्रान्तिवृत्तात्मक सम्वत्सरप्रजापति का ही एक व्यापक स्वरूप पाठकों के सम्मुख रख देना था, जिस सम्वत्सर-प्रजापति के प्रतिमानभूत मानव के दाम्पत्य का सम्वत्सर के साथ समतुलन अभीष्ट है प्रकृत प्रकरण में दाम्पत्यमूलक-काममय होलापर्वानुरोध से ।

११४-मानव--मानवी के मूलप्रतिष्ठारूप विष्वद्वृत्त का संस्मरण, एवं तदनुपात से सम्वत्सर के अवयवों का मानव-मानवी के साथ सर्वात्मना समन्वय-दिग्दर्शन—

कहा गया है कि, सम्वत्सरप्रजापति के साम्वत्सरिक शरीर के दक्षिणोत्तर-पार्श्वों का विभाजक क्रान्ति-वृत्त का मध्यस्थ विष्वद्वृत्त ही बना हुआ है । इस मध्यस्थ वृत्त [विष्वद्वृत्त] के सर्वाङ्गीण स्वरूप--समन्वय के लिए ही खगोलीया आतिवाहिक--देव-पितृ-त्रिलोकियों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन समन्वित हो पड़ा । साम्वत्सरिक प्राजापत्यमण्डल में **सूर्य्य-चन्द्रमा--भूपिण्ड,** ये तीन मुख्य तन्त्र हैं, तो तत्प्रतिमानभूत मानव में भी **शिरोयन्त्र-हृदययन्त्र-बस्तियन्त्र**-नामक मुख्य तीन ही सौर-चान्द्र-पार्थिव--तन्त्र हैं । सम्वत्सर-प्रजापति का मूलभूत प्रतिष्ठादण्ड यदि मध्यस्थ 'विष्वद्वृत्त' है, तो तत्प्रतिमानरूप मानव का मेरुदण्ड [रीढ की हड्डी] ही मानव के शरीर का प्रतिष्ठादण्ड बना हुआ है । सम्वत्सर का उत्तर पार्श्वरूप वामाङ्ग सोमप्रधान, तथा दक्षिण पार्श्वरूप दक्षिणाङ्ग ऋतसोम-ऋताग्नि प्रधान है, तो मानव के उत्तर-दक्षिणाङ्ग भी क्रमशः सोम, एवं अग्निप्रधान ही बने हुए हैं । सम्वत्सर के अग्निप्रधान दक्षिणार्द्ध-मण्डल में यदि अंशरूप २४ पर्शु हैं, तो अर्द्धवृगलात्मक-अग्निप्रधान आग्नेय पुरुषशरीर में भी मेरुदण्ड से समन्वित अंशस्थानीय २४ ही पर्शु ['फँसलियाँ'] हैं । सम्वत्सर अपने अर्द्ध उत्तर सौम्य-पत्नीभाव से २४ अंशों से, तथा अर्द्ध दक्षिण-आग्नेय-पतिभाव से ४८ अंशात्मक बना हुआ है सम्पूर्ण आकाशरूप से, तो अर्द्धवृगल-अर्द्धाकाश का प्रतिमान आग्नेयपुरुष, तथा अर्द्धवृगला अर्द्धकाश की प्रतिमानभूता सौम्या स्त्री, दोनों का समन्वित रूपात्मक पूर्ण स्वरूपात्मक मानव-मानवी का दाम्पत्यरूप भी अपने दोनों के २४-२४ पर्शुओं से सम्मिलित होकर पूर्णसम्वत्सर की प्रतिमा बना हुआ है ।

११५-मानवप्रजापति का सम्वत्सरप्रजापति से समतुलन, तदनुगत काममय दाम्पत्यभाव, तदुत्सवानुगता प्राकृतिक तिथि फाल्गुनी-पूर्णिमा, एवं तत्र समायोजित 'होलिकापर्व' रूप काममय 'सांस्कृतिक-आयोजन'—

अलमतिपल्लवितेन । सम्वत्सरयज्ञमण्डल के वे सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग-पर्व-आदि भाव सर्वात्मना मानव सर्ग में समन्वित हो रहे हैं । और यही इस पुरुष [मानव] की उस प्रजापति से नेदिष्ठता है, जिसके आधार पर **'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'--'यज्ञो वै पुरुषः'--'पुरुषो वै यज्ञः'** इत्यादि निगम-अनुगम-वचन प्रवृत्त हुए हैं । स्वयं सम्वत्सरप्रजापति [सौरपुरुष] चान्द्रपार्थिवरूप सौम्यभाव से दाम्पत्यकामानुगत बनते

हुए ही प्रजासर्ग के प्रवर्त्तक बनते हैं, जिस प्रवृत्ति का उपक्रम वसन्तऋतु की उपक्रम-तिथिरूपा फाल्गुनी-पूर्णिमा ही बनती है। अतएव सोमानुगत–अग्निजागरणात्मक इस पर्वतिथि को अवश्य ही **'काममहोत्सवात्मक दाम्पत्यमहोत्सव'** नाम से व्यवहृत किया जासकता है। अतएव ऐसे पुण्यावसर पर यदि ब्राह्मणदम्पती अग्न्याधानरूप से दाम्पत्योत्सव मनाते हैं, इतर प्रजावर्ग यदि भौतिक–अग्नि–जागरण–[**'होलिकोद्दीपन'**] के माध्यम से तत्पूजन–पूर्वक–काममहोत्सवानुगत दाम्पत्यमहोत्सव मनाते हैं, तो इस दाम्पत्यानुगता उत्सव-परायणता को अवश्य ही सम्वत्सरप्रजापतिरूप देवभावानुबन्ध से **'सांस्कृतिक-आयोजन'** कहा जासकता है, जब कि–धर्म्मविरुद्ध–कामचेष्टात्मक–अश्लीलभावानुबन्धी–उत्पथपथानुगामी–मानसिक–शारीरिक-मात्र, अतएव देव–धर्म्म–संस्कृति–भाववञ्चित इत्थंभूत वर्त्तमान उस विडम्बनापूर्ण आज के धूलिधूसरित–मलीमस होलिकाताण्डव को तो सर्वथा संस्कृतिविरुद्ध, हीन आयोजन ही कहा जायगा, जो दुर्भाग्यवश आज के मनःशरीरमात्रपरायण स्वतन्त्र भारत में तो तदाविध संस्कृति-विरुद्ध–आयोजन–भक्तों के कारण और भी अधिक नग्न–स्वरूप धारण करता जारहा है, इत्यालप्यालमेवेति विरम्यते पापकथाप्रसङ्गेन।

११६–दाम्पत्यमूलक इन्द्र, और पूषा–देवता, एवं तदनुप्राणित–मन्त्रोपवर्णित मिथुनभाव–

दाम्पत्य का मूल है इन्द्र, और पूषा का मिथुनभाव, जिस मिथुनभाव से–**'इन्द्रापूषणौ'** इस स्वतन्त्र द्यावापृथिव्य–मिथुनदेवता की स्वरूपनिष्पत्ति मानी गई है, जिसे विशेष यज्ञप्रक्रिया में हविः प्रदान की जाती है। सौर पुरुषात्मक प्राण ही 'इन्द्र' है, एवं पुष्टिप्रवर्त्तक पार्थिव सौम्यप्राण ही 'पूषन्', किंवा 'पूषा' है। **'सोमः, पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्। देवत्रा रथ्योर्हिता'** इत्यादि मन्त्रपठित सोमशब्द चन्द्रमा का, तथा पृथिवी शब्द भूपिण्डात्मिका पृथिवी का ही संग्राहक है। **'सम्पूर्ण पार्थिव चान्द्र प्रजासर्गों के योगक्षेम–निर्वाहोद्देश्य से ही चन्द्रमा (सोम), और पृथिवी (पूषा) अपने अपने देवप्राणात्मक दक्षवृत्त–क्रान्तिवृत्तात्मक रथों पर (सूर्य्य के चारों ओर) घूम रहे हैं' यही मन्त्राक्षरार्थ है।** निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र भी इसी पार्थिव–सौर–मिथुन देवता–इन्द्रापूषण के साथ मानव के सख्यभाव की कामना अभिव्यक्त कर रहा है—

इन्द्रापूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये॥ ऋक्सं० ८।५७।३।

११७–पार्थिव अर्णवसमुद्र में इतस्ततः दोलायमाना हिरण्मयी नौकाओं में प्रतिष्ठित सौर इन्द्र, पार्थिव पूषारूप–दम्पती का जलविहार (नौकाविहार), और मन्त्रश्रुति—

'इयं वै पृथिवी पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति–यदिदं किञ्च' (शत० १४।१।२।२५।) इत्यादि श्रुतिसिद्ध पार्थिव रजोयुक्त **योषाप्राण** ही पूषा है, जबकि–**'इन्द्रो वै वृषा'** (ताण्ड्यब्रा० ६।४।३) के अनुसार सौर इन्द्रप्राण ही वृषाप्राण बन रहा है। योषाप्राणरूप पूषा इस दृष्टि से स्त्रीभाव है, एवं–वृषाप्राण-रूप इन्द्र पुम्भाव है। दोनों का दाम्पत्यभाव ही द्यावा–पृथिव्या मानवादि–प्रजा का प्रवर्त्तक है, जिस प्रवृत्ति का मूल सूर्य्यकेन्द्रस्थ प्राजापत्य कामभाव ही बना हुआ है। द्यावापृथिवीरूपा रोदसी–त्रिलोकी का प्राणरूप-आपोमय

समुद्र ही अर्णवसमुद्र कहलाया है, जिस समुद्र में शिशुवत् सूर्य्य–चन्द्रमारूप पक्षी ही मानों क्रीड़ा कर रहे हैं* । 'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि यजुःश्रुति भी इसी तथ्य का समर्थन कर रही है । इस अर्णव समुद्र में प्रतिष्ठित वृषेन्द्रप्राणात्मक–सूर्य्यप्रजापति किस माध्यम से पार्थिवपूषा, तथा चान्द्रसोमरूप योषा से दाम्पत्यभाव प्राप्त करते हैं ?, प्रश्न का उत्तर है–'सुवर्णनौकाएँ' । सौर तेज हिरण्मय माना गया है सावित्राग्नि के सम्बन्ध से । अतएव सम्वत्सररूप कान्तिवृत्तात्मक रथ हिरण्मय रथ माना गया है÷। अर्णवसमुद्र में सौर हिरण्मयी रश्मियाँ प्राणदपानत् ('अस्य प्राणदपानती') रूपेण उसीप्रकार सन्तरण कर रही हैं, जैसे कि किसी सरोवर–समुद्र–में नौकाएँ इतस्ततः झोंके लेती हुई विचरण करतीं रहतीं हैं । उच्चा–वचभावेन सर्पण करतीं हुईं–तरण करतीं हुईं ये हिरण्मयी सौरप्राणात्मिका रश्मियाँ हीं वे नौकाएँ हैं, जिनके साथ पार्थिव प्राणरश्मिरूप–पूषा का सम्बन्ध हो रहा है । पूषाप्राणघन स्वयं भूपिण्ड वह पत्नी है, जिसके रज में वसन्तसम्पातोपलक्षिता फाल्गुनीपूर्णिमा तिथि को सौर वृषारूप ऐन्द्राग्नमधुरूप शुक्र का आधान होने वाला है.। सूर्य्यप्रजापति की इस कामना की पूर्ति के लिए ही मानों पार्थिव–पूषाप्राणरश्मियाँ दौत्यकर्म कर रहीं हैं इस मिथुनभाव–सम्पादन के लिए । उस ओर से इस ओर आने जाने वाली–प्राणदपान–द्धर्म्मा हिरण्मयी सौररश्मियों के साथ समन्विता पार्थिव–पूषाप्राणरश्मियाँ हीं काममूलक इस मिथुनेच्छाकर्म्म की स्वरूपसम्पादिका हैं, जिस इस प्रकृतिसिद्ध काममूलक मिथुनभाव का ही इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है कि—

यास्ते पूषन्–नावो अन्तःसमुद्रे हिरण्मयीरन्तरिक्षे चरन्ति ।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्य्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः ॥ —ऋक्सं० ६।५८।३।

११८–सौर महादेव, पृथिवीपुत्र गणपति की माता पार्वती, सवत्सा पार्वती का द्यावा–पृथिव्य फाल्गुनीय महामहोत्सव, एवं तदाधारेण निदानविधि से समायोजित–गणपतिगौरी (गणगोर) महोत्सव का पावन संस्मरण—

मानवादि पार्थिवसर्ग के अधिष्ठाता सम्वत्सरप्रजापति ही अपने विश्वकेन्द्रधर्म्म से षोडशीप्रजापति बन रहे हैं, जिनका पूर्वप्रकरणों–परिच्छेदों में अनेकधा यशोगान हो चुका है । सौरमण्डलाध्यक्ष–अक्षमूर्त्ति–अक्षरप्रधान–षोड़शीलक्षण सम्वत्सरप्रजापति ही अपनी अग्निचितिसे रुद्र हैं एवं ये ही सोमसम्बन्धेन साम्बसदाशिव हैं, जिनकी चान्द्री-पार्थिवी सौम्या शक्ति ही जगन्माता जगदम्बा वह वासन्ती-पार्वती हैं, जो आज पार्थिव-समृद्धिरूप पुत्र से समन्विता होतीं हुईं 'सवत्सा–पार्वती' नाम से प्रसिद्ध होगईं हैं । आगमतत्त्ववेत्ता जानते हैं कि, सुप्रसिद्ध गणपतितत्त्व का (उच्छिष्टगणपतितत्त्व का) प्रधान स्वरूप पार्थिव–अपानप्राण से ही सम्बद्ध है, जैसाकि आगमीय–पार्थिव–मूलग्रन्थिरूपा बस्तिगुहा से अनुगत गाणपत्यप्राणस्वरूप से स्पष्ट है आगम–

---

* पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यन्तो अध्वरम् (सम्वत्सरम) ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूरन्यो विदधज्जायते पुनः (चन्द्रमाः) ॥
—ऋक्सं० १०।८५।१८।

÷ हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् (यजुःसंहिता) ।

सम्प्रदाय में। स्वयम्भू ब्रह्मा की साक्षी से ही सौर षोडशीप्रजापति के प्रतिरूप विश्वेश्वर-ईश्वर-महादेव-रुद्रभगवान् का पार्थिवी पार्वतीरूपा महाशक्ति के साथ दाम्पत्य होता है। इसी शिवशक्तिरूप अग्नि–सोम–समन्वय से गणपति प्रादुर्भूत होते हैं। इसी तथ्य के संस्मरणोपासन–अर्चन–पूजनके लिए परमभाग्यशाली राजस्थान की परम–भाग्यवती–सौभाग्यवती गृहदेवियाँ, तथा कन्याएँ फाल्गुनी–पूर्णिमा के समिद्ध अग्निकुण्ड में से ही भस्मग्रहण कर उनकी पार्थिव प्रतिमाएँ बना कर इन्हें नैदानिक–शिवशक्तिरूप **'ईश्वर'** (**ईसर**), एवं **'गणपतिगौरी (गणगोर)'** का स्वरूप प्रदान कर निरन्तर १६ दिवस–पर्य्यन्त षोडशीप्रजापति के सान्निध्य में सौभाग्य–सन्तति-प्रदात्री माता पार्वती की ही आराधना करतीं रहतीं हैं, जिस इस सांस्कृतिक पुण्यतम–धन्यतम–यशस्यतम–महामहनीय-शिवशक्त्याराधनात्मक आयोजन का 'सम्मेलनात्मक' सांस्कृतिक आयोजनसे ही सम्बन्ध माना जायगा, जिसे हमने **'पारिवारिक–आयोजन'** कहा है*।

११९-रहस्यपूर्ण मानवीय दाम्पत्यस्वरूप का उपक्रम, एवं तदनुन्धी 'स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुँस आहुः' इत्यादि मन्त्र की स्वरूपदिशा—

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन। अब उस मानवीय दाम्पत्ययुग्म का चिरन्तन इतिवृत्त उपक्रान्त होरहा है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा दाम्पत्यरूप वे सम्वत्सरप्रजापति ही बने हुए हैं, जिनका अनेक दृष्टि–प्रसङ्गों से अबतक संस्मरण हुआ है। मानवीय दाम्पत्य के अर्द्ध-अर्द्ध–युगलात्मक दोनों सम्वत्सरखण्ड क्रमशः लोक में–पुरुष, स्त्री–नाम से प्रसिद्ध हैं। क्या स्वरूप है पुरुष का ?, एवं क्या व्याख्या है 'स्त्री' शब्द की ?, इस रहस्यपूर्ण-प्रश्न के सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त होगा कि, **वृषाप्राणात्मक-इन्द्रप्राण से समन्वित 'अग्नि' का नाम है पुरुष, एवं योषाप्राणात्मक–पार्थिवपूषाप्राण से समन्वित 'सोम' का नाम है स्त्री।** इस सम्बन्ध में सम्वत्सरविद्या के रहस्यवेत्ता भगवान् दीर्घतमा–महर्षि के सुप्रसिद्ध 'अस्यवामीयसूक्त' के एक मन्त्रविशेष की ओर ही विशेषरूप से हम उन पुरुषों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे, जिन्हें दम्भ तो है पुरुष-पने का, किन्तु दीर्घतमा महर्षि की दृष्टि से जो पुरुषनामधारी मानव हैं वास्तव में स्त्रियाँ हीं। श्रूयताम् !

> **स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।**
> **कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥**
>
> —ऋक्सं० १।१६४।१६

१२०-मन्त्रपूर्वभाग का अक्षरार्थ-समन्वय—

मन्त्र के अक्षरार्थमात्र के समन्वय के लिए भी एक स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है, जो **'अस्यवामीयसूक्त के कतिपय मन्त्र'** नामक निबन्ध से गतार्थ है। प्रकृत में केवल मन्त्र के पूर्वार्द्ध के सामान्य-अक्षरार्थ का ही समन्वयाभास व्यक्त हो रहा है। (**"जो वस्तुतः स्त्रियाँ हैं, पुरुष नहीं हैं) उन 'स्त्री' बने रहने**

* निबन्ध इन चार पर्वों के दिग्दर्शन में ही बहु–विस्तृत होगया है। अतएव सम्भवतः अब इसमें पर्वात्मक राष्ट्रीय–सांस्कृतिक आयोजनों के अतिरिक्त शेष उत्सव–सम्मेलन–समारोह–नामक–तीन सांस्कृतिक–आयोजनों का समन्वय न होसकेगा। अतएव यहाँ प्रसङ्गवश सम्मेलनात्मक–आयोजन का माङ्गलिक संस्मरण–मात्र कर लिया गया है।

वालों को ही लौकिक मानव व्यवहार में 'पुरुष' नाम से व्यवहृत करते जा रहे हैं। जबकि जिन्हें पुरुष कहा जा रहा है–वे वास्तव में स्त्रियाँ हीं हैं। किन्तु इस तथ्य को आँख वाला ही जान सकता है। अन्धा कभी नहीं जान सकता इस रहस्य को कि–(पुरुष वास्तव में स्त्रियाँ हीं हैं)" यही है सामान्याक्षरार्थ मन्त्र के पूर्वभाग का।

१२१-आग्नेय-शरीरी पुरुष की पुरुष–अभिधा का, तथा सौम्यशरीरिणी स्त्री की–'स्त्री' अभिधा का प्रथम दृष्टिकोणात्मक प्रत्यक्षदृष्ट लोकसमन्वय —

सोमगर्भित अग्नि से पुरुष के शरीर का निर्म्माण होता है, एवं अग्निगर्भित सोम से स्त्री के शरीर का निर्म्माण होता है। वृषाप्राणात्मक अग्नितत्त्व ही 'पुरुष' की स्वरूप–व्याख्या है, एवं योषाप्राणात्मक सोमतत्त्व ही 'स्त्री' की स्वरूप–व्याख्या है। सौराग्निप्रधान दृश्य–अहरनुगत आग्नेय–अर्द्धसम्वत्सर से आग्नेय पुरुष के शरीर की, तथा चान्द्रसोमप्रधान, अदृश्य-रात्र्यनुगत-सौम्य–अर्द्धसम्वत्सर से सौम्या स्त्री की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है। अतएव स्त्री वामा–उत्तरा–सौम्या कहलाई है, जब कि पुरुष दक्षिण–दक्ष आग्नेय-माना गया है। जहाँतक पुरुष, और स्त्री के शरीर का प्रश्न है, उस सीमापर्य्यन्त तो अवश्य ही आग्नेय–शरीरी पुरुष 'पुरुष' ही है, एवं सौम्यशरीरिणी स्त्री 'स्त्री' ही है। किन्तु………… ?

१२२–द्वितीय दृष्टिकोण से 'पुरुष' की स्त्री संज्ञा का, तथा स्त्री की 'पुरुष' संज्ञा का रहस्यपूर्ण समन्वय—

किन्तु ? की व्यञ्जना यही है कि, केवल बाह्य–भूतदृष्टि से ही भारतीय–सांस्कृतिक–जगत् के तो किसी भी निर्णय को नैष्ठिकता प्राप्त नहीं हो सकती तबतक, जबतक कि प्रत्यक्षदृष्ट–श्रुत–उपवर्णित–बाह्य भूतसंस्थान के प्रतिष्ठारूप मूलस्वरूप का निर्णय नहीं कर लिया जाता। जब हम इस सूक्ष्मा–आभ्यन्तरप्रतिष्ठा का विचार आरम्भ करने लग पड़ते हैं, तो सहसा पुरुष, और स्त्री के नामव्यवहारों में किन्तु–परन्तु–समाविष्ट हो ही जाता है। पुरुष शरीरतः भूताग्निप्रधान है, अतएव यह प्रत्यक्षाकार में (आकृति में) पुरुष नाम का भी अधिकारी है भूताग्निदृष्ट्या। किन्तु इस की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है वह 'शुक्रतत्त्व', जो सोमप्रधान है। भुक्तान्न शारीरिक भूताग्नि से सम्बद्ध होकर अग्निसम्बद्धा विशकलनप्रक्रिया से क्रमशः **रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा-शुक्र**-इन सात धातुद्रव्यों में परिणित हो जाता हैं, जिनमें सातवाँ अन्तिम पार्थिव–शेषधातु ही 'शुक्र' माना गया है। यही 'शुक्र' अग्निशरीरी पुरुष की आभ्यन्तर–प्रतिष्ठा है, और यही पुरुष का 'पुरुषत्त्व' है। शुक्ररक्षण से ही पुरुषस्वरूप की रक्षा है, एवं शुक्रक्षय से सर्वनाश। अतएव अब हम 'शुक्र' को ही वास्तविक 'पुरुष' कहेंगे। क्या इस 'शुक्र' को 'पुरुष' कहना ठीक होगा ?। कदापि नहीं। क्योंकि जो चान्द्रसोम पञ्चाग्निविद्या–क्रमानुसार पार्थिव अन्न बना है, वही विशकलित होकर अन्त में–'शुक्र' रूप से शेष रहता है, जोकि मानव की 'मूलप्रकृति' बना हुआ है। परिभाषा कहती है–सोमतत्त्व योषात्वेन स्त्री है, पुरुष नहीं। अतएव 'शुक्र' को 'पुरुष' न कह कर 'स्त्री' ही कहना तत्त्वसम्मत होगा। यही क्योंकि पुरुष की मूलप्रकृति है, मूलप्रतिष्ठा है। अतएव शरीरतः भूताग्निदृष्टि से 'पुरुष' पने का [पुरुषत्त्व का] दम्भ रखता हुआ भी पुरुष इस मूलप्रकृतिरूप शुक्रानुग्रह से 'स्त्री' की उपाधि से ही समलङ्कृत हो रहा है। **और यों यच्च-याववत् पुरुष, जो धरातल पर वक्षस्थल को उन्नत किए हुए घूम रहे हैं, वे स्त्रियाँ हीं निर्लज्जतापूर्वक परिभ्रमण कर रहीं हैं, इति नु होलिकापर्वानुगतं किञ्चिदिव मानसविलासनर्त्तनं–विनोदात्मकम्।**

१२३–स्त्री का पुरुषत्त्व, पुरुष का स्त्रीत्व, प्रजनयिता अत्रिप्राण, नारी का उग्रतम 'महा-काली' स्वरूप, एवं तदाराधना से विश्वशान्ति—

अब 'स्त्री' के स्वरूप को लक्ष्य बनाइए। स्त्री सौम्यशरीरापेक्षया अवश्य ही 'स्त्री' है। 'स्त्री' ही रहेगी यावच्चन्द्रदिवाकरौ। कदापि वह इस दृष्टि से अपने वामधर्म्म का अतिक्रमण कर ही नहीं सकती। किन्तु !! स्त्री की मूलप्रतिष्ठात्मिका मूलप्रकृति माना गया है–'शोणिततत्त्व' (असृक्-रुधिर), जिसमें मलीमस-धामच्छद अनृतभावापन्न–अत्रिप्राण समाविष्ट रहता है, जिससे अमुक अवस्था–दिवसों (ऋतुकाल) में स्त्री–'आत्रेयी' नाम से प्रसिद्ध हुई है निगमशास्त्र में। प्रजनयिता अत्रिप्राण से ही स्त्री के शोणित में प्रजननधर्म्म का उदय होता है। जिसप्रकार शुक्र सौम्य है, तथैव ठीक इसके विपरीत शोणित आग्नेय है। आग्नेय शोणित ही जब स्त्री का स्त्रीत्व है, अग्नितत्त्व ही जब 'पुरुष' है, तो इस शोणित तत्त्व को कैसे 'स्त्री' कहा जा सकता है। अवश्य-मेव इसे इस मूलप्रकृति की अपेक्षा-(शरीरतः सौम्या स्त्री रहने पर भी) पुरुष ही कहा जायगा। और सम्पूर्ण स्त्रियों को इस दृष्टि से 'पुरुष' अभिधा से ही व्यवहृत किया जायगा। इसी मूलप्रकृतिभाव के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही ऋषिने **'स्त्रियः सतीस्ताँ'** इत्यादि कहा है। स्थूलभूत–दृष्टि से पुरुष–स्त्री नाम से प्रत्यक्ष–दृष्ट्या प्रसिद्ध मानव–मानवी सूक्ष्मभूतदृष्टि से स्त्री–पुरुष ही प्रमाणित हो रहे हैं, जिसका लोकभाषा में समझने मात्र के लिए इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि,—**"पुरुष अपने आग्नेय शरीर से जहाँ रूक्ष है, कर्कश है, वहाँ अपनी शुक्ररूपा मूलप्रकृति की दृष्टि से उसी अनुपात से स्निग्ध है, मृदु है, भीरु है। एवमेव स्त्री अपने सौम्य शरीर से जिस अनुपात से स्निग्धा है, सौम्या है, मृद्वी है, उसी अनुपात से अपनी शोणितरूपा मूलप्रकृति के अनुग्रह से रूक्षा है, कर्कशा है, पिशुना है, अभया है। यही इसका वह प्रचण्ड रौद्र–'महाकाली' स्वरूप है। जबकि मानव के, हाँ एकमात्र मानव के ही प्रज्ञापराध से नारी के इस 'रुद्र' रूप पर आघात हो जाता है, तो शरीरतः सौम्या भी नारी का वह सूक्ष्म रुद्ररूप जागरूक हो पड़ता है, जिससे परिवार–समाज–राष्ट्र, किंबहुना सम्पूर्ण विश्व ही क्षुब्ध हो पड़ता है। अतएव सदा ही इस महाशक्ति को तुष्ट-तृप्त–सुशान्त रखते हुए इसके आशीर्वाद की ही कामना प्रक्रान्त रखनी चाहिए जरामर्य्य–सत्त्रवत्–जीवनपर्य्यन्त।**

१२४–तृतीय दृष्टिकोण से पुनः 'पुरुष' अभिधा का, तथा स्त्री की 'स्त्री' अभिधा का पुंभ्रूण-स्त्रीभ्रूण–माध्यम से संरक्षण-प्रयास—

तत्त्वदृष्टि अभी सर्वात्मना उपशान्त नहीं हुई। आकृति, प्रकृति ही वस्तु का सर्वस्वरूप नहीं है। अपितु त्रिगुणात्मिका–महत्प्रकृति का अभी एक पर्व और शेष है,–जिसे **'अहम्'** कहा गया है, एवं दर्शन–भाषा में जिसे **'चेतनामयी–अहङ्कृति'** माना गया है। आकृति का जहाँ स्थूलभूत से सम्बन्ध है, प्रकृति का जहाँ सूक्ष्मभूत से सम्बन्ध है, वहाँ अहङ्कृति का सुसूक्ष्म प्राणात्मा से ही सम्बन्ध माना गया है। और अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति–तीनों के समन्वयानन्तर जो अन्तिम–अहङ्कृतिमूलक–निष्कर्ष निकलता है, वही सिद्धान्त पक्ष माना गया है सृष्टिविज्ञान–प्रसङ्ग–धाराओं में।

पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि–परमेष्ठी–प्रजापति से समन्विता महत्–प्रकृति ही क्रमशः सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्ड–के सम्बन्ध से **अहङ्कृति–प्रकृति–आकृति**–भावों की अधिष्ठात्री–प्रवर्त्तिका बनी हुई है।

इसीलिए भूतभाव पार्थिव–आकृतिभूत, चान्द्रप्रकृतिभूत, सौरअहङ्कृतिभूत–भेद से तीन विवर्त्त भावों में परिणत हो जाता है, हो रहा है। तीनों में अहङ्कृतिरूप सौरभूत प्राणप्रधान है, प्रकृतिरूप चाद्रभूत सूक्ष्मभूतप्रधान है, एवं आकृतिरूप पार्थिव भूत स्थूलभूतप्रधान है। तीनों हीं भूततन्त्र स्वतन्त्र–स्वतन्त्र–सम्वत्सरों से अनुप्राणित हैं, जो क्रमशः सौर–चान्द्र–पार्थिव–सम्वत्सर नामों से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सम्वत्सर (तीनों हीं सम्वत्सर) अग्नीषोमात्मक हैं। अतएव तीनों हीं योषावृषात्मक–दाम्पत्यभाव से–स्त्रीपुं-भावों से समन्वित हैं। अवधानपूर्वक महत्प्रकृति की इस विस्तारत्रयी को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। तभी स्त्रीपुम्भावानुगता समस्या का सैद्धान्तिक निर्णय सम्भव बन सकेगा।

स्वायम्भुवे अव्यक्तब्रह्मणि प्रतिष्ठिता–सुब्रह्मपरमेष्ठिरूपा महत्प्रकृतिः।

(पारमेष्ठ्यब्रह्माण्डमिदम्)

ततः

सौरब्रह्माण्डाविर्भावः–पमेष्ठिमण्डले महद्गर्भे

तत्र च–त्रीणि मण्डलानि समाविष्टानि

एकः सन्नेतत् त्रयम् | आत्मा उ | त्रयं सद्यमेक आत्मा

१–सूर्य्यः— अहङ्कृतिमह्युक्तः—(प्राणप्रधानं सौरसम्वत्सरमण्डलम्)= अग्नीषोमात्मकम्

२–चन्द्रमाः— प्रकृतिमह्युक्तः— (सूक्ष्मभूतप्रधानं चान्द्रसम्वत्सरमण्डलं)— अग्नीषोमात्मकम्

३–भूपिण्डः— आकृतिमह्युक्तः— (स्थूलभूतप्रधानं, पार्थिवसम्वसरमण्डलम्)— अग्नीषोमात्मकम्

१२५--स्त्री–पुम्भ्रूणानुगत--औपपातिक--कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा, एवं प्रथम, तथा तृतीय-दृष्टिकोण का समन्वय—

सौरसम्वत्सर में प्रतिष्ठित प्राणात्मक अग्नि–सोम ही मानव–मानवी के 'अहंकृति' रूप आत्मभाव की प्रतिष्ठा बनते हैं। जिनमें से प्राणसोमगर्भित प्राणाग्नि तो मानव की 'अहंकृति' बनता है, एवं प्राणाग्निगर्भित प्राणसोम मानवी की अहंकृति (आत्मा) बनता है। आग्नेयप्राणप्रधान–अहंकृति–भावात्मक भूतात्मभाव का पारिभाषिक नाम है—'पुम्भ्रूण', एवं सौम्यप्राणप्रधान—अहंकृतिभावात्मक भूतात्मभाव का पारिभाषिक नाम है 'स्त्रीभ्रूण'। आत्मभावलक्षण इन चिन्मय भ्रूणों को ही **'औपपातिक-कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा'** कहा है जीवस्वरूपविज्ञानवेत्ताओंनें, जो शुक्रशोणित के दाम्पत्य में यथाकर्म्म–यथाविद्य प्रविष्ट हुआ करते हैं कर्म्मभोगार्थ। पुम्भ्रूण 'पुरुष' सृष्टि का, तथा स्त्रीभ्रूण स्त्रीसृष्टि का मूलप्रवर्त्तक बनता है। दोनों क्रमशः आग्नेय—सौम्य–प्राणप्रधान बनते हुए **पुरुष**, और **स्त्री** नामों के ही अधिकारी हैं। एवं यही प्रथम–प्रमुख–पक्ष है।

१२६–चान्द्रसम्वत्सरानुवन्धी–प्रकृतिभावनिबन्धन–शुक्रशोणितानुगत–प्रतिष्ठाभाव, एवं द्वितीय पक्ष (द्वितीय दृष्टिकोण) का समन्वय—

अब दूसरे चान्द्रसम्वत्सर को लक्ष्य बनाइए। **'विचक्षणाद्रेतो ऋतव आभृतम्'** इत्यादि औपनिषद्वचन के अनुसार, तथा–**'तद्रेतसोऽसृजत। तदु सोम एव'** (शत०१४।४।२।१३) इत्यादि ब्राह्मणवचन के अनुसार चान्द्रसम्वत्सर में प्राथम्य, एवं प्राधान्य सोम का है। द्वितीय, एवं गौणस्थान अग्नि का है।

जैसा छन्द मूल में बन चुका है पुं-स्त्री-भावों का, उसी अनुपात से, क्रम से आगे के द्वन्द्व प्रतिष्ठित होते चले जायँगे। प्रथम-सौर-द्वन्द्व में (सौर अग्नि के कारण) प्राथम्य, एवं प्राधान्य आग्नेयप्राणात्मक पुम्भ्रूण का था, द्वितीय तथा गौणस्थान सौम्यप्राणात्मक स्त्रीभ्रूण का था, ये ही उस प्रथमयुग्म के पुरुष, और स्त्री-नामक मूलभाव थे। अब चन्द्रमा में चन्द्रमा के सोम की प्रधानता से चान्द्रसम्वत्सर में-चान्द्रसोम की प्रधानता से सूक्ष्म सोमभूत बन गया प्रथम तथा प्रधान, एवं सूक्ष्म अग्निभूत बन गया द्वितीय, तथा गौण। दोनों का उसी अनुपात से आग्नेय पुम्भ्रूण-सौम्य स्त्रीभ्रूणों से क्रमिक सम्बन्ध हो गया। फल यह निकला कि, आग्नेय प्राणरूप-प्रथम-प्रधान-पुंभ्रूणरूप पुरुषछन्द में प्रथम-प्रधान बना हुआ सूक्ष्मसोम-भूतात्मक स्त्री-भाव प्रतिष्ठित होगया, एवं सौम्यप्राणरूप द्वितीय-गौण-स्त्रीभ्रूणरूप स्त्रीछन्द में द्वितीय-गौण-बना हुआ सूक्ष्म अग्निभूतात्मक पुरुषभाव प्रतिष्ठित हो गया। फलतः इस द्वितीय-प्रकृतिभावनिबन्धन-सूक्ष्मभूतात्मक चान्द्रसम्वत्सरप्रक्रम में पुरुषछन्द स्त्री [सोम] से, तथा स्त्रीछन्द पुरुष [अग्नि] से छन्दित हो गया, जो ये दोनों छन्दित चान्द्र-सोम-अग्नि ही [सूक्ष्मभूत ही] अध्यात्मपरिभाषानुबन्ध से **'शुक्र-शोणित'** नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इसी मध्य-चान्द्र-प्राकृत-प्रक्रम में पुरुष स्त्री बन गया, एवं स्त्री पुरुषरूप में परिणत होगई।

१२७-पार्थिवसम्वत्सरानुबन्धी-आकृतिभावनिबन्धन-आग्नेय-सौम्य-शरीरानुगत भूत-भाव, एवं तृतीय पक्ष का समन्वय—

अब शेष रह गया पार्थिवसम्वत्सर। **'यथाग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** के अनुसार सूर्य्य का उपग्रहभूत-भूपिण्ड गायत्राग्निप्रधान ही माना गया है। अतएव सावित्राग्नि-प्रधान सौर-सम्वत्सरवत् गायत्राग्निप्रधान पार्थिवसम्वत्सर में भी भूताग्नि का प्राथम्य, तथा प्रधानत्त्व, एवं भूतसोम (ओषधिरूप अन्नसोम) का द्वितीयत्त्व, तथा गौणत्त्व स्वतः एवं प्रमाणित हो जाता है, जो भूताग्नि-भूतसोम महत्प्रकृति-आकृतिभाव से ही अनुप्राणित है। इसी गौण-प्राधान्यानुबन्ध से प्रथम, तथा प्रधान बना हुआ भूताग्नि तो शुक्र के साथ समन्वित हो कर शुक्रप्रकृतिरूप पुरुष का भौतिक शरीर बन जाता है, एवं द्वितीय, तथा गौण बना हुआ भूतसोम शोणित के साथ समन्वित होकर शोणितप्रकृतिरूपा स्त्री का भौतिक शरीर बन जाता है। और यों महत्प्रकृति के आकृतिभाव-निबन्धन तीसरे पार्थिव-सम्वत्सर-प्रक्रम में शुक्ररूपेण स्त्रीभाव में परिणत पुरुष शरीरतः पुरुष बन जाता है, एवं शोणितरूपेण पुरुषभाव में परिणता स्त्री शरीरतः स्त्री बन जाती है।

१२८--अग्नीषोमात्मक द्वन्द्वों का तीन विवर्त्तों से अनुप्राणित समष्ट्यात्मक तीनों पक्षों का तात्त्विक-समन्वय---

इसप्रकार सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरों से अनुप्राणित, अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति-भावत्रय-निबन्धन महत्प्रकृतितत्त्व के तीन विवर्त्तभावों के क्रमिक अनुपात से सम्बन्ध रखने वाले **अग्नि-सोम, सोम-अग्नि, अग्नि-सोम**-रूप आग्नेयप्राणात्मक-अहङ्कृतिभावनिबन्धन **सौरपुम्भ्रूणात्मक पुरुष भाव**, सौम्यप्राणात्मक-अहङ्कृतिभावनिबन्धन **सौरस्त्रीभ्रूणात्मक स्त्रीभाव**,-सूक्ष्म सोमभूतात्मक-प्रकृति-भावनिबन्धन **चान्द्रशुक्रात्मक स्त्रीभाव**, सूक्ष्माग्निभूतात्मक-प्रकृतिभावनिबन्धन-**चाद्रशोणितात्मक पुरुष भाव**, तथा स्थूलभूताग्निलक्षण-आकृतिभावनिबन्धन-**पार्थिवयजुष्मत्येष्टकात्मक पुरुषभाव**, स्थूलभूतसोम-लक्षण आकृतिभावनिबन्धन-पार्थिव **परिश्रितेष्टकात्मक स्त्रीभाव**, इन तीन द्वन्द्वों से समन्वित पुरुष-(मानव)

स्त्री (मानवी) युग्म के क्रमशः **पुरुष-स्त्री, स्त्री-पुरुष, पुरुष-स्त्री**, सूक्ष्मतर-सूक्ष्म-स्थूल-भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। प्रथम सूक्ष्मतर विवर्त में **पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है**। दूसरे सूक्ष्मविवर्त में **पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है**। एवं अन्त के तीसरे विवर्त में पुनः **पुरुष-पुरुष है, स्त्री-स्त्री है**। दूसरे शब्दों में अहङ्कृतिरूप आत्मभाव से पुरुष, पुरुष ही है, स्त्री स्त्री ही है। प्रकृतिरूप सूक्ष्मशरीरभाव से पुरुष स्त्री है, तो स्त्री पुरुष है। एवं आकृतिरूप स्थूलशरीर से पुनः पुरुष पुरुष ही है, तो स्त्री स्त्री ही है। और इस साम्वत्सरिक अनुपात के माध्यम से, 'प्रकृति' भावानुबन्ध से श्रुति के-'**स्त्रियः-सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः**' इत्यादि पूर्वभाग का समन्वय हो रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है। अवधानपूर्वक परिलेख को लक्ष्य बनाइए, क्योंकि इसी के माध्यम से एक अन्य प्रासङ्गिक लक्ष्य का दिग्दर्शन और अभीष्ट है।

सोऽयं त्रिचक्रात्मकः—सम्वत्सरप्रजापतिः	अग्नीषोमौ सूर्यसंस्था	१–सौम्यप्राणगर्भितः–आग्नेयप्राणः (अग्निः सौरः)–प्रथमो मुख्यश्च (१) २–आग्नेप्राणगर्भितः–सौम्यप्राणः (सोमः सौरः)–द्वितीयो गौणश्च (१)	सौरसम्वत्सर–मण्डलम्
	सोमाग्नी चन्द्रसंस्था	१–सूक्ष्माग्निगर्भितः–सूक्ष्मसोमः (सोमश्चान्द्रः)–प्रथमो मुख्यश्च (२) २–सूक्ष्मसोमगर्भितः–सूक्ष्माग्निः (अग्निश्चान्द्रः)–द्वितीयो गौणश्च (२)	चान्द्रसम्वत्सर–मण्डलम्
	अग्नीषोमौ पृथिविसंस्था	१–स्थूलसोमगर्भितः–भूताग्निः (अग्निः पार्थिवः)–प्रथमो मुख्यश्च (३) २–स्थूलाग्निगर्भितः–भूतसोमः (सोमः पार्थिवः)–द्वितीयो गौणश्च (३)	पार्थिवसम्वत्सर–मण्डलम्

१	सौर-दम्पती सूर्यः	१–अहङ्कृतिभावात्मकः–वृषाभावः—सौरसम्वत्सरानुगतः–पतिश्च २–अहङ्कृतिभावात्मकः–योषाभावः—सौरसम्वत्सरानुगता–पत्नी च	प्राणप्रजापतिः	त्रिमूर्तित्रिचक्रात्मकः—सम्वत्सरप्रजापतिः
२	चान्द्र-दम्पती चन्द्रमाः	१–प्रकृतिभावात्मकः—सौम्यभावः–चान्द्रसम्वत्सरानुगता-पत्नी च २–प्रकृतिभावात्मकः—आग्नेयभावः-चान्द्रसम्वत्सरानुगतः–पतिश्च	उभयप्रजापतिः	
३	पार्थिव-दम्पती पृथिवी	१–आकृतिभावात्मकः—अग्निचितिभावः-पार्थिवसम्वत्सरानुगतः-पतिश्च २–आकृतिभावात्मकः–सोमचितिभावः–पार्थिवसम्वत्सरानुगता-पत्नी च	भूतप्रजापतिः	

— इति नु–अधिदैवतम् —

अथाध्यातमम् (मानवसंस्था)—

१—प्राणप्रजापतिरूपेण सूर्य्येण—अहङ्कृतिभावस्योदयः-सोऽयं मानवः, सेयं मानवी

२—उभयप्रजापतिरूपेण चन्द्रेण-प्रकृतिभावस्योदयः—सेयं मानवी, सोऽयं यानवः

३—भूतप्रजापतिरूपेण पार्थिवेन—आकृतिभावस्योदयः—सोऽयं मानवः, सेयं मानवी

—*—

अहङ्कृतिदम्पती	सौरवृषाभावेन——मानवे—पुम्भ्रूणोदयः—मानवोऽयं—मानवः सौरयोषाभावेन——मानव्यां—स्त्रीभ्रूणोदयः—मानवीयं मानवी	—१	त्रिमूर्त्तिर्मानवप्रजापतिः
प्रकृतिदम्पती	चान्द्रसौम्यभावेन——मानवे—शुक्रोदयः——मानवोऽयं—मानवीयरूपः चान्द्रआग्नेयभावेन——मानव्यां—शोणितोदयः—मानवीयं——मानवीरूपा	—२	
आकृतिदम्पती	पार्थिवाग्निचितिभावेन—मानवे—आग्नेयशरीरोदयः-मानवोऽयं—मानवः पार्थिवसोमचितिभावेन—मानव्यां—सौम्यशरीरोदयः—मानवीयं——मानवी	—३	

इतिन्वध्यात्मम्

—*—

१२९—क्रान्तिवृत्त की दीर्घवृत्तता, एवं तदनुगत त्रिकेन्द्रात्मक सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्वत्सरचक्रों का अतिमानसम्बन्ध—

सम्वत्सररूप क्रान्तिवृत्त को दीर्घवृत्त इसलिए कहा जाता है कि, इस में तीन केन्द्र प्रतिष्ठित हैं । क्या तात्पर्य्य है इन तीन केन्द्रों का ? । तीन वृत्त समानलम्बन-रेखा से समन्वित कर दीजिए । अनन्तर तीनों वृत्तों की परिधियों के समन्वय से एक स्वतन्त्र वृत्त बना डालिए । वही दीर्घवृत्तात्मक अण्डवृत्त बन जायगा । सौर-चान्द्र-पार्थिव-मण्डल ही वे तीन सम्वत्सरवृत्त हैं, जिन इन तीनों वृत्तों के तीनों केन्द्रों के

समन्वय से ही त्रिकेन्द्रात्मक सम्वत्सररूप क्रान्तिवृत्तलक्षण–अरडवृत्त का उद्गम हुआ है, जैसाकि–'**त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः**' (ऋक्सं० १।१६४।२) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। पार्थिव–चान्द्र–सम्वत्सर–चक्रों को स्वमहिमामण्डलात्मक बृहत्साममण्डल में भुक्त रखने वाले सौर सम्वत्सर-प्रजापति ही अपने इस त्रिनाभि–अजर अनर्व–सम्वत्सरचक्र से सौर–चान्द्र–पार्थिव–रूप समस्त भुवनों को धारण किए हुए हैं। यही सौरब्रह्माण्डलक्षण 'ब्रह्माण्ड' (सौरजगत्) का वह आधिदैविक स्वरूप है, जिसमें **ऊर्ध्व अर्द्ध अण्डकटाह**, एवं **अधः–अर्द्ध अण्डकटाह**–रूपेण आग्नेय-सौम्य दो अण्डकोश समन्वित हैं। अण्डकोशद्वयात्मक–अग्नीषोमात्मक–अण्डकटाहद्वयमूर्त्ति–त्रिदाम्पत्यगर्भित इस त्रिमूर्त्ति सम्वत्सरप्रजापति का नेदिष्ठरूप वह मानव माना गया है, जो अण्डकटाहानुबन्धिनी यच्चयावत् अण्डवृत्त-मर्य्यादाओं का सर्वात्मना प्रतिमान बना हुआ है। प्रजननधर्म्म की मूलप्रतिष्ठा प्रकृति के ये दोनों साम्वत्सरिक अण्डकटाह (अण्डकोश) ही तो बने हुए हैं।

१३०–त्रिविध सम्वत्सरचक्रों की दाम्पत्ययुग्मता से अनुप्राणित मानवीय तीनों पत्रों की (प्रत्येक की) द्वयात्मकता का तात्त्विक समन्वय—

पुम्भ्रूणात्मक पुरुषभाव, तथा स्त्रीभ्रूणात्मक स्त्रीभाव का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें पूर्व में इन दोनों शब्दों के साथ '**औपपातिक–कर्म्मभोक्ता-कर्म्मात्मा**' का सम्बन्ध बतलाया है। क्या तात्पर्य्य है इस औपपातिक कर्म्मात्मा से ?, यही वह प्रासङ्गिक–प्रश्न है, जिसके प्रासङ्गिक समन्वय के लिए ही उपरि निर्दिष्ट परिलेखों को अवधानपूर्वक अवलोकनीय बतलाया गया है। परिलेखों में पाठक देखेंगे कि, सौर–चान्द्र–पार्थिव, तीनों ही दाम्पत्यविवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि–सोम–नामक युग्मों में सर्वत्र अग्नि के गर्भ में सोम है, सोम के गर्भ में अग्नि है। द्वयात्मक–द्वयात्मक बने हुए तीनों युग्मों में सर्वमूलभूत अहङ्कृतिभावनिबन्धन प्रथम सौरयुग्म की ओर ही आपका ध्यान आकर्षित कराया जाता है प्रासङ्गिक प्रश्न–समन्वय के लिए।

१३१-चिदात्मयोनिभूत महद्ब्रह्म का मूलप्रकृतित्व—

सौरयुग्म का आग्नेय प्राणात्मक–पुम्भ्रूणरूप पुरुषभाव भी अपने गर्भ में उसी प्रकार सौम्यप्राण को प्रतिष्ठित किए हुए है, जैसे कि सौम्य प्राणात्मक स्त्रीभ्रूणरूप स्त्रीभाव के गर्भ में आग्नेय प्राण प्रतिष्ठित है। सौर सम्वत्सर के इस सौम्यप्राणात्मक स्त्रीभ्रूण का गर्भ तो सौर सम्वत्सर का ही आग्नेय प्राण बन रहा है। किन्तु स्वयं इस आग्नेय प्राणरूप पुम्भ्रूण के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला सौम्यप्राण तो सौरमण्डल का ही सौम्य–स्त्रीभाव नहीं बन सकता। अवश्य ही वह तो कोई अन्य ही तत्त्व होना चाहिए, जो सौर आग्नेय प्राण के गर्भ में प्रतिष्ठित होने के कारण सौरब्रह्माण्ड की भी मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित हो रहा है। यही स्थिति हमें सौरब्रह्माण्ड के भी उस मूलाधार के प्रति आकर्षित कर लेती है, जो सौरब्रह्माण्ड का गर्भाधार बना रहता हुआ भी सौर ब्रह्माण्ड से कोई पृथक् तत्त्व है। और वह है अव्यक्त–स्वायम्भुव–ब्रह्माग्निगर्भित पारमेष्ठ्य वह महद्ब्रह्म, जिसे चिदात्मा की 'योनि' कहा गया है।

१३२–सौरमण्डल की अक्षरब्रह्मात्मकता, अक्षरात्मिका चेतना, चेतनानुगत प्राकृत जीव, तदनुगत योनिभाव, एवं चतुरशीति (८४) सौम्य पितर–प्राणों के व्युदूहन से योनि के चतुरशीतिलक्ष (चौरासी लाख) विवर्त्त—

सौरमण्डल अक्षरब्रह्मात्मक है, जैसाकि षोडशीपुरुषविज्ञान से स्पष्ट है। अक्षर प्रकृतितत्त्व है। इसे ही 'चेतना' कहा गया है, एवं यही–'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्**' के अनुसार जीवभाव की मूलप्रवर्त्तिका है पुम्भ्रूण तथा स्त्रीभ्रूण के माध्यम से। जिसे भूतविकारभाषा में–'**कीटाणु**' कहा गया है, वही 'भ्रूण' है, जो असंख्य–अनन्त हैं, जिन असंख्य–अनन्त भी इन उभयविध भ्रूण–कीटाणुओं का चतुरशीति (८४) कल पितृप्राण के सम्बन्ध से शास्त्र ने साहस्री के व्यूहन से चतुरशीतिलक्ष (८४००००० चौरासीलाख) जातिविभाग मान लिए हैं, जो शास्त्रीय भाषा में–'**योनिविभाग**' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन असंख्य–पुम्भ्रूणों (नरों)–स्त्रीभ्रूणों (मादाओं) के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण वास्तव में आग्नेय–सौम्य–प्राणात्मक–चान्द्र–पार्थिव–दाम्पत्यविशिष्ट–सौर–अक्षरप्रजापति (प्रकृति) ही हैं। और इस सौर दाम्पत्यभाव की दृष्टि से प्राणिमात्र भ्रूणों के समन्वय–तारतम्य के ही सुपरिणाम, किंवा प्राकृतिक–परिणाम हैं, जिस इस परिणामवाद का जीवन-सर्ग पर ही विश्राम है।

१३३–मानवस्वरूप की अक्षरातीता अव्ययरूपता, अतएव अप्राकृतता, तद्रूप आत्म-भाव, तथा आत्मा, एवं जीव–स्वरूप का आत्यन्तिक पार्थक्य—

जिस औपपातिक–आत्मभाव का इस सम्बन्ध में दिग्दर्शन हो पड़ा है, उस आत्मभाव का इस अक्षर-प्रकृतिरूप सौरब्रह्माण्ड के पुंभ्रूण–स्त्रीभ्रूणों से तत्त्वतः कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मभाव तो '**चिदात्मा**' नाम से प्रसिद्ध उस '**अव्ययपुरुष**' से सम्बद्ध है, जो सौर अक्षर से भी अतीत है। मानव–मानवी इसी आत्मभाव से अभिव्यक्त हैं, जिसका भूतसर्गानुबन्धी–जीवभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्य समस्त योनियाँ जहाँ 'जीवमात्र' हैं, प्रकृतिमात्र हैं, वहाँ मानव **आत्मभावप्रधान** ही है। कदापि '**आत्मा**' और '**जीव**' पर्य्याय नहीं हैं। आत्मा '**अव्ययात्मक**' है, जीव '**अक्षरात्मक**' है। अव्यय '**पुरुष**' है, अक्षर '**प्रकृति**' है। अतएव मानव–मानवी [अपने मनःशरीरबुद्धि–भावों] से प्राकृत–प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः पुरुषात्मभावरूप हीं हैं, अतएव अप्राकृत ही है। यही मानव का वह वास्तविक स्वरूप है, जो प्रकृतिवादी दार्शनिकों के आचारहीन शब्दजाल से, मतवादी साम्प्रदायिकों के कल्पिताचारयुक्त विडम्बनापथों से, क्षणिकविज्ञानवादी शून्योपासकों के अनात्मवाद से, तदनुगामी भ्रान्त अहिंसावादियों के विजृम्भणों से, भूतविज्ञानपरायण–प्रतीच्यों के जड़वाद से, एवं सर्वोपरि भारतीय नवशिक्षित सभ्यों की भारतीय-संस्कृतिस्वरूपानुगता–स्वरूपविस्मृति से सर्वथैव अभिभूत होगया है। जिसे पुनः व्यक्त करना हीं प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

१३४–सौरब्रह्माण्ड का सर्वाधारभूत पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म, एवं तद्द्वारा मानव में आत्म-स्वरूप का अभिव्यक्तित्त्व–समन्वय—

हाँ, तो पुम्भ्रूणात्मक सौर आग्नेय प्राण की मूलप्रतिष्ठालक्षण पारमेष्ठ्य–भृग्वङ्गिरोमय महद्ब्रह्म ही वह सौम्यप्राण है, जो सौरब्रह्माण्ड का सर्वाधार बन रहा है। इसी में अव्ययपुरुषात्मलक्षण चिदात्मा गर्भी–

भूत है, जिसका व्यक्तीभाव सौर पुं-स्त्रीभ्रूणों के द्वारा एकमात्र मानव-मानवी में हीं होता है। अन्य सर्गों में विभूतिभाव से चिदात्मपुरुष प्रतिष्ठित है, जबकि मानवसर्ग में अन्तर्य्यामिसम्बन्धात्मक आत्मभाव से ही चिदात्मपुरुष अभिव्यक्त है। यही मानव की सर्वापेक्षया महत्ता है, जिसे प्राकृतव्यामोहन से मानव जिस सीमापर्य्यन्त अभिभूत कर लेता है, तदनुपात से ही यह प्राकृतिक-द्वन्द्व-दुःखों से समन्वित बनता रहता है।

१३५-सैद्धान्तिकरूपेण अन्ततोगत्त्वा पुरुष का प्रकृतिभाव पर ही पर्य्यवसान—

सौर प्राणाग्नि का मूलाधार सौम्य प्राण जब पारमेष्ठ्य सौम्य महत्तत्त्व है, तो अब पुनः हमें कहना, और मान हीं लेना पड़ेगा कि—स्त्रीभाव ही प्रमुख है पुरुष में। क्योंकि 'सत्य' अग्नि की परिभाषा है, 'ऋत' सोम की परिभाषा है। सत्याग्नि पुरुषभाव है, ऋतसोम स्त्रीभाव है। उधर-'**ऋतमेव परमेष्ठी**' के अनुसार सोम-महद्रूप परमेष्ठी ऋत बनता हुआ स्त्रीभाव है। इसीलिए तो गोपथ ने इस भृग्वङ्गिरोमय-आपोमूर्त्ति-सुब्रह्मलक्षण पारमेष्ठ्य सौम्य प्राण को-'**जाया**' नाम से व्यवहृत किया है। यही दार्शनिकों की '**माया**' है, उपासकों की '**आम्भृणी**' है, जिसका दशमहाविद्याप्रकरण में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इस प्रकार यह सौम्य-महद्भाव ही सौर आग्नेय पुरुषभाव की प्रतिष्ठा बना हुआ है। और इस दृष्टि से अब यही कहा जा सकता है कि, पुरुष अन्ततोगत्त्वा पुनः स्त्री का स्त्री ही है।

१३६-अथ से इति पर्य्यन्त प्रकृति की प्रधानता, एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शक्ति-प्रधानत्त्व—

पार्थिवान्त में स्त्री, सौरान्त में स्त्री। सर्वादि में महत्प्रकृतिरूपा-पारमेष्ठ्यशक्ति, अनन्तर अहङ्कृतिरूपा सौरीशक्ति, तदनन्तर प्रकृतिरूपा चान्द्रीशक्ति, सर्वान्ते च आकृतिरूपा पार्थिवी शक्ति। यों अथ से इतिपर्य्यन्त प्रकृतिशक्ति का ही विस्तार हो रहा है, जिसके घनभाव का ही नाम ही 'पुरुष' है।

१३७-ऋत परमेष्ठी की प्रधानता से पुरुषप्राधान्यवाद का अन्ततोगत्त्वा स्त्रीप्राधान्यवाद पर ही विश्राम, एवं सैद्धान्तिक मन्त्रार्थसमन्वय—

ऋत ही सत्य बना है। स्त्री ही पुरुष बनी है। शक्ति ही अपने ऋत भाव से शक्ति है, सत्यभाव से शिव है। एक ही तत्त्व शिवशक्तिरूप से समन्वित है। दोनों में ऋततत्त्व ही प्रधान है-'**ऋतं नात्येति किञ्चन**'। ऋत का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। अतएव आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-भेदेन त्रिधा विभक्त-सम्पूर्ण प्राकृत विश्व में परोक्ष-प्रत्यक्षरूपेण प्रकृति का ही साम्राज्य है। इसी की अवस्था-विशेष का नाम 'पुरुष' है, जो कि 'पुरुष' भी मूलतः प्रकृति ही है। इस अन्तिम सिद्धान्तबिन्दु के आधार पर पहुँचने के अनन्तर तो-सौरब्रह्माण्डानुबन्धी पुरुषप्राधान्यवाद भी अन्ततोगत्त्वा स्त्रीप्राधान्यवाद पर ही विश्रान्त हो जाता है। और इसी अन्तिम राद्धान्त-बिन्दु की अपेक्षा से मन्त्रश्रुति के-'**स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः**' इस पूर्वभाग से सर्वत्र शक्तिप्राधान्य ही समन्वित हो जाता है। पुरुष है ही नहीं प्राकृत विश्व में। जो पुरुष हैं, वस्तुतः मूलप्रकृति [पारमेष्ठ्य महत्प्रकृति] की दृष्टि से वे भी स्त्रीभाव पर ही विश्रान्त हैं, जिन स्त्रीभावात्मक पुरुषों को ही लोकव्यवहार-सुविधामात्र के लिए 'पुरुष' कह दिया जाता है, इति नु आगमानुगतं शक्तिरहस्यम्।

१३८–कामशक्ति, और प्रजनन, तद्रूपा प्रजाति, तद्रूपा प्रजा, प्रजानुगत प्रजातन्त्र, एव तदनुगत–शरीरप्रधान–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-वातावरणानुगत स्वच्छन्द–होलामहोत्सवानुवन्धी किञ्चिदिव मनोविनोद–प्रसङ्ग—

मूलोद्देश्यरूप होलिका–पर्व को हमने शरीरप्रधान पर्व माना है। ऐसी स्थिति में दुरधिगम्य आत्म–
भाव, तदनुगत शक्तिभावादि के दिग्दर्शन से अवश्य ही होलिकाप्रेमी शरीर-मनोधर्म्मा मादृश मानव
उत्तेजित हो सकते हैं। स्वागत ही किया जायगा इस सांस्कृतिकी–उत्तेजना का। क्योंकि उत्तेजना ही काम–
शक्ति की सूचिका है, कामशक्ति ही दाम्पत्यमूलक प्रजनन की प्रतिष्ठा है। प्रजनन ही 'प्रजाति' है, 'प्रजाति'
ही 'प्रजा' है, और प्रजानुगत तन्त्र ही 'प्रजातन्त्र' है, जिस इस आज के शरीरमनःप्रधानमात्र प्रजा–
तन्त्र के सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वातावरण में, तत्रापि विशेषतः आज के उन्मर्य्यादात्मक–स्वतन्त्र होलिकासमारम्भ में
शरीर के साथ साथ यदि अप्रासङ्गिक आत्म–शक्तिवाद की भी चर्चा हो पड़े, तो यह भी विनोद ही मान
लिया जायगा, इति नु प्रासङ्गिकेतिवृत्तम्।

१३९–सौरब्रह्माण्डोर्ध्वानुप्राणिता अमृतगाथा का उपराम, एवं पार्थिव ब्रह्माण्डानुगता मर्त्या–सौरचान्द्रपार्थिव--गाथा का यशोगानोपक्रम, तथा तत्प्राधान्य से मन्त्रानुगत मध्यभाव की प्रधानता, एवं तत्प्राधान्य से विश्वविजयी कामदेव का संस्मरण—

अच्छा, तो छोड़िए सौरब्रह्माण्ड से ऊपर की अमृता गाथा को। सूर्य्य से अवस्तात्–प्रतिष्ठित
मर्त्य * सौर–चान्द्र–पार्थिव-ब्रह्माण्ड की ही गाथा का यशोगान कीजिए, जिसके अनुसार
पूर्व परिलेखानुगत दृष्टिकोण ही सिद्धान्त पक्ष बन रहा है। भ्रूणदृष्ट्या पुरुष–स्त्री पुरुष-स्त्री
ही है। शुक्र–शोणित–दृष्ट्या पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है। एवं शरीरदृष्ट्या पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है।
होलिकाविनोदात्मक प्रसङ्ग के गौरव को सुरक्षित रखने के लिए इन तीनों दृष्टिकोणों में से प्रथम–तृतीय–
दृष्टिकोण हम अत्र उपेक्षित मान लेते हैं। एवं मध्य का वह दृष्टिकोण ही प्रधान मान लिया जाता है,
जिसमें लोकप्रत्यक्षमर्य्यादा के सर्वथा विपरीत पुरुष तो स्त्री बना हुआ है, एवं स्त्री पुरुष बन रही है। इसी
मध्यस्थ बिन्दु को माध्यम मानते हुए हमें मानव-मानवी के दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले उस मनोजदेवता
[वासन्तिक कामदेवता] के यशोगान में अब अविलम्ब प्रवृत्त हो ही जाना है, जिसके बिना मदनमहोत्सवा–
त्मक होलिकापर्व रसराग–रञ्जनात्मक अनुरञ्जन से पृथक् पृथक् सा ही प्रतीत होता जारहा है। शम्भु–
स्वयम्भू–हरि--आदि त्रैलोक्य--देवताओं को भी विमोहनासक्त प्रमाणित कर देने वाले विश्वविजयी पुष्पधन्वा

---

*--यद्यत्--किञ्चार्वाचीनमादित्यात्--सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। [शतपथ०]।

रतिपति महामहिम महाभाग उस कामदेव को अपने मनोराज्य में प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हुए ही उनके इस दाम्पत्यस्वरूप का संस्मरण उपक्रान्त हो रहा है * ।

१४०–मन्मथ-काम–मदन–कन्दर्प–नामों के निर्वचनार्थ–संस्मरण के द्वारा प्रजापति ब्रह्मा से उपवर्णित काममहत्त्व का यशोगान—

मन्मथ, काम, मदन, कन्दर्प, आदि विविध नामों से आगमशास्त्र में ÷ उपगीयमान, तथा स्त्री–पुम्भावों के मानसिक-शारीरिक–क्रीड़ा–विलास--हासों के संरक्षण के लिए ही मानो भगवान् ब्रह्मा के द्वारा विनिर्म्मित, हृदस्थ मन को अपना आवासस्थान बना लेने वाले, अतएव **मनोभव–मनोज**–नामों से सुप्रसिद्ध, सम्मोहनशक्ति के प्रयोग में कुशल, समुद्वेगभावों के अन्यतम सर्जक, स्तब्धता-जड़ता-लक्षण विमोहन-भावों के मूलकारण, उन्मत्तता के मूलबीज, प्रचण्ड शारीरिक ज्वाला [विरहानल] के प्रवर्त्तक, एवं निरन्तर ही मानस–स्थैर्य को विकम्पित करते रहने में सर्वाग्रणी, ऐसे ब्रह्मपुत्र कामदेव का ही हम इनके निग्रह से परित्राण प्राप्त करने के लिए ही इनके प्रति शतशः प्रणामाञ्जलियाँ समर्पित कर रहे हैं इनके महान् परितोषक अपने गृहस्थाश्रम के माध्यम से । क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा ने इनके इन्हीं गुणों का इनमें संस्थापन किया है—

ब्रह्मोवाच–स्त्रीपुंसोः क्रीडनार्थाय मुदा त्वञ्च विनिर्म्मितः ॥
हृदि योगेन सर्वेषामधिष्ठानं भविष्यसि ॥१॥
सम्मोहनं–समुद्वेगबीजं–स्तम्भितकारणम् ॥
उन्मत्तबीजं–ज्वलनं–शश्वच्चेतनहारकम् ॥२॥
प्रगृह्य तान्–मया दत्तान् सर्वान्–सम्मोहनं कुरु ! ॥
दुर्निवार्य्यो मम वराद्भव वत्स मदेषु च ॥३॥

— ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे श्रीकृष्णजन्मखण्डे ३५ अध्याये

---

*– **शम्भु–स्वयम्भु–हरयो–हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्म्मदासाः ।**
वाचामगोचरचरित्रविचित्रताय तस्मै नो भगवते कुसुमायुधाय ॥
—भर्तृहरिः

÷ **यस्मात् प्रमथ्य चेतस्त्वं जायतेऽस्माकं, तथा विधेः ॥**
तस्मात्–'मन्मथ' नाम्ना त्वं लोके गेयो भविष्यसि ॥१॥
जगत्सु कामरूपस्त्वं त्वत्समो नहि विद्यते ॥
अतस्त्वं 'काम' नामासि ख्यातो भव मनोभव ! ॥२॥
मदनात्–'मदना' ख्यस्त्वं, शम्भोर्दर्पात्सदर्पकः ॥
तथा–'कन्दर्प' नामापि लोके ख्यातो भविष्यसि ॥२॥
—कालिकापुराणे २ अध्याये ।

१४१–मकरध्वज, एवं मीनध्वज–अभिधाओं की मूलप्रतिष्ठारूपा–नाक्षत्रिक–मण्डलानुगता–मकर–मीन–राशियाँ––

तथाविध स्वरूपधर्म्मों से समन्वित कामदेव के मदन–मन्मथ–कन्दर्प–आदि लोकविश्रुत नामों के अतिरिक्त आज हम उन दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक–नामों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिनके माध्यम से ही दाम्पत्यमूलक '**कामदेव**' का स्वरूप सर्वात्मना समन्वित हो रहा है। वे नाम हैं–– **मकरध्वज, और मीनध्वज**। पहिले आकाशीय ग्रहमण्डल में इन दोनों कामरूप ग्रहों का साक्षात्कार कर लीजिए। नवग्रहों में सुप्रसिद्ध श्वेतवर्णात्मक '**शुक्र**' नामक ग्रह **सौम्य ग्रह** माना गया है, एवं सुप्रसिद्ध रक्तवर्णात्मक '**मङ्गल**' नामक ग्रह **आग्नेय ग्रह** माना गया है। द्वादश राशियों में सुप्रसिद्ध **मकर**, और **मीन** नाम की दो राशियाँ हैं, जिनका क्रमशः उच्चभावस्थ मङ्गल, तथा उच्चभावस्थ शुक्र ग्रह के साथ प्रधान सम्बन्ध माना है ज्योतिर्विदोंनें। वे कहते हैं कि, मङ्गलग्रह मकरराशि से, तथा शुक्रग्रह मीनराशि से समन्वित होकर उच्चभावस्थ बन जाया करते हैं, जिस इस तथ्य का एतावान् अंश ही प्रकृत में ग्राह्य है कि, रक्तवर्ण–आग्नेय–मङ्गल मकरानुगत है, एवं श्वेतवर्ण–सौम्य शुक्र मीनानुगत है।

१४२––मीनराशियुक्त शुक्रग्रह तथा मकरराशियुक्त मङ्गलग्रह की उच्चता, एवं तदनुगत पुरुष–स्त्री–भावात्मक शुक्र–शोणित की मीन, मकरता––

मानव की मूलप्रतिष्ठारूप सौम्य शुक्र श्वेत है, एवं यह निश्चयेन आकाशीय सौम्य–मीनराश्यनुगत शुक्रग्रहप्राण से [सजातीय सम्बन्धाकर्षण से] समन्वित है। तथैव मानवी की मूलप्रतिष्ठारूप शोणित आग्नेय है, रक्त है। एवं यह निश्चयेन आकाशीय आग्नेय–मकरराश्यनुगत मङ्गलग्रहप्राण से समन्वित है। यों शुक्रानुगत पुरुष मीनानुगत 'शुक्रग्रह' की कृपा से, तथा शोणितानुगता स्त्री मकरानुगत मङ्गलग्रह की कृपा से समन्वित हैं। तभी तो स्त्री–'**सुमङ्गली**' कहलाई है निगमशास्त्र में *। इसप्रकार खगोलीय [क्रान्तिवृत्तीय] सौम्य–आग्नेय–मीन–मकरानुगत शुक्र–मङ्गल–ग्रहों से पुरुष–स्त्री के प्रकृतिरूप शुक्र–शोणित–द्रव्य समन्वित हो रहे हैं।

१४३–पुरुषानुगता शुक्रस्था कामशक्ति, स्त्र्यनुगता शोणितस्था कामशक्ति, एवं–'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' की समन्वय–जिज्ञासा––

पुरुष की कामशक्ति का प्रभवस्थान जहाँ हृदयस्थ मन है, यहाँ प्रतिष्ठास्थान शुक्र माना गया है, अतएव सर्वाङ्गशरीर माना गया है। मनोरूप उक्थबिम्ब से विनिर्गता–अर्करूपा प्राणशक्ति शुक्र में हीं प्रतिष्ठित रहती है। एवमेव स्त्री की कामशक्ति इसके शोणित में प्रतिष्ठित है। लोक में प्रसिद्ध है कि, पुरुष

---

* सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्त्वं वि परेत न॥

––ऋक्सं० १०।८५।३३।

की अपेक्षा स्त्री की कामशक्ति बलवती है। क्या इस प्रसिद्धि में कुछ तथ्य है?। है, और अवश्य है। अन्वेषण कीजिए अपने मनोराज्य में हीं इसके समाधान का। क्यों?। कामचर्चा के उपक्रान्त होते ही प्रस्तुत होलामहोत्सव में विनोद आरम्भ हो गया न?। अच्छा, तो समन्वय कीजिए इस मानसविनोदात्मक कामविनोद का।

१४४-भुक्तान्न के विशकलन का आठवाँ प्रक्रम शुक्र, तदनुगता-'मीनध्वज' नाम की पुरुषशुक्रानुगता कामशक्ति के समतुलन में स्त्रीशोणितानुगता 'मकरध्वज' नाम की कामशक्ति की प्रचण्ड–प्रबलता का तात्त्विक समन्वय—

मानव अपने शारीराग्नि में मुखविवर के द्वारा सोमात्मक अन्न की आहुति देता है–[भोजन करता है]। भुक्त अन्न पहिले रस बनता है, रसावस्था असृगवस्था [रक्तावस्था] में, असृगवस्था मांसावस्था में, यह मेदावस्था में, यह अस्थ्यवस्था में, यह मज्जावस्था में परिणत होती है। एवं सर्वान्त में मज्जावस्था ही शुक्रावस्था में परिणत होती है। यों प्रथम अन्नावस्था से आरब्धा अन्नावस्था आठवीं शुक्रावस्था में जाकर अपने पार्थिव--विशकलनधर्म्म से उपरता होती है। इसी शुक्र में मानव की मीनशुक्रग्रह्यनुगता कामशक्ति प्रतिष्ठित है। अतएव भुक्तान्न के आठवें प्रक्रम में मानवीय कामशक्ति को शुक्र के द्वारा पोषण मिलने का महद्भाग्य प्राप्त होता है, जबकि मानवी के अन्नोत्तरभावी रस से समन्वित, अतएव मानो प्रथमावस्थारूप ही शोणित में कामशक्ति प्रतिष्ठित रहती है, जो अन्नाहुति के थोड़े ही काल में रक्त के द्वारा पोषण प्राप्त करती रहती है। इसी आधार पर--'कामश्चाष्टगुणः स्मृतः' [स्त्रीणाम्] व्यवस्था व्यवस्थित हुई है। अतएव च मानव की अन्नव्यवस्था में शुक्रस्वरूपसंघातक अम्ल पदार्थों [खट्टे--चरपरे--आदि पदार्थों] का बाहुल्य निषिद्ध माना है *। स्पष्ट ही अन्नानुगता इस विशकलनमर्य्यादा के अनुपात से पुरुष, तथा स्त्री की कामशक्ति का तारतम्य प्रमाणित हो रहा है। निश्चय ही पुरुष की शुक्रानुगता कामशक्ति के समतुलन में स्त्री की शोणितानुगता कामशक्ति कहीं प्रबल है। अतएव स्त्री की मर्य्यादा ही परिवार--समाज--राष्ट्ररक्षा की मर्य्यादा मानी गई है। मर्य्यादिता यह महाशक्ति जहाँ सर्वरक्षिका बनती रहती है, वहाँ अमर्य्यादिता बन कर यही सर्वभक्षिका प्रमाणित हो जाती है।

१४५-'मीनकेतन' नामक पुरुषकाम, तथा 'मकरकेतन' नामक स्त्रीकामके अनुग्रह से स्त्री–पुम्भावों का पारस्परिक आकर्षणात्मक--प्राकृतिक दाम्पत्यभाव, तद्द्वारा धर्म्म–मूलक आत्मप्रतिमानरूप प्रजातन्तुवितान, एवं सम्वत्सरयज्ञमूलक पति-पत्नी-भाव–

शुक्र स्त्रीभाव है अपने सौम्यधर्म्म से, एवं यही पुरुष की प्रतिष्ठात्मिका प्रकृति बना हुआ है। मानो अग्निशरीरी पुरुष के अन्तर्जगत् में सौम्य शुक्ररूप स्त्रीभाव ही प्रतिष्ठित है। शुक्रानुगता सौम्या कामशक्ति

* राजस्थान में लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि--"गयो मरद–जाने खाई खटाई,–गई नार–जाने खाई मिठाई"। "चाट–चिटोकड़ो मोटयार [पुरुष], अर [और] दूनाचट लुगाई [स्त्री]"–दोनों हीं स्व–स्वरूपों से च्युत हो जाते हैं।

ही मीनराशि से युक्त शुक्रग्रह के सम्बन्ध से '**मीनध्वज**' कहलाई है । पुरुष का यह काम स्त्रीमय है । अतएव यह स्त्री की कामना किया करता है । कामना स्वस्वरूपानुबन्धिनी मानी गई है । पुरुष का स्वस्वरूपात्मक आभ्यन्तर स्वरूप सौम्यशुक्रानुबन्ध से स्त्रीरूप है । अतएव पुरुषका स्त्रीकाम बने रहना प्रकृतिसिद्ध है । उधर शोणित पुरुषभाव है अपने आग्नेय धर्म्म से, एवं यही स्त्री की मूलप्रष्ठिात्मिका प्रकृति बना हुआ है । मानो सोमशरीरिणी स्त्री के अन्तर्जगत् में आग्नेय शोणितरूप पुरुषभाव ही प्रतिष्ठित है । शोणितानुगता आग्नेयी कामशक्ति ही मकरराशियुक्त मङ्गलग्रह के सम्बन्ध से '**मकरध्वज**' कहलाई है । स्त्रीका यह काम पुरुषमय है । अतएव यह पुरुष की कामना किया करती है । स्त्री का स्वस्वरूपात्मक आभ्यन्तरस्वरूप आग्नेय–शोणितानुबन्धसे पुरुषरूप है । अतएव स्त्रीका पुरुषकामा बने रहना प्रकृतिसिद्ध है । इसप्रकार 'मीनध्वज' नामक पौरुषकामने पुरुष की ओर स्त्री को आकर्षित कर रक्खा है, एवं 'मकरध्वज' नामक स्त्रीकामने स्त्री की ओर पुरुष को आकर्षित कर रक्खा है । इसी कामाकर्षण से आरम्भ में शरीरतः आकर्षित यह दाम्पत्य शुक्र–शोणित के दाम्पत्य के द्वारा तन्मूलभूत **योषा-वृषा**-प्राणात्मक स्त्री–पुंभ्रूणों के दाम्पत्य में परिणत होता हुआ, इस धारावाहिक क्रम से पार्थिव सम्वत्सरानुगत आकृतिभावमूलक दाम्पत्य, चान्द्रसम्वत्सरानुगत प्रकृतिभावमूलक दाम्पत्य, तथा सौरसम्वत्सरानुगत–अहङ्कृति–भावमूलक दाम्पत्य, तीनों दाम्पत्यों के समसमन्वय से उस पारमेष्ठ्य–औपपातिक–आत्मभाव–प्रवेश–का कारण बन–जाता है, जिस आत्मभावानुगति के आधार पर ही–'**आत्मा वै जायते पुत्रः**, मूलक '**पिता वै जायते पुत्रः**' सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है, जो सैद्धान्तिकी–धर्म्म–व्यवस्था आत्मवञ्चित–केवल–जड़कामसम्बन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं रखती–पशु–पक्षी–कीट–कृम्यादि सर्गवत् । अतएव धर्म्मतः अग्निसाक्षी में परिणीता सहधर्म्मचारिणी यज्ञसंयोगात्मिका (सम्वत्सर–संयोगात्मिका) पत्नी, तथा धर्म्मनिष्ठ पति के दाम्पत्य से ही आत्म–प्रजनपरम्परा प्रवाहित मानी है निगमागमशास्त्रने, जिस इस रहस्यपूर्ण-सनातन–धार्म्मिक–सांस्कृतिक–आत्मकाममूलक–दाम्पत्य का सहकामचारिणी प्रेमिकाओं, तथा सहकामभोगी प्रेमियों के भूतमिलनात्मक धर्मनिरपेक्ष–दाम्पत्यभावानुगत-भूतप्रजनन से कोई भी तो सम्बन्ध नहीं है ।

१४६--नाक्षत्रिक--मकर, मीन--राशियों की आपोमयता का समन्वय---

'**मीनकेतन**' नाम से प्रसिद्ध '**मीनध्वज**' कामदेव पुरुषसृष्टि की प्रतिष्ठा बने हुए हैं, एवं '**मकर–केतन**' नाम से प्रसिद्ध–'**मकरध्वज**' कामदेव स्त्रीसृष्टि की प्रतिष्ठा बने हुए हैं, एवं मकर–तथा मीन–राशियों से उच्चभावस्थ बने हुए मङ्गल, तथा शुक्र–नामक सुप्रसिद्ध आग्नेय, एवं सौम्यग्रह ही मानवी के शोणित, तथा मानव के शुक्र में चान्द्रनाड़ी के द्वारा बलाधान करते रहते है । मकर और मीनानुबन्धी मङ्गल–शुक्रानुगत-आग्नेय–सौम्य पुं–स्त्री–भावों के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकरूपेण यह भी जान लेना चाहिए कि, मकरराशि, तथा मीनराशि, दोनों हीं राशियाँ आप्य नक्षत्रों से समन्वित रहतीं हुई तत्वतः आपोमयीं हीं प्रमाणित हो रही हैं । क्या तात्पर्य्य ? । तात्पर्य्य यही कि–उत्तराषाढ़ा नामक नक्षत्र के शेष तीन चरण (२–३–४), सम्पूर्ण(चतुष्पाद) श्रवणनक्षत्र, धनिष्ठा नक्षत्र के दो चरण, इन नव पादों से समन्वित नाक्षत्रिक आकाश में ही मकराशि उपभुक्त है । एवमेव–पूर्वभाद्रपद–उत्तरभाद्रपद–रेवती–नक्षत्रात्मक नाक्षत्रिक-आकाश में मीनराशि समन्वित है । दोनों हीं आकाश वर्षाऋतु से अनुप्राणित रहते हुए आप्यप्राण–प्रधान हैं । फलतः मकर–मीन–राशियों की भी आपोमयता प्रमाणित हो जाती है ।

१४७--अपोमय पारमेष्ठ्य भृग्वङ्गिराप्राण, एवं तदनुगत-आपोमय मकर-मीन-प्राणों का भृग्वङ्गिरोमयत्त्व ---

वास्तविक सुसूक्ष्म तथ्य यह है कि, जिन मकरप्राण–मीनप्राणों से राशिविशेषद्वयी मकर–मीन नामों से प्रसिद्ध हो रही है, वे दोनों प्राण मूलतः आपोमय ही बने हुए हैं, जिनका मूल--प्रभवस्थान है वह आपो--मय परमेष्ठी, जिसे **'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापोभृग्वङ्गिरोमयम्'** (गोपथब्राह्मण. पूर्वभा०) के अनुसार भृग्वङ्गिरोरूप, किंवा एक विशेष सृष्ट्यनुबन्ध से भृग्वङ्गिरोमय कहा गया है। आपोवायुःसोमात्मक स्नेह–गुणप्रधान प्राण ही 'भृगु' है, एवं अग्नि–यम–आदित्य–तेजोगुणप्रधान प्राण ही 'अङ्गिरा' है। भृगु भी आपः है, किन्तु सोमप्रधान। अङ्गिरा भी आपः है, किन्तु अग्निप्रधान। आपोमयी यह पारमेष्ठ्य–प्रकृति ही तो वह महद्ब्रह्म है, जिस इस महत्प्रकृतिका ऋत भृगु भाग ही तो स्त्रीयोनिका प्रभव बनता है, एवं ऋत अङ्गिराभाग ही पुरुषयोनिका प्रवर्त्तक बनता है, जिन इन दोनों महत्प्रकृतियों के साथ ही आत्मभाव की अभिव्यक्ति बतलाई गई है पूर्व में– आत्मा, तथा जीवभाव के पार्थक्य का दिग्दर्शन कराते हुए।

१४८–पारमेष्ठ्य पवित्र सोमात्मक–'भागीरथी' तत्त्व, एवं तन्नैदानिक वाहन पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–मकर का प्रासङ्गिक समन्वय–

पारमेष्ठ्य भृगु के गर्भ में अङ्गिरा प्रतिष्ठित है, एवं अङ्गिरा के गर्भ में भृगु प्रतिष्ठित है। यों दोनों पारमेष्ठ्य तत्त्व उभयात्मक बने हुए हैं। उभयात्मक–सौम्य भार्गवप्राण का ही नाम है पारमेष्ठ्य **मीनतत्त्व**, एवं उभयात्मक आङ्गिरसप्राण का ही नाम है **मकरतत्त्व**। पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति नामक पवित्र सोमतत्त्व ही भूतल के भौतिक तत्त्वों से संश्लिष्ट होकर गाङ्गेय कहलाया है। जिसका मौलिक **'गङ्गा'** तत्त्व ही पारमेष्ठ्य पवित्र सोम है, जो **'अम्भः'** नाम में प्रसिद्ध है। यह भार्गव–(गङ्गारूप) अम्भः–नामक पवित्र तत्त्व मकररूप आङ्गिरस प्राण पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव नैदानिक आचार्य्योंनें निदानमाध्यमेन मकर को गङ्गा का वाहन मान लिया है। जिसप्रकार पारमेष्ठ्य पर्जन्यवायु से सम्मिश्रित भार्गव आप्य--प्राण सप्तवर्णयुक्त–सौररश्मि-भाव से समन्वित होकर पार्थिव **'मयूरप्राणी'** की मूलप्रतिष्ठा बनता है, अतएव इसे जैसे पारमेष्ठ्य अङ्गिरा–धारारूपा सरस्वती का वाहन मान लिया गया है निदानमाध्य से। एवमेव पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–मकर-प्राणप्रधान जलजन्तुविशेष भी 'मकर' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। अतएव इसे सौम्यधारारूपा गङ्गा का वाहन मान लिया गया है उसी निदानभाव से।

१४९–भार्गवप्राणप्रधान सौम्य मीनप्राणी, तथा आङ्गिरसप्राणप्रधान आग्नेय–मकर-प्राणी, एवं तदनुगत विभिन्न गुण–धर्म्मों का समन्वय—

यही स्थिति मीन की है। अङ्गिरागर्भित भार्गव सौम्य–पारमेष्ठ्य प्राण का नाम ही **'मीनप्राण'** है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा से तत्प्राणप्रधान जलजन्तु भी **'मीन'** नाम से प्रसिद्ध होगया है। आङ्गिरस मकरप्राण अग्निप्रकृतिक है, भार्गव मीनप्राण सोमप्रकृतिक है। अतएव तत्प्रधान मकर–मीन–नामक जन्तु भी क्रमशः अग्नि–सोम–प्रकृतिक, उष्ण–शीत–प्रकृतिक ही बने हुए हैं। अतएव आयुर्वेदशास्त्र के सुप्रसिद्ध **'सुश्रुत'** ग्रन्थ में इसे अग्निप्रकृतिक ही कहा है (देखिए, सुश्रुत–कल्पस्थान–८ अध्याय)। शुक्रवर्द्धनत्त्व, एवं स्निग्धत्त्व ही इस मीन के–'सौम्य' नाम को अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं।

१५०--प्रकृतिसिद्ध--दाम्पत्यानुगत--शुक्र--शोणित--निबन्धन सौम्य--आग्नेय--मीनध्वज--मकरध्वज--भेदभिन्न कामदेव के स्वरूप का उपराम—

यों पारमेष्ठ्य आङ्गिरस–आग्नेय मकरप्राण, एवं भार्गव सौम्य मीनप्राण आपोमय बनते हुए जहाँ नाक्षत्रिक आकाशभुक्त दशम राशिरूप मकरभाव, द्वादशराशिरूप–मीनभाव के संग्राहक बने हुए आपोमय हीं है आप्य–प्रधान नक्षत्रमण्डलों के अनुबन्ध से, तथैव ये ही दोनों आप्यप्राण अपने दोनों मकर–मीन–भावों से एतन्नामक--प्राणियों जलजन्तुओं के स्वरूपसमर्पक बने हुए हैं। और ये ही दोनों प्राण क्रमशः सौम्य शुक्र, तथा आग्नेय शोणित की प्रतिष्ठा बनते हुए सौम्य शुक्र, तथा आग्नेय मङ्गल–ग्रहों के अनुबन्ध से मानव–मानवी की कामशक्तियों के सर्वस्व प्रमाणित हो रहे हैं। और यही पुरुषानुगत शुक्रस्थ 'मीनध्वज' नामक काम का, तथा स्त्र्यनुगत–शोणितस्थ 'मकरध्वज' नामक काम का प्रासङ्गिक चिरन्तनेतिवृत्त है, जिसके आधार पर मानव–मानवी का कामानुगत दाम्पत्यसम्बन्ध प्रतिष्ठित है, जिसका पार्थिवसर्ग की दृष्टि से पृथवी से ही, तत्प्रधान भौतिक-शरीर से ही उपक्रम हुआ है लोकपक्ष में।

१५१–चतुष्पर्वा विश्वेश्वर से समतुलित चतुष्पर्वा मानव से अनुगत–दाम्पत्यमूलक 'काम' के सम्बन्ध से अनुप्राणित–'होलिकामहोत्सवात्मक–मदनमहोत्सव' का संस्मरण—

चतुष्पर्वा मानव, तथा चतुष्पर्वा विश्वेश्वर, दोनों के समसमतुलन से समन्वित सर्ग–धाराक्रम ही अत्र उस प्रश्न का समाधान करेगा, जिसका होलिकापर्वानुगत 'शरीर' नामक अन्तिम पर्व से सम्बन्ध माना गया है। दाम्पत्यमूलक 'काम' से सम्बन्ध रखने वाले होलिकामहोत्सवात्मक मदनमहोत्सव को शरीरप्रधान–उत्सव, किंवा पर्व क्यों माना गया ?, प्रश्न है, एवं समाधान सृष्टिधाराक्रम है। कथमिति चेत् ?, श्रूयताम्।

१५२--विश्वेश्वरानुगत चारों पर्वों से मानवीय चारों पर्वों का सतुलन—

स्वयम्भुगर्भित 'परमेष्ठी' प्रथम पर्व है प्रजापति का, तत्समतुलित अव्यक्तात्मगर्भित महानात्मपर्वरूप 'आत्मपर्व' प्रथमपर्व है मानव का। स्वयम्भु–परमेष्ठिगर्भित 'सूर्य्य' द्वितीय पर्व है उसका, अव्यक्त–महद्-गर्भित–'बुद्धि' पर्व द्वितीय पर्व है इसका। स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–गर्भित 'चन्द्रमा' तृतीय पर्व है उसका, एवं अव्यक्त–महत्–बुद्धि–गर्भित मनःपर्व तृतीय पर्व है इसका। स्वयम्भु–परमेष्ठि–सूर्य्य–चद्र--गर्भित पृथिवी--पर्व चतुर्थ–पर्व है उसका, एवं अव्यक्त–महत्–बुद्धि–मनो-गर्भित शरीरपर्व चतुर्थ पर्व है तत्प्रतिमानभूत इस मानव का, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

चतुष्पर्वा-प्रजापतिः (आधिदैवतम्)—

१—स्वयम्भु—गर्भितः	—परमेष्ठी ('आत्मा' प्रजापतेः)।
२—स्वयम्भु—परमेष्ठि—गर्भितः	—सूर्य्यः ('बुद्धिः' प्रजापतेः)।
३—स्वयम्भु—परमेष्ठि—सूर्य्य—गर्भितः	—चन्द्रमाः ('मनः'-प्रजापतेः)।
४—स्वयम्भु—परमेष्ठि—सूर्य्य—चन्द्र—गर्भिता	—पृथिवी ('शरीरं' प्रजापतेः)।

*

चतुष्पर्वा मानवः (अध्यात्मम्)----

१—अव्यक्त—गर्भितः —आत्मा (मानवस्य परमेष्ठी)

२—अव्यक्त—महद्—गर्भिता —बुद्धिः (मानवस्य सूर्य्यः)।

३—अव्यक्त—महत्—बुद्धि—गर्भितं —मनः (मानवस्य चन्द्रमाः)।

४—अव्यक्त—महत्—बुद्धि—मनो—गर्भितं—शरीरम् (मानवस्य पृथिवी)।

—*—

१५३—मानवीय चतुष्पर्वानुगत--चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों का प्रासङ्गिक संस्मरण-

उक्त समतुलन-मर्य्यादा के अनुपात से ही मानव चार प्रकार से सृष्टिविद्याओं का समन्वय कर सकता है, एवं उस चतुर्विधा सृष्टिविद्या की अभिमानी--देवतारूपा चतुर्विधा ही महाशक्तियों से अपने चतुर्विध सांस्कृतिक-आयोजनों का अनुगामी बनता हुआ **मोक्ष-धर्म्म-काम-अर्थ**-रूप-शास्त्रीय-चतुर्विध-आचारों के समान हीं इन आयोजनों से भी पुरुषार्थानुगामी बन सकता है, बना करता था आज से तीन सहस्र-वर्ष पूर्व के उस नैगमिक-सांस्कृतिक युग में, जिसमें चतुर्विध-राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-आयोजन **रक्षाबन्धन--विजयदशमी-दीपावली--होलिका**-रूपेण अपने-नैगमिक-सांस्कृतिक स्वरूप से सुव्यवस्थित थे। पारमेष्ठ्यपर्व ही रक्षाबन्धनपर्व का मूलाधिष्ठान है, सौरपर्व ही विजयदशमीपर्व का, दीपावलीपर्व ही चन्द्रपर्व का, एवं पृथिवीपर्व ही होलिकापर्व का अधिष्ठान बना हुआ है। चारों ही पर्व चतुर्विधा सृष्टिविद्याओं के भी स्मारक बने हुए हैं अपने तथाविध सांस्कृतिक-आयोजनों से। साथ हीं चारों ही आयोजन सर्वात्मक भी बने हुए हैं स्वयम्भुप्रजापति के पञ्चीकरणात्मक 'सर्वहुतयज्ञ' के अनुग्रह से। ये ही चारों आयोजन उसी समतुलनानुपात से मानवीय **आत्मा, बुद्धि, मन, शरीर,** इन चारों पर्वों से क्रमशः समन्वित हो रहे हैं।

१५४--सांस्कृतिक-आयोजन--चतुष्टयी के माध्यम से भारतीय--मानवसंस्कृति का पार--म्परिक संरक्षण, एवं वर्त्तमान 'सांस्कृतिक ? 'आयोजनों' ? का विडम्बनापूर्ण विजृम्भण—

चारों मानवीय पर्व ही क्रमशः **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र**-चारों वर्णप्रजाओं के मूल पर्व बन रहे हैं, जिसका तात्पर्य्य यही है कि, चारों हीं यद्यपि चारों पर्वों से समन्वित हैं। तथापि चारों में **ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण**-नामक-प्राकृतिक--विभिन्न--चतुर्विध प्राण-देवताओं के क्रमिक प्राधान्य से क्रमशः ब्रह्मानुगत आत्मभाव, क्षत्रानुगत बुद्धिभाव, विडनुगत मनोभाव, एवं पौष्णानुगत शरीरभाव ही ब्राह्मणादि चारों मानववर्णों में प्रधान बने हुए है। अतएव ब्राह्मणमानव आत्मपर्व से ही शरीरपर्वपर्य्यन्त अनुधावन करेगा। क्षत्रिय बुद्धिपर्व से ही चारों पर्वों का अनुगामी बनेगा, वैश्य मनःपर्व से ही चारों का संयोजक (जोड़ तोड़ बैठाने वाला) बनेगा, तो शूद्र शरीरपर्व से ही चारों भावों का अनुग्रह प्राप्त कर लेने में समर्थ बन जायगा। यो फलांश में जहाँ चारों समानोदर्क बने रहेगे, वहाँ प्रक्रियांश में प्रकृतिभेद से चारों के पर्व गौण-प्रधान-रूपेण विभिन्न

धर्म्मानुगत प्रकृतितन्त्र के भी स्वरूपसंरक्षक बने रहेंगे, जिस इस आत्मपुरुषानुगत समदर्शनमूलक, तथा प्रकृत्यनुगत–विषमवर्त्तनात्मक–प्रकृतिपुरुषलक्षण दाम्पत्य जैसा समन्वय इस नैगमिक–सांस्कृतिक–आर्ष भारतवर्ष में हुआ है, वैसा अन्य किसी भी देश में उपलब्ध नहीं है, जहाँ प्रकृति की आठवीं पीढ़ी में * अवस्थित नितान्त–वैकारिक–भूतभौतिक–प्रत्यक्षदृष्ट स्थूलभाव हीं उनके प्रवृद्धतम विज्ञान की महाभूमिका बनें हुए हैं। कदापि इत्थंभूत उस स्थूल भूतवादमात्र से मूलप्रकृति के, तथा पुरुष के अचिन्त्य–दाम्पत्य से सम्बन्ध रखने वाले वर्णानुगत भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों का संस्पर्श भी तो सम्भव नहीं है।

१५५–शरीरानुगत होलिकापर्व, मनोऽनुगत दीपावलीपर्व, बुद्ध्यनुगत विजयदशमीपर्व, एवं आत्मानुगत रक्षाबन्धनपर्व–नामक चारों सांस्कृतिक–आयोजनों के अन्त-रान्तरी–भावात्मक–सर्वसमन्वय से सम्पूर्ण भारत की अखण्डा राष्ट्रीयता का पारम्परिक–संरक्षण—

चारों पर्वों से अनुप्राणित रक्षाबन्धनादि चारों पर्व उक्त प्रकृतिभेद से अवश्य ही ब्राह्मणादि चारों वर्णों से क्रमशः समन्वित माने जासकते हैं, माने गए हैं शक्तिग्राहक–शिरोमणि लोकव्यवहार में। अतएव शरीराधारेण समन्विता सृष्टिविद्या का स्मारक–दाम्पत्यमूलक होलिकापर्व अवश्यमेव शरीरप्रधान माना जासकता है। एतावता ही इसे शूद्रप्रधान पर्व मान लिया जासकता है, जिस इस तथ्य का यों स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि–आत्मप्रधान रक्षाबन्धन पर्व त्मप्राधान्य से सृष्टिविद्या का स्मारक बन रहा है। अतएव समाविष्ट यद्यपि इस आयोजन में चारों हीं वर्ण हैं। किन्तु आत्मप्राधान्य से प्रसिद्ध हो गया है यह ब्राह्मणानुगत पर्व ही। बुद्धिप्रधान विजयदशमीपर्व में भी समाविष्ट चारों हैं। किन्तु बुद्धिप्राधान्य से यहाँ सृष्टिविद्याओं का संस्मरण है। अतएव इसे क्षत्रियानुगत पर्व मान लिया गया है। मनःप्रधान दीपावलीपर्व में मनःप्राधान्य से सृष्टिविद्याओं की प्रतिच्छाया समाविष्ट है, जिसमें चारों हीं वर्ण समाविष्ट हैं। किन्तु मनःप्राधान्य से बन रहा है यह वैश्यानुगत पर्व ही। तथैव–शरीरप्रधान 'होलिकापर्व' शरीरमाध्यम से मन–बुद्धि–महत्–रूप चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी नामक विश्वपर्वों का संस्पर्श करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिविद्याओं का ही स्मारक बना हुआ है। किन्तु माध्यम शरीरमूलक–कामभावात्मक भौतिक दाम्पत्य है इस पर्व का। अतएव इसे शूद्रानुगत पर्व मान लिया गया है, जब कि इसमें भी आत्मा–बुद्धि–मनः–शरीर–स्वरूपानुपात से चारों हीं वर्ण यथाधिकार–यथाविद्य–यथायोग्यता एक ही होलिका पर्व का विभिन्न–भावों से अनुगमन कर रहे हैं। सर्वसमन्वय के कारण ही तो तत्तद्वर्णप्रधान भी चारों सांस्कृतिक–आयोजनों को–**'महान्-राष्ट्रीय-पर्व'** ही मान लिया गया है, जिसमें व्यक्तिप्रतिष्ठामूलक व्यक्तित्त्व–विमोहन का प्रवेश भी निषिद्ध है।

---

* अव्ययपुरुषानुगत अक्षर ही **मूलप्रकृति**, है, इसका दूसरा प्रक्रम **आत्मक्षर** है, तीसरा **विश्वसृट्** है, चौथा **पञ्चजन** है, पाँचवाँ **पुरञ्जन** है, ६ ठा **पुर** है, ७ वाँ **पञ्चमहाभूत** है, एवं आठवाँ प्रक्रम नितान्त वैज्ञानिक वह **भूत-भौतिक** प्रपञ्च है, जिसे ही आज का भूतवादी 'प्रकृति' माने बैठा है। यही इसके प्राकृतिक (भूतभौतिक–वैकारिक) विज्ञान का समस्त इतिवृत्त है।

१५६–आत्मबुद्धिसंस्कृति से पराङ्मुख–आत्मदेवभावशून्य–मनःशरीरमात्र–समुत्तेजक–जड़काममूलक–नृत्यगीतवाद्यसमाकुलित–वर्त्तमान आयोजन, एवं तद्द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति का उत्तरोत्तर अभिभव—

सभी को स्व-स्व–मर्य्यादाओं के अनुपात से इन राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–आयोजनों का अधिकार प्राप्त है, जबकि आज के मानवतावादियों के नृत्य–गीतात्मक–आयोजनाभासों में पदप्रतिष्ठा–व्यामोहन से समन्वित विशेष वर्गों का ही प्रवेश वैधानिक बना हुआ है, जो कि इसप्रकार का प्रतिबन्ध भारतराष्ट्र की संस्कृति की दृष्टि से तो सांस्कृकित–प्रजा के लिए महावरदान ही प्रमाणित हो रहा है। परमात्मा करे–ये संस्कृतिशून्य–काल्पनिक आयोजन सर्वथा नियन्त्रित बनते हुए परोक्ष ही बन जायँ राष्ट्रीय–सांस्कृतिक–जागरण के इस प्रक्रान्त–अभिनव–माङ्गलिक मुहूर्त्त में, जो माङ्गलिक मुहूर्त्त इन विडम्बनाओं से ही फलमुखता से वञ्चित हो रहा है।

१–परमेष्ठ्यनुगत–आत्मपर्व–तदनुगत–ब्राह्मण–तदनुगत–रक्षाबन्धनपर्व

२–सूर्य्यानुगत––बुद्धिपर्व––तदनुगत–क्षत्रिय––तदनुगत–विजयदशमीपर्व

३–चन्द्रमानुगत–मनःपर्व–तदनुगत–वैश्य––तदनुगत–दीपावलीपर्व

४–पृथिव्यनुगत–शरीरपर्व–तदनुगत–शूद्र–––तदनुगत–होलिकापर्व



१५७–अग्न्याधानकर्म्मात्मक–नैगमिक–होलिकापर्व, एवं तदनुप्राणित नैदानिक–भूताग्नि–प्रज्ज्वलनात्मक–होलिकामहोत्सव—

होलिकापर्व से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी भावों का यथामति संस्पर्श करने की अबतक चेष्टा की गई, जिन चेष्टाकर्म्मप्रसङ्गों में आत्मभावप्रधान ब्राह्मणवर्ण की अपेक्षा से वसन्तानुगता–फाल्गुनी–पूर्णिमा से अनुप्राणित–अग्निजागरणात्मक–अग्निप्रज्ज्वलनात्मक–अग्न्याधानरूप उस दिव्य होलिकापर्व का भी समन्वय–समाविष्ट रहा, जिसका अङ्गकर्म्म नवसस्येष्टि भी बना हुआ है। यही वास्तविक **'होलिकायोजन'** है, जिसके सुशान्त हो जाने से, सहजभाषानुसार मानव के अध्यात्माग्नि में से आधिदैविक दिव्याग्नि के पराङ्मुख हो जाने से मानवाग्नि सर्वथा निस्तेज ही हो जाता है, जिस निस्तेजावस्थात्मिका अनात्मवादमूला शून्यावस्था से अनुप्राणित केवल भूताग्निप्रज्ज्वलनरूप–होलिकाकर्म्म कदापि राष्ट्र के अभ्युदय–निःश्रेयस् का कारण नहीं बन सकता। क्योंकि अधिदैवत ही अध्यात्म की प्रतिष्ठा माना गया है।

१५८–होलिकापर्व के आधिदैविक–आध्यात्मिक, एवं आधिभौतिक स्वरूपों का समसमन्वय—

अधिदैवतानुगत–समन्वित–अध्यात्म ही अधिभूत को व्यवस्थित–मर्य्यादित बनाता हुआ इसे माङ्ग-लिकता प्रदान किया करता है। होलिका के भूताग्निप्रज्ज्वलन–निबन्धन बाह्य–आयोजन से तो सभी परिचित

हैं, जिसे आज की भूतपरायणा--जड़ता ने सर्वात्मना सुपरिचित कर दिया है राष्ट्रप्रजा को। होलिकापर्व का आधिदैवकाग्निप्रज्ज्वलनरूप--साम्वत्सरिक--दिव्य--मध्वग्नि-आधानात्मक-नैगमिक-वास्तविक-सांस्कृतिक पक्ष क्योंकि तीन सहस्रवर्ष--पूर्वारम्भ में उपक्रान्त आत्म--देवभाव--वञ्चित शून्यवाद से उत्तरोत्तर अन्तर्मुख ही बनता आ रहा है शून्यवादसमर्थक सत्तातन्त्रों की दासतामूला सत्तासापेक्षता से, तथा तमोऽभिभूता वित्तलिप्सानुगता वणिक्-तन्त्र की दासता से। अतः हमनें प्रस्तुत सांस्कृतिक--निबन्ध मे सत्तानिरपेक्षा मूलसंस्कृतिलक्षणा आत्मदेवभावना को ही मूलाधार मानते हुए तदनुबन्धी सांस्कृतिक--नैगमिक आयोजनों की रूपरेखा का ही संस्मरणमात्र न्याय्य मान लिया है। और इसी न्यायानुवर्त्तन के साथ होलिकापर्व का सांस्कृतिक--पर्व अपने सांस्कृतिक--आत्मभावानुबन्धी इतिवृत्त से विश्राम ले रहा है, जिस इस विश्रान्ति के उपलक्ष में हीं दो शब्दों में परिशिष्टरूप से होलिकापर्व के मनः--शरीर--निबन्धन (किन्तु आत्मबुद्धिसमन्वित) उस लोकाचारात्मक--आयोजनस्वरूप को भी लक्ष्य बना लिया जाता है, जिसका भय दिखला कर हमारे लोकनिष्ठ सहयोगी--कृपालु--मान्य--मानव-श्रेष्ठ समय समय पर इंगलिशभाषा के सुप्रसिद्ध, किन्तु हमारे लिए अज्ञातार्थ-**'पापूलर'** शब्द के माध्यम से हमें लोकप्रियतानुगति के आदेशोपदेश देते रहने का निःसीम अनुग्रह करते रहते हैं।

१५६-फाल्गुनी पूर्णिमातिथि से अनुप्राणित होलिकापर्व, एवं तदनुगत वसन्तोत्सव की उपक्रमतिथि-माघशुक्लपञ्चमी, तथा उसकी लोकप्रसिद्धा 'वसन्तपञ्चमी' अभिधा—

स्मरण रहे--हम उस **'फाल्गुनी--होलिका'** के लोकाचार के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करने वाले हैं, जिसका वर्त्तमानयुग की 'संस्कृति'--विरुद्धा-**'फागण की होली'** से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है *। जिस प्रसिद्ध मास की पूर्णिमातिथि में यह लोकाचार सोल्लास मनाया, एवं **बलपूर्वक मनवाया जाता है,** उस फाल्गुनमास को ही सर्वप्रथम लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए। एवं इस अनुग्रहदृष्टि से पूर्व उन पर्वोत्सवों की तालिका का भी संस्मरण कर लीजिए, जिनका--वसन्तर्त्तु से ही सम्बन्ध माना गया है। होलिकोत्सव यद्यपि फाल्गुनी-पूर्णिमा से ही अनुप्राणित है। किन्तु वसन्तोत्सव का उपक्रम माघशुक्ल--पञ्चमी से ही उपक्रान्त हो जाता है। एवं चैत्र--पूर्णिमा--पर्य्यन्त यह पर्वोत्सव--परम्परा येनकेनरूपेण प्रक्रान्त रहती है, जिसमें प्रथम स्थान माघमुक्ल--पञ्चमी का है, जो लोक में **'वसन्तपञ्चमी'** नाम से प्रसिद्ध है।

१६०-वसन्तपञ्चमी-तिथि में समायोजित रतिपति-कामदेव, तथा कामपत्नी--रति का शास्त्रीय विधि से प्रतिमानपूजन, एवं तदनुप्राणित-(१)-मदनपूजनमहोत्सव का इतिवृत्त—

'रतिपति--मदनमहोत्सवात्मक-वसन्तोत्सव' का उपक्रम क्योंकि चतुर्थी-समन्विता--वसन्तपञ्चमी से होता है, अतएव माघशुक्ल--वसन्तपञ्चमी को होने वाले **'शारदा--महोत्सव'** से भी पूर्व रतिपति मदनदेव का ही पूजन--

---

* **'फाल्गुने--गगने--फेने 'णत्व' मिच्छन्ति बर्बराः'**—के अनुसार फाल्गुन को **'फागुन'** कहना तो फिर भी यथाकथञ्चित् क्षम्य है। किन्तु 'न' को 'ण' रूप में परिणत कर इसे--'फागण' कहना तो सर्वथा ही बर्बरता--लक्षणा उन्मत्तता है, जिसका सांस्कृतिकभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अर्चन विहित हुआ है शास्त्र में । समस्त शृङ्गारादि–आभूषणादि लोकपरिग्रहों से समन्विता, नृत्यपरायणा वीणावादनरता रतिप्रतिमा हीं रति का नैदानिक स्वरूप–माना गया है, एवं अत्यन्त आकर्षक बिम्ब से युक्त, अष्टभुजान्वित, शङ्ख–पद्मविभूषित–चापबाणालङ्कृत–मदभारेण निमीलित इव नेत्रयुगल, मकरध्वजयुक्त–इत्थं-भूत–भावों से समन्विता प्रतिमा ही कामदेव की नैदानिकी–प्रतिमा मानी गई है । इसप्रकार वसन्तोत्सवा–धिष्ठाता इस दाम्पत्य का ही सर्वारम्भ में पूजन–स्तवन होता है, जो कि रति, रतिपतिकामदेव–पूजनात्मक प्रथम महोत्सव यच्चयावत् वसन्तोत्सवों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है, जो कि **'मदनमहोत्सव'** नाम से व्यवहृत हुआ है ।

इदमप्यवधेयम् । यद्यपि वैशाखपर्य्यन्त वसन्तऋतु का साम्राज्य रहता है । अतएव मदनमहोत्सवात्मक वसन्तोत्सव वैशाख–पर्य्यन्त अनुधावन करते देखे सुने जाते हैं । तथापि वस्तुगत्या वसन्तानुगत 'मध्वग्नि' रूप कामप्रतिष्ठाभाव क्योंकि चैत्र–पर्य्यन्त ही रहता है । अतएव 'मधु' मास केवल चैत्रमास ही कहलाया है । अतएव चैत्रपर्य्यन्त ही वसन्तोत्सवानुगत–मदनमहोत्सव का प्राधान्य माना जायगा, माना है शास्त्र ने । माघशुक्ल–वसन्तपञ्चमी से आरम्भ कर चैत्रशुक्लचतुर्द्दशी–पर्य्यन्त का समय ही मधुप्रधान–मदनसमय है, जिसके उपक्रम में पञ्चमी, तथा उपसंहार में चैत्रशुक्ल–चतुर्द्दशी प्रतिष्ठित है । अतवए वसन्तपञ्चमी को जैसे शास्त्र ने आते हुए कामदेव का पूजनकर्म्म स्थापित किया है, तथैव चैत्रशुक्ल–त्रयोदशी को जाते हुए काम का पूजन विहित माना है । अतएव चैत्रशुक्ल-चतुर्द्दशी **'मदनचतुर्द्दशी'** नाम से ही प्रसिद्ध होगई है, एवं इसके प्रारम्भिक व्रत से सम्बद्धा चैत्रशुक्ल-त्रयोदशी 'मदनत्रयोदशी' नाम से प्रसिद्ध होगई है । निम्नलिखित वचन इन्हीं आद्यन्त के उपक्रमोपसंहारस्थलों के दोनों मदनमहत्सवों की ओर लोकमानसप्रज्ञों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं ।

१–वसन्तपञ्चम्यनुगतः-मदनमहोत्सवः—

माघमासे नृपश्रेष्ठ ! शुक्लायां पञ्चमीतिथौ ॥
रति–कामौ–च सम्पूज्य कर्त्तव्यः सुमहोत्सवः ॥१॥
[निर्णयामृते, मदनरत्ने च] ।
माघशुक्लचतुर्थ्यां तु वरमाराध्य च श्रियः ॥
पञ्चम्यां कुन्दकुसुमैः पूजां कुर्य्यात् समृद्धये ॥२॥ (हेमाद्रौ, वाराहे च)
(रतिस्वरूपम्)–शुभा रतिः (प्रतिमा) प्रकर्त्तव्या वसन्तोज्ज्वलभूषणा ॥
नृत्यमाना शुभा देवी समस्ताभरणैर्युता ॥
वीणावादनशीला च मदकर्पूरचर्चिता ॥३॥ (वीरमित्रोदये)
(मदनस्वरूपम्)-कामदेवस्तु कर्त्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि ॥
अष्टबाहुः स कर्त्तव्यः शङ्ख-पद्म-विभूषणः ॥
चापबाणकरश्चैव मदात्–अञ्चितलोचनः ॥४॥ [हेमाद्रौ] ।

——*——

२–चैत्रशुक्लत्रयोदशी–चतुर्दश्यनुगतः–मदनमहोत्सवः—

चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां मदनं दमनात्मकम् ॥
कृत्वा सम्पूज्य विधिवद् वीजयेद्व्यजनेन च ॥१॥
मधुमासे तु सम्प्राप्ते शुक्लपक्षे चतुर्दशी ॥
प्रोक्ता–'मदनभुञ्जी' ति सिद्धिदा तु महोत्सवे ॥२॥
पूजयिष्यन्ति ये मर्त्यास्तदङ्गभवपल्लवैः ॥
ते यान्ति परमं स्थानं मदनस्य प्रभावतः ॥३॥
चैत्रे मासि चतुर्दश्यां मदनस्य महोत्सवः ॥
भगवाँस्तुष्यते कामः पुत्रपौत्रसमृद्धिदः ॥४॥

—स्कन्दपुराणे

——*——

१६१–वसन्तपञ्चमीरूपा 'श्रीपञ्चमी' एवं तत्र समायोजित श्रीपूजनात्मक–(२)–'शारदापूजनमहोत्सव' के इतिवृत्त का समन्वय—

रतिपति कामदेव के पूजनार्चनानन्तर इसी माघशुक्ल–वसन्तपञ्चमी–तिथि में 'श्री' रूपा 'शारदा' का पूजन विहित है, जोकि '**शारदामहोत्सव**' नाम से प्रसिद्ध है। दीपावलीपर्व–प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है कि, पारमेष्ठ्य मण्डल ही सरस्वती, तथा लक्ष्मी नाम की दोनों महाशक्तियों का आवास, तथा आविर्भाव-स्थान है अङ्गिराधारा, एवं भृगुधारारूप से। इनमें सरस्वती ही श्वेतवर्णा 'श्री' है, लक्ष्मी ही काञ्चनकान्तिसन्निभा 'हिरण्मयी' है। हिरण्मयी लक्ष्मी, तथा शुक्लाम्बरधरा श्री, दोनों परस्पर '**अत्रा सखायः सख्यानि जानते**' के अनुसार अभिन्न हैं। वसन्तऋतु का अर्थ है आङ्गिरस अग्नि (मध्वग्नि नामक सौर अग्नि) का पार्थिव रज में आधान। इस का दशात्मक उपक्रम माघशुक्ल–वसन्तपञ्चमी–तिथि को ही हो जाता है। अतएव इसे '**शारदातिथि**' मान लिया गया है। शारदा (सरस्वती) का पूजनार्चन ही इस तिथि का प्रधान कर्म है। अतएव इस आयोजन को–'**शारदामहोत्सव**' कहा गया है। यही क्योंकि 'श्री' तत्त्व है, अतएव यह पञ्चमी '**श्रीपञ्चमी**' नाम से भी प्रसिद्ध है।

तरुणशकलमिन्दोर्बिभ्रती शुभ्रकान्तिः–
कुचभरनमिताङ्गी सन्निषण्णा सिताब्जे।
निजकरकमलोद्यल्लेखिनी पुस्तकश्रीः–
सकलविभवसिद्ध्यै पातु वाग्देवता नः ॥

—शारदातिलक–शारदातन्त्र

इत्यादि नैदानिक–आगमीय–ध्यानमन्त्रों से संस्मरण कर सरस्वती–बिम्ब का सोल्लासशास्त्रविधि–पूर्वक पूजन–आराधन–किया जाता है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

माघे मासे सिते पक्षे * पञ्चमी या श्रियः प्रिया ।
तस्याः पूर्वाह्ण एवेह कार्य्यं सारस्वतोत्सवः ॥

१६२–फाल्गुनकृष्ण-त्रयोदशी-तिथ्यनुगत-(३) 'महाशिवरात्रिमहोत्सव' का शास्त्रीय इतिवृत्त—

अनन्तर प्रमुख उत्सव आता है-'महाशिवरात्रि', जिसका आचारपक्ष आगम में गुहानिहित है, एवं आयोजनपक्ष आस्तिक प्रजा में स्फुट है । ज्योतिर्म्मय स्कम्भ की नैदानिक-प्रतिमारूप भगवान् शङ्कर का पूजन-अर्च्चन, विशेषतः अजस्ररूपेण 'जलघटाभिषेक' ही इस महोत्सवायोजन का लोकसम्मत पक्ष है। ऐसा ही तो हो रहा है प्रकृति में । पारमेष्ठ्य समुद्र में गर्भित प्रचण्ड–अग्निमूर्त्ति सौरतत्त्व ही रुद्रभगवान् हैं, जिनके घोरशरीर, शिवशरीर–भेद से दो स्वरूप माने गए हैं । वर्षाऋतु में, विशेषतः श्रावणमास में रुद्राग्नि का बाह्य भूताग्निस्वरूप आपोमय बन जाता है । यही साम्बसदाशिव (आपोयुक्त रुद्र) हैं, जिनका आराधन श्रावण में हीं होता है । फाल्गुन से यह सौररुद्र भूतल पर आने लगते हैं, जिनका प्रभाव ग्रीष्म आते आते तो प्रचण्ड ही हो पड़ता है । ग्रीष्म ऋतु में जो प्रचण्ड–आग्नेय वायु चलता है, वह साक्षात् रुद्र के ही मानो तीर हैं– 'येऽन्तरिक्षे रुद्रास्तेषां वात इषवः' (यजुःसंहिता) । इस असह्य रुद्रतापाग्नि को ही–'सान्तपनाग्नि' कहा गया है, जिसे 'रुद्र' ही कहा जायगा । इसीलिए तो संस्कृतिनिष्ठ विहारप्रान्त में सौरताप 'रौद' नाम से प्रसिद्ध है । श्रावण में तो वर्षाऋतु इसे शिवभाव में परिणत कर देती है । किन्तु फाल्गुनोपक्रान्ता ग्रीष्म-ऋतु में प्रत्यक्ष में कोई उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा इसे शिव बनाने का । उसी उपाय का नाम है–'जेंघढ-चढ़ाना', जो आज के सुसभ्य-सुशिक्षित–सुधारकों के लिए जहाँ एक व्यर्थ का विज्ञानशून्य कर्म्म है, नूतन वेदभक्तों के समाजविशेष के लिए जो अतीत विषय है, वही निगमागमनिष्ठा-आस्था–श्रद्धा–परायण–सनातन-आर्ष जनता के लिए निदानभावानुबन्धी अत्यन्त ही पावन सांस्कृतिक कर्म्म बना हुआ है । फाल्गुनी शिवरात्रि (फाल्गुनकृष्णत्रयोदशी–चतुर्द्दशी) में गृहस्थ, तथा गृहणियाँ कूप–तड़ागादि तटवर्त्ती प्रान्तों में स्थित आदिदेव महादेव का सोल्लास–पूजनार्च्चन करते हैं । वहाँ जलघटों से अभिषेक होता है आदिदेव का । यही जलधाराभिषेककर्म्म सांस्कृतिक राजस्थान के पुण्यक्षेत्रों में–'जेघढ़ चढ़ाना' नाम से प्रसिद्ध है । प्रायः सम्पूर्ण भारत में यह शिवरात्रिमहोत्सव मनाया जाता है । यों रुद्राग्निमूर्त्ति से सम्बद्धा इस **रुद्ररात्रिरूपा**

---

* इसी तिथि से सौभाग्याकांक्षिणी स्त्री का सुप्रसिद्ध पञ्चमीव्रत ६ मास के लिए प्रक्रान्त होता है, जिसका भविष्यादि पुराणों में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है, जैसाकि वहाँ के—

षट्पञ्चमीव्रतं सम्यक् श्रूयतां पापनाशनम् ।
सौभाग्यारोग्यसौन्दर्य्यपुत्रपौत्रधनप्रदम् ॥
माघे मासि सिते पक्षे पञ्चमी या शुभा भवेत् ।
तस्यामारभ्य कर्त्तव्यं 'षडब्द' व्रतमुत्तमम् ॥
—भविष्यपुराणोक्त–पञ्चमीव्रतकथा

कालरात्रि को भी आस्तिक प्रजा अपने इस नैदानिक उपासनाकर्म्म से–'शिवरात्रि–मृत्युञ्जयरात्रि' रूप में परिणत कर लिया करती है, जिस इस प्राणनिबन्धन परोक्ष–उपासना के रहस्य को भूतजड़वादी कदापि नहीं जासकता।

१६३–वसन्तोत्सवपरम्परानुगत, नैगमिक 'प्रेङ्ख' उत्सव के नैदानिकरूप-(४)-'दोलामहोत्सव' के इतिवृत्त का तात्त्विक समन्वय—

इसी वसन्त ऋतु में 'दोलामहोत्सव' भी आयोजित हो जाता है। सर्वप्रथम सवत्सा-पार्वती के आराधन से सम्बद्ध 'गणपतिगौरीपूजन (गणगोरपूज) महोत्सव' में पार्थिव प्रतिमारूप ईश्वर–गणपतिगौरी (ईसर–गणगोर) को झूले में झुलाया जाता है गृहदेवियों–कन्याओं के द्वारा। अनन्तर स्वयं इनका दोला-महोत्सव आरम्भ होता है। निगमशास्त्र में इसी के लिए–'प्रेङ्ख' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्तरिक्ष में इतस्ततः विचरण करने वाला वायु ही प्रेङ्ख है। इसी की गतिप्रतिकृति के कारण लोकप्रसिद्ध झूला (दोला) भी प्रेङ्ख कहलाने लग गया है, जिसका सुप्रसिद्ध ऐतरेय आरण्यक में–'अयं वै प्रेङ्खः-योऽयं (वायुः) पवते' [ऐ० आ० १।२।३।]–'पुरस्तात्–प्रेङ्ख उपक्लृप्तो भवति। स्थूणे रज्जू वीवध इति' [ऐ० आ० ५।१।३।] इत्यादिरूप से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। दो स्थूण [थूण–काष्ठमय ऋजुदण्ड] तथा एक तिर्य्यक् समधरातलात्मक काष्ठदण्ड सुदृढ कर के दृढतम रज्जू से ही इस प्रेङ्ख का स्वरूप निर्म्माण माना है भगवान् ऐतरेयने। शीत-ऋतु के प्राधान्य से श्लेष्मा का प्राधान्य स्वाभाविक है। अतएव वसन्त ऋतु में * श्लेष्मा-विकार

---

*–हेमन्ते चीयते श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति ॥
प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः ॥१॥
[शार्ङ्गधर—पूर्वखण्ड—द्वितीय अध्याय]

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्तोऽर्कांशुतापितः ॥
हत्वाग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरया जयेत् ॥२॥
तीक्ष्णैर्वमननास्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः ॥
व्यायामोद्वर्त्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बणम् ॥३॥
गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत् सुखी ॥
गुरु–शीत–दिवास्वप्न–स्निग्धा–म्ल–मधुरांस्त्यजेत् ॥४॥
—वाग्भटे सूत्रस्थाने तृतीयेऽध्याये

मुदित–कोकिलकूजितकाननं, मदनसूचककिंशुकशोभितम् ॥
कुसुमसौरभरञ्जितभूधरं, क्वणितमत्तमधुव्रतलालसम् ॥१॥
मकरकेतनबाणसमाकुलं, मुदितमेव समस्तमिदं जगत् ॥
मलयमारुतयुक्तगुणान्वितः, 'कफकरो' हि वसन्त–ऋतुर्भवेत् ॥२॥

आशङ्कित बन जाता है । अतएव आयुर्वेदने श्लेष्मानाशक पदार्थसेवन, एवं वमन–विरेचनादि प्रकार व्यवस्थित किए हैं वसन्तारम्भ में । 'दोला' भी इसीप्रकार का अङ्ग प्रमाणित हो रहा है । वातधातु का समुत्तेजक दोला [**हिंदोला–भूला**] वास्तव में श्लेष्मान्तक ही प्रमाणित होता देखा गया है, जो श्लेष्मान्तक के साथ साथ '**वमन**' [उल्टी] का भी प्रवर्त्तक बन जाया करता है । इसी प्रधान उपयोगिता के लिए, साथ ही सोमप्रधान, अतएव श्लेष्माप्रधान नारीवर्ग, तथा बालवर्ग के लिए मनोविनोदानुगत, एवं शारीरिक-स्वास्थ्यमूलक **दोलामहोत्सव** संग्राह्य बन गया है इस वसन्तऋतु में, जिसके सम्बन्ध में अग्निप्रधान, अतएव '**मरुप्रान्त**' नाम से प्रसिद्ध, अतएव च पवित्रतम [अग्निप्राधान्येन], अतएव अग्निमूला–त्रयीविद्या के प्रथमस्रष्टा भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा के सुप्रसिद्ध आवासस्थान-परमपावन–विश्वकेन्द्रस्थानीय पुष्करक्षेत्र से समलङ्कृत इस राजपत्तन [राजस्थान] में शिशिरजनित श्लेष्माविकार निःसीम नहीं बनने पाता । अपितु-'**प्रायेण प्रशमं याति-स्वयमेव समीरणः**' के अनुसार इस प्रान्त की अग्निप्रधानता से स्वयमेव यहाँ का आग्नेय वायु श्लेष्माविकार को शान्त कर देता है । हाँ, वर्षाऋतु में अवश्य ही आंशिक त्रिधातु–विकार यहाँ भी प्रस्फुटित हो जाता है । अतएव वसन्त में दोलामहोत्सव को प्रधानता न देकर प्रकृतिपरीक्षणकुशला राजस्थान की सांस्कृतिक–प्रज्ञा ने वर्षाऋतु को ही '**दोलामहोत्सव**' का प्रधान समय मान लिया है, जैसाकि इसके वर्षाकलीन महासङ्गीतात्मक सांस्कृतिक–लोकगीतों से सर्वात्मना संसिद्ध है ।

१६४--होलिकापर्वाङ्गभूत-(५) 'होलाष्टकमहोत्सव'—

दोलामहोत्सव के अतिरिक्त फाल्गुनी-पूर्णिमा के समन्वय से तत्पूर्वक के सात अहोरात्रों को मिला कर जो पारिवारिक-उल्लासपूर्ण–विविध छोटे–बड़े–आयोजन प्रक्रान्त रहते हैं, अष्ट–अहोरात्रानुगता उस उत्सवसमष्टि का ही नाम '**होलाष्टकमहोत्सव**' है, जिसका संक्षिप्त नाम होलिका–सम्बन्ध से आगे चलकर '**होलामहोत्सव**' नाम में परिणत हो गया है । होलिकार्च्चन के लिए सौरप्राणमयी गौमाता के पवित्रतम गोमय [गोबर] से सूर्य्य–चन्द्र–नक्षत्रादि–विविधाकार के माङ्गलिक उपल बनाना [जिन का हमारी प्रान्तीय भाषा में नाम है–'**बड़ूकल्या**', जिन की माला बना कर होलिका के अर्पण की जाती है । एवं इन्हीं के मृद्भाग से ईश्वर--पार्वती की ईसर--गणगोर की पार्थिव--नैदानिक प्रतिमाएँ बनाईं जाती हैं],--गृहलिम्पन, तत्र माङ्गलिक चित्र--चित्रण, वासन्तिक–किन्तु मर्य्यादा--समन्वित--नृत्य--गीत--वाद्यानुगमन, आदि आदि लोक--जीवनीयरसात्मक इन सम्पूर्ण अङ्गोत्सवों का नाम ही '**होलाष्टक महोत्सव**' है, जिन में वसन्तोत्सव के अतिरिक्त अन्यान्य सभी गृह्याचार गौण बन जाते हैं । अतएव गृहदेवियाँ कहा करती हैं कि-"**अरे ! अब तो होलाष्टक**

विविधः सुरतानन्दः, संश्रमः–कफवारकः ॥
कटु–क्षाराम्लकाः–सेव्याः शोधनं कफसम्भवे ॥३॥
व्यायामश्रमसंरोधखिन्नो विश्रान्तमानसः ॥
एवं क्रियासमापन्नो नरः शीघ्रं सुखी भवेत् ॥४॥
—इति वसन्तानुगतः–श्लेष्मोपचारः
—हारीते–प्रथमस्थाने-चतुर्थेऽध्याये

लग गए। अब और कोई काम नहीं हो सकता"। प्रधानपर्वरूप 'होलिका' के सम्मानातिथ्य में ही मानो यह अष्टक वर्ग समर्पित हो जाता है। होलाष्टकान्त तिथिरूप प्रधान पर्व को अभी सुरक्षित रहने दीजिए। पहिले तदुत्तरभावी अङ्गोत्सवों का दो शब्दों में समन्वय और कर लीजिए सूचीकटाहन्यायानुरोध से।

१६५-वासन्तिक-महामाङ्गलिक-(६)-'गणपतिगौरीमहोत्सव'—

जो माङ्गलिक–गोमयोपलमालाएँ (गोबर के बड़कल्यों की मालाएँ) होधिकादेवी के समर्पित होतीं हैं, उन्हीं के पार्थिव–गोमय-रज का अङ्गरूप से ही–(ज्वलदङ्गाररूप से ही) अमुक मङ्गलमहोत्सवसम्पादनके लिए घर में आनयन हो जाता है, जो मानो अग्न्याधान का ही संस्मरण करा रहा है। इसी अङ्गार–पार्थिव रज से चैत्रकृष्णप्रतिपत् को प्रातःकाल ही पुत्र–पौत्रादि–वंशसमृद्धि–संरक्षिका माताएँ, तथा सौभाग्याकांक्षिणी कन्याएँ सम्मिलितरूप से आदिदेव–महादेव–ईश्वर की, तथा सवत्सा माता पर्वती की पार्थिव–प्रतिमाएँ बनातीं हैं। एवं इन्हें काष्ठपट्टपर १६ दिवस–पर्य्यन्त पूजतीं रहतीं हैं। यही उत्सव-**'गणपतिगौरीपूजनमहोत्सव'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस में षोडशीप्रजापतिरूप सौरसाम्बसदाशिव–ईश्वर (ईसर), एवं तदर्द्धाङ्गिनी सवत्सा (गणपतियुक्ता) गौरी–पार्वती ही आराध्य दम्पती है। **"एक–दो–तीन–चार–पाँच–छह–सात–आठ–नौ–दस–ग्यारा–बारा–तेरा–चौदा–पन्द्रा–सौ····ला–ईसर भोला–थाल कचोला–राणी पूजे–राजने–ह्मे पूजाँ सुहागने–राणी को राज तपतो जाय–ह्माँको सुहाग–बधतो जाय"** इत्यादिरूपेण उपगीयमान–षोड़शीप्रजापति की सोलह–कलाओं के संस्मरणसे समवेत, महासङ्गीतात्मक–सांस्कृतिक–लोकगीतोंसे पुष्पित–पल्लवित इस महोत्सव के सर्वाङ्गीण समन्वय के लिए तो स्वतन्त्र–निबन्ध की ही कल्पना करनी पड़ेगी *।

१६६-चैत्रकृष्णाष्टमी-तिथि में समायोजित-(७)-'शीतलापूजनमहोत्सव' एवं उसका तात्त्विक स्वरूप—

अब एक प्रासङ्गिक लोकमहोत्सव का दिग्दर्शन और करा देना है, जो लोकमान्यता में **'शीतला–महोत्सव'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी प्रधान तिथि चैत्रकृष्णा–अष्टमी मानी गई है, जोकि–**'शीतलाष्टमी'** नाम से ही प्रसिद्ध है। शीतप्रकृतिक सोम, तथा उष्णप्रकृतिक अग्नि, दोनों के समन्वयात्मक 'तथ्य' का ही नाम 'दाम्पत्य' है, एवं इसी का नामहै 'वसन्त', जिसमें अग्नि सोम से मिल रहा है, एवं सोम अग्नि से समन्वित हो रहा है। अग्नि का प्रवेश ही मुख्य है वसन्त में। मध्वग्निरूप सौर दिव्याग्नि पार्थिव चान्द्रसोम में जब बसने लगता है, प्रवेश–करने लगता है, तो सोमानुगत यह मध्वग्नि 'वसन्त' नामसे प्रसिद्ध होजाता है, जैसाकि षड्ऋतुप्रकरण में स्पष्ट किया जाचुका है। इस तथ्यको लक्ष्य में रखिए, एवं 'शीतलाष्टमी' का समन्वय कीजिए अपनी नैगमिक–प्रज्ञा से।

पुरुषानुगत सौम्य–शुक्र की स्त्र्यनुगत आग्नेय–शोणित में आहुति होती है। अग्नीषोमात्मक इस आध्यात्मिक (मानवीय) यज्ञ से ही पुँ–स्त्रीभ्रूण-समन्वयपूर्वक–गर्भस्थिति होती है। ऋतुकालानुगामिनी

---

* संकल्प है कि, सांस्कृतिकदेवता की प्रेरणा हुई, तो मूलसंस्कृति के ही प्रतीकरूप–लोकगीतात्मक–धर्म्माचारसम्मत–सांस्कृतिक–लौकिक–उत्सवायोजनों के सम्बन्ध में भी स्वतन्त्र–निबन्धरूपेणैव किञ्चिदिव निवेदन करने की चेष्टा की जायगी।

स्त्री के शोणिताग्नि में गर्भसंग्राहक–धामच्छद वह मलीमस अग्निप्राण प्रतिष्ठित रहता है, जिससे आत्रेयी–बन जाने वाली स्त्री अमुक दिवसपर्य्यन्त अस्पृश्या ही बन जाती है, जोकि 'अस्पश्यता' तत्त्वमूला है, जिसके इस तात्त्विक मर्म्म को न समझ कर दुर्भाग्यवश यह घृणामूला बनती हुई आज राष्ट्रप्रजा के विघठन का ही कारण बन गई है, अथवा तो चाणाक्षचतुर–नैष्ठिक–राजनीतिविशारद–वृटिशसत्तातन्त्र के द्वारा बना दी गई है। मलीमस रक्तानुगत वही अत्रिप्राण अनुशयशेषरूप से गर्भाधानकाल में भी विद्यमान रहता है, जिस के बिना गर्भाधान ही सम्भव नहीं है, जैसाकि–'**ऋतुकालाभिगामीस्यात्**' इत्यदि स्मार्त्तवचन से प्रमाणित है। वही मलिन–दोषयुक्त–अत्रिप्राणसमन्वित रक्तांश–शुक्रशोणित–समन्वय के द्वारा सम्मिलित होने वाले स्त्री-पुँभ्रूणोंसे भी संयुक्त होजाता है। क्योंकि यह आग्नेय–मलीमस–रक्त-(शोणित) माता की मूलप्रकृति है, स्त्री की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इसे पितृतत्त्व–न कह कर '**मातृतत्त्व**' ही कहा जायगा। अवश्य ही सन्तति के शारीराग्नि में यह विकारात्मक–मलीमस–आग्नेन–रक्तांश येनकेनरूपेण प्रवर्ग्य बनता ही है, यदि इसे वैध उपायों से उपशान्त नहीं कर दिया जाता है, तो। वही प्रवर्ग्यभाग '**माता निकलना**' कहलाया है। मातृरूप शोणितांश ही तो शरीर से फूट कर निकलता है। अतएव इस रोग को मातृरोग, किंवा–'**माता**' कहना सर्वथा ही तत्त्वसम्मत प्रमाणित हो रहा है। माघवसन्तपञ्चमी से चैत्रसमाप्तिपर्य्यन्त, तत्रापि फाल्गुनकृष्ण से आरम्भकर चैत्रकृष्णपर्य्यन्त प्रकृति में वसन्ताग्नि का प्राधान्य–प्रक्रान्त रहता है। इस प्रधानता से मानव–मानवी के, विशेषतः सौम्यभावापन्न बालक–बालिकाओं के रक्त में प्रतिष्ठित उसी मलीमस–अत्रिसमन्वित मातृभाग को, शोणित को सहसा उद्दीप्त होनेका अवसर प्रकृत्या ही मिल जाता है। अतएव यही काल मातृरोग–प्रकोपकाल बन जाता है विशेषरूपेण।

यही इस रोग का भौतिक स्वरूप है, जिसके मूलमें सुसूक्ष्मा वह प्राणशक्ति भी प्रतिष्ठित है, जिसे '**मातृशक्ति**' ही कहा गया है। जिसके उष्ण–शीत–अनुष्णाशीतादि सभी भोग्य विवर्त्त बने हुए हैं। प्रत्येक भूत इसी चिच्छक्ति से समन्वित हो रहा है, जैसाकि–विजयदशमीपर्व के दशमहाविद्याप्रकरण में विस्तारसे संस्मरण किया जाचुका है। आग्नेयी मातृशक्ति की प्रतिद्विन्द्विनी शक्ति ही सौम्या मातृशक्ति है। इसी के आराधन का विधान हुआ है शीतलाष्टमीपर्व पर, जिसके सम्यक्–आराधनसे अवश्येमव आग्नेयी मातृशक्ति का प्रकोप शान्त होजाता है। आत्मानुगता–बुद्धिसे समन्वित मानसिक श्रद्धा के द्वारा सौम्या शीतला शक्ति का उसी निदानमाध्यम से पूजनार्च्चन–संस्मरण, एवं इस देवशक्ति के आधार पर प्रतिष्ठित सौम्य–शीतल–यातयाम (बासी–ठंढा) भौतिक-परिग्रह, दोनों 'प्राण–भूत' भावों के समन्वय से निश्चयेन श्रद्धास्थापरायणा भारतीय प्रजा तो मङ्गलभावनापूर्वक ही इस मातृरोग से अपना अनायासेमैव परित्राण कर लेती है, जबकि केवल भूतवादी इतरदेशीय-भूतवैज्ञानिक इस रोग के स्मरणमात्र से जहाँ मूर्च्छित होजाते हैं, वहाँ इसके आक्रमण से तो जीवनाशा ही छोड़ बैठते हैं। यही शीतलामहोत्सव की प्रासङ्गिक–पावनगाथा का संक्षिप्त माङ्गलिक–संस्मरण है *।

* निदानविद्यानुसार रासभ (गधा) इस शीतलामाता का वाहन माना गया है। गद्दभी का दुग्ध अत्यन्त ही शीतप्रकृतिक होता है। अतएव मातृरोग में इसका संग्रह अभीष्ट मान लिया गया है।

१६७-वसन्तोत्सव-मधुमहोत्सव-मदनमहोत्सव-होलिकामहोत्सव-पुष्पमहोत्सव-आदि विविध नामों से उपगीयमान होलापर्व की लौकिक--रूपरेखा का उपक्रम—

अलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन । अत्र प्रधान--विषयीभूत उस वासन्तिक--'होलिकापर्व' की लोकेतिकर्त्तव्यता का दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जिस के प्रसङ्ग से असन्त--ऋतु से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लोकोत्सव--पर्व **'ग्रामं गच्छन्-तृणं स्पृशति'** न्याय को चरितार्थ कर रहे हैं । फाल्गुनमास के सम्बन्ध से यह उत्सव **'फाल्गुनोत्सव'** नाम से, वसन्तऋतु के सम्बन्ध से **'वसन्तोत्सव'** नाम से, मध्वग्नि-रूप वासन्तिक-दिव्यसौराग्नि के सम्बन्ध से--**'मधुमहोत्सव'** नाम से, वसन्तसम्पातानुगत अग्नीषोमात्मक दाम्पत्यभावानुबन्ध से--**'दाम्पत्यमहोत्सव'** नाम से, मधुमूलक शुक्रानुगत कामभावमाध्यम से--**'मदनमहोत्सव'** नाम से, प्राणाग्निगर्भित भूताग्निप्रज्वलन के माध्यम से-**'होलिकामहोत्सव'** नाम से, एवं वसन्तऋतुजनित पुष्पोद्गमभावानुबन्ध से--**'पुष्पमहोत्सव'** नाम से, और विदित नहीं, किन किन नामों से लोकाचार में यह पर्व प्रसिद्ध हो रहा है, जिनका पर्य्यवसान वह 'फाल्गुनमास' ही बन रहा है, जिसके शब्दार्थ का पूर्व में उपक्रम हुआ हैं ।

१६८--फाल्गुनीपूर्णिमानुगत--'फाल्गुन' मास का अक्षरार्थ-समन्वय—

सारवद् घनभावात्मक केन्द्रावच्छिन्न वस्तुपिण्ड **'सहृदयं-सशरीरं सत्यम्'** परिभाषा से जहाँ **'सत्य'** कहलाया है, वहाँ असारवत्--तरलभावात्मक--केन्द्रवञ्चित--अतएव घनपिण्डमर्य्यादा से पृथग्भूत वस्तुभाव ही--**'अहृदयं अशरीरं ऋतम्'** परिभाषा के अनुसार **'ऋत'** कहलाया है । अग्निभाव 'सत्य' का स्वरूप--समर्पक है, सोमभाव--ऋतभाव का संरक्षक है । शिशिरऋतु में सर्वत्र ऋतसोम का ही प्राधान्य है, जैसाकि ऋतुप्रसङ्ग में निवेदन किया जा चुका है । शिशिर का अवसान फाल्गुन--पूर्णिमा को हो रहा है, इसी रात्रि से वसन्त का आरम्भ हो रहा है, जिसका अर्थ है सत्यभावानुगत ऋताग्नि का जन्मकाल । अपनी इस बालावस्था से अभी वसन्ताग्नि भी ऋत--शिथिल--असारवत् ही प्रमाणित हो रहा है इस मास में । इस ऋतभावप्राधान्य से ही फाल्गुन-मासीय ऋतसोम--ऋताग्नि--असारवत् प्रमाणित हो रहे हैं । इसी असारवत्ता--शिथिलता को व्यक्त कर रहा है **'फल्गु'** शब्द, जिसका तत्त्वार्थ है असारवत्--ऋतभाव । इस 'फल्गु' भाव के सम्बन्ध से ही यह मास **'फाल्गुन'** नाम से प्रसिद्ध होगया है । ऋतभाव ही **'पशव्य'** कहलाया है, जबकि बहुसारभाव **'अपशव्य'** कहलाया है * । इसी आधार पर कोशकार ने भी ÷ **'असारं फल्गु'** [अमरकोष--३।१।५६।] रूपेण

---

* **स एष बहुसारः--स ह--अपशव्यः । य एष फल्गुप्रासहः--स ह पशव्यः । तस्मात्तादृशं पशुकामो यूपं कुर्यात् ।** [शत० १२।६।३।१।] ।

÷ फल्गु ही फाल्गुन, तद्भाव ही भावुकता, निष्ठाशून्यता । मधुवृद्ध्या शुक्रवृद्धिः--कामवृद्धिः--मनोराज्यवृद्धिः,-अतएव भावुकताधृद्धिर्फल्गुमासे । अतएव--**'न फल्गुवाक्यैः प्रतिबोधनीयो राजा तु धीरैरिति नीतिशास्त्रम्'** इत्यादि नीतिवचन में शिथिल--मनोविनोदात्मक--हास--परिहासात्मक--वाक्यों को ही फल्गुवाक्य कहा गया है ।

अहस्तानि सहस्तानां, अपदानि चतुष्पदाम् ।
फल्गूनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य नाशनम् ॥—श्रीमद्भागवत १।१३।७।

इत्यादि सूक्ति में भी शिथिल प्राणियों, हीनसत्त्वों के लिए ही 'फल्गूनि' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

सारहीनभाव में हीं 'फल्गु' शब्द व्यवस्थित किया है। अतएव हैमकोष ने फल्गु को निरर्थकभाव का सूचक मान लिया है *। प्रान्तीय भाषा में जिसे फोसरा--पोला--ढीलाढाला--कहा जाता है, व्यवहारभाषा में जो शिथिल--श्लथ--[पिब्दमान] कहलाया है, वही फल्गुभाव है। सुप्रसिद्ध फल्गुनीनक्षत्र भी इसी 'फल्गु' भाव से सम्बन्ध रखता है, जिसका उदारता से सम्बन्ध है। उदाहृदय--उदारमना--मानव ही 'दाता' कहलाया है, जो कदापि अपने आपको 'बद्धमुष्टि' रूप पिण्डभाव में मुकुलित नहीं रख सकता। अपितु आपोमय ऋत--समुद्रवत् वह उन्मुक्तहृदय ही रहता है। प्रकृति में इसप्रकार के उन्मुक्तभाव का प्रदाता प्राणविशेष ही **'अर्य्यमा'** कहलाया है, जिसका अर्थ होता है दाता। फल्गुनीनक्षत्र इसी अर्य्यमाप्राण से समन्वित है, एवं यही इस पूर्वफल्गुनी--नक्षत्र का फल्गुभावत्त्व है, जिसमें फल्गुभावापन्ना ऋतसोममयी [शरीरतः] जाया [पत्नी], तथा ऋताग्निमय ऋषभ [पति] प्रतिष्ठित हैं। ऊपर नीचे के क्रम से दो नक्षत्र हैं पूर्वफल्गुनी के। ऊपर का नक्षत्र जायाभावात्मक है, नीचे का फल्गुनी ऋषभ भावात्मक है। यों अर्य्यमाप्राण से समन्वित दोनों फल्गुनी--नक्षत्र नाक्षत्रिक दाम्पत्य के ही प्रतिमान बने हुए हैं, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"अर्य्यम्णः पूर्वे फल्गुनी। जाया परस्तात्, ऋषभः अवस्तात्"।

[तै० ब्रा० १।५।१।२।]।

१६६--पूर्वफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता जघन्या रात्रि, एवं उत्तरफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता उत्तमा रात्रि—

दाम्पत्यमूर्त्ति--फल्गुभावात्मक--उदारमना-'पूर्वफल्गुनीनक्षत्र से अनुप्राणित मास ही फाल्गुनमास है, एवं तदनुबन्धिनी सम्वत्सरोपक्रमभूता पूर्णिमा ही वह फाल्गुनी पूर्णिमा कहलाई है, जिसमें शरीरपर्वानुगत--दाम्पत्य--मूलक--लोकनिबन्धन--होलिकोत्सव सम्पन्न होता है। शरीर, और तदनुगत मन, दोनों ही फल्गु हैं, भावुकता--परिपूर्ण हैं, जबकि--आत्मानुगत बुद्धितन्त्र अग्निप्राधान्य से निष्ठासमन्वित माना गया है। मनोऽनुगत भावुक नारीवर्ग, एवं शरीरानुगत सौम्य बालवर्ग, दोनों ही परिवार में फल्गुभावात्मक बनते हुए इस लोकनिबन्धन होलि-कोत्सव के मुख्य पात्र बने हुए हैं, जैसाकि--**'फाल्गुने बालका इव'** इत्यादि लोकसूक्ति से प्रसिद्ध है। अतएव इस बाह्य भूतदृष्टि से यह पर्व मनोऽनुगत शरीरप्रधान ही बन रहा है। अतएव च मनःशरीरप्रधान बालनारीवृन्द, एवं तत्समम भावुक मानववर्ग ही फाल्गुन मास में विशेषरूपेण उत्सवपरायण बना करते हैं, जिनमें शरीरप्रधान चतुर्थ प्रजावर्ग ही प्रमुख बना रहता है अपने शरीरधर्म्म से। तभी तो लोकव्यवहार में यह **'शूद्रों का त्यौंहार'** कहलाने लग पड़ा है।

सम्भवतः इस फल्गुरूपा--भावुकता के कारण ही फाल्गुनी-पूर्णिमा के बाह्य-भौतिक--स्वरूप को ऋषिने सम्वत्सर की जघन्या रात्रि मान लिया है। अतएव इस दिन अग्न्याधान विहित न कर उत्तरफल्गुनीनक्षत्र में हीं अग्न्याधान विहित माना गया है, जैसाकि निम्नलिखित श्रुतिवचन से स्पष्ट है—

"एषा वै जघन्या रात्रिः सम्वत्सरस्य-यत्-पूर्वे फल्गुनी। पुच्छत एव सम्वत्सर-स्याग्निमाधाय पापीयान् भवति। उत्तरयोरादधीत। एषा वै प्रथमा रात्रिः सम्वत्सरस्य-यदुत्तरे फल्गुनी। मुखत एव सम्वत्सरस्याग्निमाधाय वसीयान् भवति"।

—तै० ब्रा० १।१।२।८।

---

* **फल्गुः--काकोदुम्बरिके-वृक्षे-निरर्थकेऽपि च। [हैमः]।**

१--फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा-जघन्यारात्रि [पूर्वफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता]--सम्वत्सरान्त

२--चैत्रकृष्णप्रतिपत्---उत्तमारात्रि [उत्तरफल्गुनीनक्षत्रयुक्ता] सम्वत्सरारम्भ

१७०--फाल्गुनमासानुगता विभूतिचतुष्टयी का दिग्दर्शन—

फाल्गुनमास, तत्रापि दाम्पत्यभावानुगत जाया--ऋषभ--समन्वित पूर्वाफाल्गुनी--नक्षत्रों का साम्राज्य, और वसन्त के प्रभुत्त्व से समन्विता मधु--शुक्र--भावप्रधाना फाल्गुनी--पूर्णिमा। **एकैकमप्यनर्थाय,–किमु यत्र १--फाल्गुनमास, २–दाम्पत्यानुगति, ३–मधुशुक्रप्राधान्य, ४–फाल्गुनीपूर्णिमा--रूपेण चतुष्टयमेव समन्वितमेतस्मिन् होलिकामहोत्सवात्मके मदनमहोत्सवे**। मनस्तन्त्रपरायण, नितान्त भावुक हमारा अर्वाचीन कविसम्प्रदाय तो केवल--'**वासन्तिका वासराः**' के यशोवर्णन से ही--'**उन्मत्तवद् भ्रमति, कूजति--मन्दमन्दम्**' को अक्षरशः चरितार्थ करता आ रहा है त्रिगत तीन सहस्र वर्षों से प्रक्रान्ता निगमनिष्ठावञ्चिता मनोवशवर्त्तिनी भावुकता के निग्रह से।

१७१--मनोजदेवता की क्रीड़ास्थली वसन्तऋतु, एवं होलिकापर्व के द्वारा तन्नियन्त्रण—

वसन्तऋतु ही जिन मनोज कामदेवता की क्रीड़ास्थली है, उन का सम्मान भी इस पर्व पर होना ही चाहिए, मनोऽनुगता त्रिगुणभावान्विता प्रकृति के गुणभावों के परितोष, एवं उपशम के लिए, जिन मानस विकारों को यदि कल्पित–कृत्रिम-सभ्यता प्रदर्शन–व्यामोहन से अवरुद्ध कर लिया जाता है, तो यही प्रच्छन्न वेग आगे चल कर भीषण दुराचार–कर्म्मों में हीं परिणत हो जाता है। अतएव जो ज्ञानाग्नि में अपने काममय शुक्र की आहुति देने में असमर्थ हैं, अतएव वसन्त में प्रकृत्या ही जिनका शुक्रमय काम मधुवर्षण से आन्दोलित हो पड़ता है, उन्हें अत्यन्त ही जागरूकता के साथ अपने वागग्नि में, रस–राग समारोहों में हीं इस उद्वेग को आहुत कर देना चाहिए, जिस इस उद्वेगशान्तिमात्र के लिए ही होलिकापर्व का यह बाह्य अङ्ग विशेषरूपेण इसलिए व्याख्येय नहीं है कि, इसका ज्ञानाग्नि–जागरणमूलक-अग्निसमिन्धनात्मक–नैगमिक–प्रतिष्ठाभाव सर्वथा ही राष्ट्र से पराङ्मुख हो गया है। अतएव कदापि आत्म–बुद्धि–निष्ठाशून्य, केवल मनःशरीरपरायण आज के राष्ट्र के लिए होलिका का वर्त्तमान–बाह्य–स्वरूप श्रेयःकर्म्म नहीं माना जा सकता, जबतक कि यह अपनी मूलनिष्ठा को पुनः प्राप्त नही कर लेता। बिना आध्यात्मिक अग्निप्रज्ज्वलन के कदापि भौतिक अग्नि इस राष्ट्र का कोई हितसाधन नहीं कर सकता। अपितु निष्ठाविगलित ऐसे मनःशरीरप्रधान आयोजन तो राष्ट्र को उत्तरोत्तर फल्गुभाव में हीं परिणत करते जारहे है इसके इन फाल्गुनीय–बाह्य–उन नर्त्तन–वादन–गायनों से, जिन आत्मबुद्धिनिष्ठा–वञ्चित इत्थंभूत असांस्कृतिक विजृम्भणों को ही आज हमारे राष्ट्रकर्णधार सांस्कृतिक–आयोजन मानने–मनवाने की महती भ्रान्ति करते जारहे हैं।

१७२–मनस्तन्त्रानुगत सत्त्व–रज--स्तमो–गुणों के निदर्शन—

निश्चयेन आत्म–बुद्धयनुबन्धिनी संस्कृति से पराङ्मुख मन अपने सत्त्वभाव से पराङ्मुख होता हुआ धर्म्मशून्य ऐन्द्रियक–जड़काम का ही वशवर्त्ती बन जाया करता है। सत्त्वगुणान्वित मन ही मर्य्यादित–धर्म्म–कामपूर्वक अपने मङ्गलमय–दाम्पत्यभाव से प्रजातन्तुवितान करता हुआ होलिकापर्व का वास्तविक अधिकारी माना जायगा। ईश्वर–देव–द्विज–गुरु-निगमागमपुराणस्मृतिशास्त्र–आदि की सर्वथा अमान्यता, सदा ही

विषादमुद्राओं की अनुगति, आलस्यपरायणता, मायाचार–असत्य–छल–कपट–दम्भ–मद–मान–दर्प–ईर्ष्या–असूया–कलह–आदि से युक्ता दुष्टा मति, अभक्ष्यभक्षण–अगम्यागमन–द्यूत–मद्यपान–हिंसा–आदि निन्दित अमानवीय दानवीय कुकर्म्मों में सदा अभिरुचि, सदैव शयनपरायणता, क्रोधान्धता, सर्वोपरि मूढ़ता जहाँ मानस तमोगुण के परिचयचिह्न माने गए हैं (१)–,एवं क्रोधावेश, भर्त्सन–ताडन, सदा ही दुःख–चिन्ता–निमग्नता, सदा ही सुख के लिए आतुरता, मदगर्विष्ठता, निरतिशया कामुकता, अश्लील भाषण, अलीकवचनानुगति (कृत्रिम दम्भरक्षार्थ थोड़ा बोलना, एवं अप्रिय बोलना भी अलीक ही माना गयाहै), सामान्य से संकट में अधीरता, अहङ्कारदर्पता (अपने आपको बड़ा आदमी मान बैठने की भ्रान्ति), भूतपरिग्रहों के माध्यम से अतिमानिता का अनुगमन, सुषुप्ति में सुखानुभूति, इतस्ततः परिभ्रमणशीलता, आदि–आदि जहाँ मानस रजोगुण के (२) परिचायक माने गए हैं, वहाँ आस्तिकता, समानविभागानुगति, उत्तापराहित्य, तथ्यपूर्ण वाणी, मेधा–बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, निर्दम्भता, सत्कर्म्मानुगति, सहजविनय, शिष्टता, आदि आदि मानस सत्त्वगुण के (३) के परिचायक माने गए हैं। अयमत्र संग्रहः—

(३)–सत्त्वमनोलक्षणानि—

आस्तिक्यं–प्रविभज्य भोजन–मनुत्तापं–च तथ्यं वचः—
मेधा–बुद्धि–धृति–क्षमा च करुणा–ज्ञानञ्च–निर्दम्भता ॥
कर्म्मानिन्दित–मस्पृहञ्च–विनयो सदैवादरा—
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥१॥

(२)–रजोमनोलक्षणानि—

क्रोध–स्ताड़नशीलता च बहुलं दुःखं–सुखेच्छाधिका—
दम्भः–कामुकता–प्यलीकवचनं–चाधीरता ह्यहङ्कृतिः ।
ऐश्वर्य्यादभिमानिताऽतिशयिता–ऽनन्दोऽधिकश्चाटनं—
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥२॥

(३)–तमोमनोलक्षणानि—

नास्तिक्यं–सुविषण्णता–ऽतिशयिता–ऽलस्यञ्च–दुष्टा मतिः—
प्रीतिर्निन्दितकर्म्मशर्म्मणि–सदा, निद्रालुताहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि–सततं क्रोधान्धता–मूढता—
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणा चेतसः ॥३॥

१७३–सत्त्वगुणान्वित मन के द्वारा धर्ममूलक काम का नियन्त्रण—

त्रिगुणात्मक इत्थंभूत मन जबतक सत्त्वगुणानुगत नहीं बन जाता, दूसरे शब्दों में जबतक मानव के प्रकृतिसिद्ध शरीराकृतिनिबन्धन–पार्थिव तमोगुण, तथा मनःप्रकृतिनिबन्धन चान्द्र रजोगुण, इन दोनों पर (मनः शरीर पर) अहंभावनिबन्धन–सौर–सत्त्व–गुण का नियन्त्रण नहीं हो जाता, तबकत मानव के मन से विनिर्गत 'काम' कदापि धर्म्मसम्मत नहीं बन सकता । सहजभाषानुसार आत्मानुगता सहज सत्त्वबुद्धि से (गीता के शब्दों में अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग से *) ही मानव के मन और शरीर नियन्त्रित रहते हुए सत्वानुगत धर्म्ममूलक काम, तथा धर्म्ममूलक अर्थ से अनुगत रहते हैं । जो राष्ट्र उद्घोषपूर्वक अपने आपको धर्म्मनिरपेक्ष घोषित कर देता है, आत्मबुद्धिवञ्चित, अतएव सर्वप्रतिष्ठावञ्चित उस राष्ट्र के नास्तिसार–शून्यभावानुगत–फल्गुभाव-समतुलित मनः–शरीरतन्त्र राष्ट्र को किस अचिन्त्य–अप्रतर्क्य–अन्ध तम में प्रविष्ट करा देगें ?, उस घोरघोरतमा भयावहा स्थिति का संस्मरण न करना ही श्रेयःपन्था है सांस्कृतिक–गाथाप्रसङ्ग में ।

१७४–कामदेव के सुतीक्ष्ण पञ्चबाण—

आत्मबुद्धिभावानुगत मनःशरीरतन्त्र ही फाल्गुन के 'होलिका पर्व' के अनुगामी–बनने चाहिए, यही प्रासङ्गिक गुणभाव का निष्कर्ष है । आत्मबुद्धिवश्यता से अनुगत मानस–शारीरिक–ऐन्द्रियक–भाव कदापि पतन के कारण नही बन सकते÷ । इसी दृष्टिकोण को आधार बना कर कामदेव के सुतीक्ष्ण पञ्चबाणों की तीक्ष्णता उपशान्त की जा सकती है, जो पञ्चायुधात्मक पञ्चबाण क्रमशः– × **द्रवण–शोषण–तापन–मोहन–उन्मादन**–नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनकी व्याख्या की महती योग्यता से हमारा वेदाभ्यासजड़ मन तो सर्वथा ही वञ्चित है ।

१७५–विश्वेश्वरहृदयस्थ कामदेवता के प्रकृतिसिद्ध नित्य पञ्चबाण—

सुनते हैं–पाँच प्रकार के पुष्प कामदेव के पञ्चधनुष कहलाए हैं, जो क्रमशः–**अरविन्द (रक्तकमल), अशोक, आम्र, नवमल्लिका (मोगरा) नीलोत्पल (नीलकमल)**–नामों से कविसम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध हैं । + मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति स्वयम्भू ब्रह्मा से ही तो (इन के मनोभाव से ही तो) '**कामस्तदग्रे**

---

* गीताभूमिका के ७ वें–'बुद्धियोगपरीक्षात्मक' अष्टमखण्ड में (जो सातसौ पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है) इस अबुद्धियोगात्मक–बुद्धियोग का ही विस्तार से यशोगान हुआ है ।

÷ रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता २।६४)

× द्रवणं–शोषणं–बाणं, तापनं–मोहनाधिकम् ।
उन्मादनञ्च–कामस्य बाणाः पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥

+–अरविन्द–मशोकञ्च–चूतञ्च–नवमल्लिका ॥
नीलोत्पलञ्च–पञ्चैते–पञ्चबाणस्य सायकाः ॥ १ ॥

समवर्त्तताधि-मनसो रेतः-प्रथमं यदासीत्' (ऋक्सं० १०।१२६।४।) इत्यादि रूपेण कामतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है, जिस सत्यसंकल्पात्मक आत्मकाम (प्राजापत्यकाम) से ही पञ्चपर्वा प्रकृति का, एवं तत्मूलक पञ्चपर्वा विश्व का आविर्भाव हुआ है। **स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी**-नामक पाचों विश्वपर्व प्रसिद्ध हैं, जिन के आधार पर ही समस्त निगमागमपुराणेतिवृत्त वितत हुआ है। पाँचों प्राकृतिक-विश्वपर्वों के केन्द्र में मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति व्यष्टिरूप से प्रतिष्ठित होते हुए तत्तत् विश्वपर्वों के उक्थ-ब्रह्म-सामात्मक आत्मा बने हुए हैं। यही केन्द्रीय आत्मप्रजापति 'मनोता' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। यों प्रजापत्य-मानस काम पञ्चधा विभक्त हो रहा है। ये ही तो नैगमिक-सांस्कृतिक वे पाँच कामबाण हैं, जिन के आचारात्मक-प्रयोग-प्रहारों से ही सम्पूर्ण भूत-भौतिक सर्गों के योषावृषात्मक दाम्पत्यभाव क्रीड़ापरायण बनते हुए **'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** इस श्रौत आदेश को अक्षरशः अन्वर्थ प्रमाणित कर रहे हैं। और यों स्वयम्भू प्रजापति की वह हृद्या अनवद्या मानस-कामना सर्वात्मना सफल हो रही है विश्वविजयी मनोज के द्वारा, जिस का स्वयं ब्रह्माने इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

ब्रह्मोवाच—स्त्रीपुंसोः क्रीडनार्थाय मुदा त्वञ्च विनिर्म्मितः।
हृदि येगेन सर्वेषामधिष्ठानं भविष्यसि ॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण-श्रीकृष्णजन्मखण्ड-३५ अध्याय

१७६-पार्थिवरज, और 'उड़त गुलाल-लाल भए बादल'—

रागात्मक-रजोगुणसमुद्भूत * रसराज कामदेव के सम्मानातिथ्य में आयोजित फाल्गुनी-पूर्णिमा के उत्तर दिवस (चैत्रकृष्णप्रतिपदा-पड़वा) में समायोजित रागात्मक (रँगात्मक) रसवर्षण के अतिरिक्त प्रायः उन सभी मानस-भावों का लोकसंग्रहदृष्ट्या दिग्दर्शनाभास करा दिया गया, जिनका होलिका-महोत्सव से सम्बन्ध है। क्या द्वितीय दिवसीय रागरञ्जनात्मक रजो-(पराग-गुलाल)-वर्षण, तथा रँगवर्षण के साथ भी काममहाभाग के साथ कोई प्राकृतिक सम्बन्ध है?, प्रश्न के सर्वात्मना समन्वय की न तो योग्यता ही है, न अवसर ही। कामजनक 'राग' तत्त्व संगीतानुगत षट् प्रधान राग, तदनुगता रागनियाँ, आदि भेदेन अनेक भावों में भिन्न हैं, जिन से-**'तस्माद् ब्राह्मणो न नृत्येत-न गायेत'** इस आदेशानुसार हमारा मनस्तन्त्र असंस्पृष्ट ही है। है अवश्य ही यह काम का सहायक, जैसाकि-**'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्'**-इत्यादि भागवतीय-वचन से प्रमाणित है। अतएव संगीतात्मक राग भी मर्य्यादारूपेण समायोजित होना ही चाहिए मदनमहोत्सवात्मक

सम्मोहनं--समुद्वेगबीजं-स्तम्भनकारणम् ।।
उन्मत्तबीजं ज्वलनं शश्वच्चेतनहारकम् ॥ २ ॥
सम्मोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा ।।
स्तम्भनञ्चेति कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्त्तिता ॥ ३ ॥

* **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।**
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (गीता ३।३७।)

होलिकामहोत्सव के द्वितीय–दिवसीय 'वसन्तोल्लासमहोत्सव' में । 'यः पार्थिवानि विममे रजांसि' (ऋक्संहिता) के अनुसार पार्थिवी कामशक्ति से ही तो पार्थिवरज पार्थिव–स्तोम्य त्रैलोक्य में व्याप्त होते हुए आकाशीय मेघों को मानो रक्ताभ बनाते हुए होलिका पर्व के–'उड़त गुलाल लाल भए बादल' उद्घोष को चरितार्थ कर रहे हैं । अवश्य ही जवापुष्पों (एतन्ननामक वृक्ष के रक्तपुष्पों) के राग से समाप्लुत उस रँग से भी अपने भौतिक शरीरों को आपोमय बना ही लेना चाहिए, जो जवारँग–जपापुष्प–उष्णप्रकृतिक बनते हुए वसन्त में उत्पन्न श्लेष्माविकार को भी उपशान्त कर देते हैं, एवं कामशक्ति के दुर्द–मनीय ताप को भी मर्य्यादित बना देते हैं ।

१७७- फाल्गुनानुगत रस–राग–रँग—

गत्यर्थक, एवं वेगार्थक 'जव' धातु से निष्पन्न होने वाला 'जवा'-शब्द तन्नामक पुष्प में रक्तादि धातु-सञ्चरण की योग्यता ही व्यक्त कर रहा है, जो कि सञ्चरणभाव श्लेष्मान्तक माना गया है । अत्यन्त ही मधुर–गन्धयुग्ध 'जवा' वृक्ष का पुष्प भी 'जवा' ही कहलाया है, जिसका सुप्रसिद्ध तैल–'जवाकुसुमतैल' नाम से प्रसिद्ध है । रक्तवर्णाभ, तथा गत्यग्निभावापन्न जवापुष्प अपनी इस अग्निप्रकृति के कारण ही सूर्य्यनारायण की आराधना में परिगृहीत है । कटुत्त्व–उष्णत्त्व-इन्द्रलुप्तविनाशकारित्त्व [गँजनिवारकत्त्व]–सूर्य्याराधन–प्रसाधनत्त्व–इत्यादि गुण माने हैं राजनिघण्टु ने इसके । जिस स्त्री में अमुक दोष से रक्तस्राव अवरुद्ध हो जाता है, अतएव जिसकी प्रजननशक्ति कुण्ठित हो जाती है, अमुक अन्य द्रव्यों के सम्मिश्रण से युक्त जवापुष्परस उसे ऋतुमती बना देता है * । यही इसका अग्निगुणकत्त्व, एवं श्लेष्मान्तकत्त्व है । जवा ही लोकव्यवहार में 'जपा-पुष्प' नाम से भी प्रसिद्ध हो गया है । प्रायः फाल्गुन–चैत्र में ही जवापुष्प विकसित होते हैं । अतएव इन अरुण–लोहित पुष्पों को श्रुति ने तो–'फाल्गुनानि' ही कहा है । अमुक यज्ञकर्म्म में [सोमयागविशेष में] इसे सोम का प्रतिनिधि मान लिया गया है, उस सोम का–जो गायत्रीरूप पार्थिव श्येनाग्नि के एति-प्रेति-धर्म्म से परमेष्ठी से पार्थिव अग्नि की आहुति बनता है । देखिए !

द्वयानि वै फाल्गुनानि–लोहितपुष्पाणि, च अरुणपुष्पाणि च । स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि, तानि–अभिषुणुयात् । एष वै सोमस्य न्यङ्गः (प्रवर्ग्यांशः), यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि । श्येनहृतमभिषुणुयात् (गायत्री-सम्बन्धेन), आदारानभिषुणुयात् । अरुण-दूर्वा अभिषुणुयात् । (शत० ४।५।१०। २ कण्डिका से ६ कण्डिका पर्य्यन्त) ।

१७८–लोकाचारात्मक–सङ्गीतमय -होलिकामहोत्सव—

सोमधर्म्म से शुक्र का, अग्निप्रकृति से शोणित का, मधुरगन्धधर्म्म से मनोरञ्जक इस वासन्तिक पुष्प से, एवमेव तत्सदृश ही अन्यान्य अनुरूप–गुणधर्म्मों से समन्वित पुष्परसों से विनिर्म्मित रँगों में [मर्य्यादा–पूर्वक] निमज्जित होना होलिकापर्वानुगत वसन्तोत्सव में अनुरूप ही माना जायगा । और यों लोकाचारानुगत होलिकामहोत्सव से अनुप्राणित सङ्गीत, रस–राग–रञ्जन, विविध वर्णयुक्त पार्थिव रजोऽनुगति, आदि भावों का

---

* सकाञ्जिकं जवापुष्पं मृष्टं ज्योतिष्मती दत्तम् ।
दूर्वापिष्टञ्च सम्प्राश्य वनिता त्वार्त्तवं लभेत् ॥

समर्थन ही किया जायगा मनःप्रधान भावुक मानवसमाज की भावुकतासंरक्षण के लिए सर्वथा तटस्थरूप से ही, जिस इत्थंभूत मनोविनोदात्मक वसन्तोत्सव के महान् पर्व होलिका की, होलिका के भौतिक स्वरूप की इतिकर्त्तव्यता [आयोजनस्वरूप] निम्न लिखित रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

१७६-होलिकाप्रज्ज्वलनकालनिर्णय—

"भद्रायां द्वे न कर्त्तव्ये श्रावणी फाल्गुनी तथा। भद्रायां दीपिता होली राष्ट्रभङ्गं करोति वै। नगरस्य च नैवेष्टा, तस्मात्तां परिवर्जयेत्" इत्यादि स्मार्त्तादेशानुसार प्रतिपदा से विद्धा, तथा भद्रा से युक्ता होलिका [होलिका प्रज्ज्वलन] शकुनशास्त्र के अनुसार वर्ष भर के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र को चिन्ताज्वाला से समन्वित कर दिया करती है। अतएव-**'पूर्वविद्धा प्रकर्त्तव्या फाल्गुनी पूर्णिमा तथा'** के अनुसार चतुर्दशी-विद्धा, भद्राविहीना पूर्णिमा का प्रदोषकाल ही होलिकाप्रज्ज्वलनकाल माना गया है, जिसमें भद्रा की अपेक्षा से कालविपर्य्यय भी होता रहता है। होलिका के सम्बन्ध में निम्नलिखित आख्यान सुप्रसिद्ध है।

१८०-पौराणिक आख्यान के द्वारा होलिकामहोत्सव के लौकिक स्वरूप का प्रदर्शन, एवं तन्माध्यम से नैगमिक होलिकापर्व का स्वरूप-समन्वय—

एकबार युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न किया कि-भगवन्? क्या उद्देश्य है इस होलिकोत्सव का?। फाल्गुनमासान्त-पूर्णिमातिथि में ग्राम-गाम में, और नगर नगर में उल्लासपूर्वक क्यों मनाया जाता है यह उत्सव?। किसलिए इस उत्सव में बालवृन्द घर घर में अलीकवादनपरायण [अश्लीलवादनपरायण] बन जाते हैं?। क्यों होलिका प्रज्ज्वलित की जाती है?। इसके माध्यम से किस देवता का पूजन-आराधन संसिद्ध होता है?। एवं किसने इसका इस रूप से उपक्रम किया?। क्या क्या होता है इस पर्वावसर पर?।

युधिष्ठिर उवाच-"किमर्थं फाल्गुनस्यान्ते पौर्णमास्यां जनार्दन !
उत्सवो जायते लोके ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे ॥१॥
किमर्थं शिशवस्तस्या गेहे गेहेऽतिवादिनः ।
होलिका दीप्यते कस्मात् फाल्गुन्यां तु किमुच्यते ॥२॥
अडाडजेति का संज्ञा शीतोष्णेति किमुच्यते ॥
कोऽह्यस्यां पूज्यते देवः केनेयमवतारिता ॥
किमस्यां क्रियते कृष्ण ! एतद्विस्तरतो वद ! ॥३॥

श्रीकृष्ण उवाच—भगवान् ने उत्तर देना आरम्भ किया कि, हे युधिष्ठिर ! पूर्व युगों में इस भारत-राष्ट्र में 'रघु' नामक नृपति शासन करते थे, जो बल-वीर्य्य-पराक्रम-भावों से शूर-वीर थे, सर्वगुणसम्पन्न थे, अत्यन्त मधुरभाषी थे, एवं अनेक विद्याओं के जानकार थे। इन्होंने अपने बाहुबल से अखिल भूमण्डल को जीत कर, इसके सम्पूर्ण सामन्त-शासकों को अपने आधीन कर एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। तदनन्तर धर्म्मपूर्वक प्रजाओं का उसी प्रकार पालन करने लगे, जैसे कि पिता अपने औरस पुत्रों का पालन किया करता है। सम्राट् रघु के उस धार्म्मिक, एवं प्रजानुरञ्जनात्मक सुशासनकाल में न तो कभी अकाल ही पड़ता था, न

रोग ही आक्रमण करते थे, न अकालमृत्यु का ही भय था, न कोई अधर्म्म-कार्य्यों की ओर ही दृक्पात करता था, इसप्रकार सभी दृष्टियों से रघुराज का शासनकाल सुसमृद्ध-निष्कण्टक प्रमाणित हो रहा था।

एकबार दैववश कुछ ऐसा घटित हो पड़ा कि, सहसा प्रजानन त्राहि ! त्राहि !! हमारी रक्षा कीजिए !!! हमें बचाइए ! की करुण ध्वनि का अनुगमन करते हुए राजा की शरण में आने लगे, और कहने लगे कि-राजन् ! हम पर अकस्मात् एक भयानक संकट उपस्थित हो गया है। 'ढुण्ढा' नाम की एक भयावहा राक्षसी दिन-रात-सायं-प्रातः-मध्याह्न-जब चाहती है, हमारे घरों पर आक्रमण कर देती है, एवं हमारे अबोध बालकों को उत्पीड़ित करती रहती है। हमने अपनी जान में सभी प्रकार के उपाय-उपचार कर लिए। बड़े बड़े आगमाचार्य्यों नें भी प्रयास कर लिया। किन्तु कोई भी उस पापिनी का अबतक नियन्त्रण न कर सका।

पौर-जानपदों का तथाकथित करुण-क्रन्दन, तथा तत्प्रवर्त्तिका राक्षसी का चरित्र सुन कर रघुराज एकबार तो चिन्तानिमग्नमानस बन गए। कुछ भी समझ में न आया अपने धर्म्मशील राज्य में हो पड़ने वाले ऐसे आकस्मिक-अचिन्त्य संकट का कारण। अतएव अन्ततोगत्त्वा देवर्षि नारद के सम्मुख ही नृपति ने यह समस्या रख देना उचित समझा। भक्तप्रवर नारद ने सब कुछ सुन सुना कर उपद्रव-कारण की मन ही मन मीमांसा कर तन्निवृत्ति के लिए यह उपाय ही व्यक्त किया कि-राजन् ! आज फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की पूर्णिमा तिथि है। आज से शीतकाल चला गया है, कल से ग्रीष्मकाल आरम्भ हो जायगा। अतएव सब पौरजनों की ओर से सर्वेश्वर भगवान् के प्रति प्रणतभाव से हमारी आज की इस पुण्य तिथि (सत्यनारायणतिथि) में यही प्रार्थना होगी कि-"हे भगवन् ! अब आप आज से ही अनुग्रह कर लोक-प्रजाओं के भय को उपशान्त करने का अनुग्रह करें, जिससे कि पौर-जानपद निःशङ्करूप से मनोविनोदपूर्वक हँसते-खेलते विचरने लगें।" साथ ही हम अपनी ओर से पौर-जानपदों के बालकों के लिए ऐसा करना आवश्यक समझेंगे कि, वे लकड़ी से बने खाँडे, तलवारें, भाले हाथों में लेकर मानो युद्ध के लिए ही सज्जीभूत होकर प्रचण्ड-दोर्दण्ड-योद्धाओं की भाँति अपने अपने घरों से निकल पड़ें। परस्पर हर्षालाप करते हुए अत्यन्त ही उल्लास-मुद्रा से इतस्ततः घूमते हुए मार्ग में से वृक्षवनौषधियों के शुष्काग्रभागों का सञ्चय करते जायँ, जो गोमय उपल (आरणाछाणा) मिलें, उनका संग्रह करते जायँ, एवं इन संगृहीत शुष्क काष्ठ, तथा उपलों को स्व-स्व पौरजानपद-वसतियों (बस्ती-मोहल्लों) में एकत्र व्यवस्थितरूप से रखदें। एकत्र समवेत इस ईंधनसमूह की रक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन करें, और तदनन्तर प्रज्वलित करदें इन काष्ठोपलरूप आहुति-द्रव्यों से अग्निदेव को। प्रज्वलन के साथ ही बालमण्डल उच्चस्वर से '**किलकिलाशब्द**' पूर्वक (किलकारी मारते हुए), मनोरम-आकर्षक-तालशब्दों के उद्घोषपूर्वक इस प्रज्वलित अग्निदेव की तीन बार परिक्रमा करें गाते हुए, एवं हँसते हुए। साथ ही सभी बालमानव स्वेच्छापूर्वक निःशंकरूप से जिसके मन में जैसे भी भाव हों, जिस की वाणी में जैसा भी शब्दकोश हो, बिना संकोच के अपनी अपनी भाषा में यथेच्छ उद्घोष करते रहें। ऐसे स्वच्छन्द, स्वतन्त्र-उन्मुक्त-शङ्कारहित-अभय-उद्घोषों से वह पापिनी ढुण्ढाराक्षसी इस शब्दाग्निज्वाला से, तथा प्रज्जलित अग्निज्वाला से अवश्यमेव पलायित हो जायगी। डिम्भ-समतुलित-मनोभावप्रधान इन बालमानवों के इत्थंभूत अट्टाट्टहास-परिहासों-अवाच्यवादों से लज्जावनता बनती हुई राक्षसी अवश्य ही नष्ट हो जायगी। अग्निप्रज्जलनरूपा होलिका से ही क्योंकि इस राक्षसी का नाश होगा,

अतएव तब से आगे के लिए इस राक्षसी का नाम भी लोक में 'होलिका' नाम से ही प्रसिद्ध हो जायगा। न केवल होलिकानुगता होलिका राक्षसी ही, अपितु तत्सहयोगी अन्य सभी दुष्ट–राक्षस इस अग्निहोमरूप होलिकापर्व से नष्ट हो जाते हैं। अतएव यह **'अग्निहोम'** सर्वलोकोपशान्तिप्रद ही बना हुआ है। हे राजन्! विश्वास करो! राष्ट्र के द्विजातिगण (वेदनिष्ठब्राह्मण) इसी फाल्गुनी–पूर्णिमा में, इस होलिकापर्वावसर पर ही क्योंकि उस (अग्न्याधानरूप) अग्निहोम का अनुगमन करते हैं। अतएव इनके इस अग्निहोम-सम्बन्ध से भी यह पर्व–'होलिका' (अग्निसमिन्धनपर्व) नाम से प्रसिद्ध हो गया है। अतएव इस फाल्गुनी–पूर्णिमा को (शीतसोमानुगत–फल्गु–अक्षरभाव से समन्वित रहते हुए भी) सारवत्–अग्नि के होम–(समिन्धन–आधानरूप प्रज्वलन) सम्बन्ध से सारवती मान लिया है तत्त्वज्ञोंनें। (तभी तो पूर्णिमा **'सत्यनारायणसूर्य्य'** की आराधनातिथि बन रही है)। (शिशिर और ग्रीष्मानुगत वसन्त की सन्धिरूपा यह तिथि ढुण्ढा–राक्षसी के कारण क्योंकि सौम्य–बालकों के लिए अत्यन्त ही भयावहा है, तत्रापि-**'एषा वै घोरा रात्रिः सम्वत्सरस्य–यत्–फाल्गुनी'** के अनुसार रात्रि तो निश्चयेनैव भयावहा है। अतएव रात्र्यागमन पर इस तिथि में बालकों का अत्यन्त सावधानी से ही संरक्षण करना चाहिए माताओं को। गृहाङ्गणों को असुर–राक्षस–विनाशक गोमय (गोबर, और पीली मिट्टी) से लीप–पोत कर स्वच्छ-पवित्र-बना लेना चाहिए। इन्हीं प्राङ्गणों में [निदानविधि के माध्यम से] वैसे नरों की आकृतियाँ बनानीं चाहिए, जिनके अङ्क [गोद] में तो बच्चे हों, हाथों में खड्गादि हों। यही निदानविधि–सम्मता–मान्यतानुगता **'बालरक्षाविधि'** है, जिस से राक्षस–राक्षसियों का भय पलायित हो जाता है"। आरम्भ से अबतक प्रस्तुत प्रकरण में सम्वत्सराग्न्याधान-मूलक–अग्निप्रज्वलनरूप जिस आध्यात्मिक, तथा आधिदैविक होलिका का नैगमिक स्वरूप व्यक्त हुआ था, पुराण शास्त्रने उसके साथ आधिभौतिक–होलिका–पर्व का समन्वय करते हुए परोक्षरूपेण जिस कौशल से रहस्यात्मक अग्निसमिन्धनकर्म्म का स्वरूप-विश्लेषण कर दिया है–युधिष्ठिर–कृष्ण–नारद की सम्वादभाषा से, उस कौशल का निम्नलिखित मूलवचनों के मूलशब्दों की परीक्षा अभिधा–व्यञ्जना से ही होलिकापर्व के तात्त्विक–समन्वय का अनुग्रह कीजिए! अपनी नैगमिक–प्रज्ञा से—

श्रीकृष्ण उवाच–"आसीत्कृतयुगे पार्थ! 'रघु' नाम नराधिपः ॥
शूरः सर्वगुणोपेतः प्रियवादी बहुश्रुतः ॥१॥
स सर्वां पृथिवीं जित्वा वशीकृत्य नराधिपान् ॥
धर्म्मतः पालयामास प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥२॥
न दुर्भिक्षं न च व्याधिर्नाकालमरणं नृणाम् ॥
नाधर्म्मरुचयः पापास्तस्मिञ्छासति पार्थिव! ॥३॥
तस्यैवं शासतो राज्यं क्षत्रधर्म्मरतस्य च ॥
सर्व एव समागम्य त्राहि त्राहीति चाब्रुवन् ॥४॥"

पौरा ऊचुः–"अस्माकं तु गृहे क्वापि 'ढुण्ढा' नामेति राक्षसी ॥
दिवा रात्रौ समागत्य बालान् पीड़यते बलात् ॥५॥

* रक्षया चोदकेनापि, भैषज्यैर्वा नराधिप ! ॥
मन्त्रज्ञैः परमाचार्य्यैः सा नियन्तुं न शक्यते ॥६॥"

श्रीकृष्ण उवाच--"एतत्सर्वं समाख्यातं ढुण्ढायाश्चरितं नृप ! ॥
इति पौरवचः श्रुत्वा राज्ञा पृष्टोऽथ नारदः ॥६॥"

नारद उवाच-"साम्प्रतं कथयिष्यामि येनोपायेन हन्यते ॥
अद्य पञ्चदशी शुक्ला फाल्गुनस्य नराधिप ! ॥७॥
शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति ॥
अभयं त्वद्य लोकानां दीयतां पुरुषोत्तम ! ॥८॥
यथा ह्यशङ्किता लोका रमन्ति च हसन्ति च ॥
दारुजानि च खङ्गानि गृहीत्वा समरोत्सुकाः ॥६॥
योद्धार इव निर्यान्तु शिशवः संप्रहर्षिताः ॥
सञ्चयं शुष्ककाष्ठानां, उपलानाञ्च कारयेत् ॥१०॥
तत्राग्निं विधिवत्-हुत्वा रक्षोघ्नैर्मन्त्रविस्तरैः ॥
ततः-'किलकिला' शब्दैः ×, तालशब्दैर्मनोरमैः ॥११
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य गायन्तु च हसन्तु च ॥
जल्पन्तु स्वेच्छया लोका निःशङ्का यस्य यन्मतम् ॥१२॥
'भगं' तु बहुधा शब्दैः कीर्त्तयेत् स्व स्व भाषया ॥
विस्तारयँश्च गायँश्च सहस्रं नाम तस्य वै ॥१३॥
तेन शब्देन सा पापा, 'होमेन च निराकृता' ॥
अट्टाट्टहासैर्डिम्भानां राक्षसी क्षयमेष्यति ॥१४॥

---

* १ उदकचिकित्सा——जलचिकित्सानुगता——गृह्यचिकित्सा
२ भैषज्यचिकित्सा——औषधिचिकित्सानुगता——वैद्यचिकित्सा
३ मन्त्रचिकित्सा——मणि-मन्त्रचिकित्सानुगता--अथर्वणचिकित्सा
}——चिकित्सात्रयी सुप्रसिद्धा

×—'किलकारी' इति लोकभाषायाम् ।

श्रीकृष्ण उवाच--"ततः प्रभृते लोकेऽस्मिन् 'होलिका' ख्यातिमागता ॥
सर्वदुष्टापहो होमः सर्वलोकोपशान्तिदः ॥१५॥
क्रियतेऽस्यां द्विजैः पार्थ ! तेन सा 'होलिका' स्मृता ॥
× सर्वसारस्थितिश्चायं पौर्णमासी युधिष्ठिर ! ॥१६॥
सारत्वात् फल्गुनीत्येषा परमानन्ददायिनी ॥*॥
अस्यां निशागमे पार्थ ! संरक्ष्याः शिशवो गृहे ॥१७॥
गोमयेनोपलिप्ते च सचतुष्के गृहाङ्गणे ॥
आकारयेच्छिशुप्रायान् खड्गव्यग्रकरान्नरान् ॥१८॥
ते काष्ठखड्गैः संस्पृश्य शब्दैर्हास्यकरैः शिशून् ॥
रक्षन्तु, तेषां दातव्य गुडं पक्वान्नमेव च ॥१९॥
एवं ढुण्ढेति सा, तस्याः स दोषः प्रशमं व्रजेत् ॥
बालानां रक्षणं कार्य्यं तस्मादस्मिन्निशागमे ॥२०॥"
इति-पौराणिकाख्यानसंवादभाषात्मकं-अत्यन्तरहस्यपूर्णम्

—*—

१८१-'होलिका' नाम की रक्षादेवी, एवं होलिकामहोत्सव की लोकाचारानुगता इतिकर्त्तव्यता का लौकिक समन्वय—

भद्राविरहिता, चतुर्दशीविद्धा, फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा-तिथि के शास्त्रद्वारा विनिश्चित माङ्गलिक मुहूर्त्त में सर्वप्रथम ब्राह्मणके द्वारा मन्त्रपूजनार्चनविधिपूर्वक होलिका-रोपण होता है। शमीवृक्ष की शाखा (खेजड़े के वृक्ष की शाखा) ही निदानेव होलिका-नाम की रक्षादेवी मान ली गई है, जिस शमीवृक्ष के रक्षात्मक-अतिशय का-'विजयदशमीपर्व' की इतिकर्त्तव्यता में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। ग्रामवसतियों के रुद्राग्नि-स्थानरूप ÷ चतुष्पथ (चौराहे) ही अग्निप्रतीकभूता होलिकादेवी के रोपण के अनुरूप स्थान माने गए

×--पूर्व में असारवत्--श्लथ तत्त्व को फाल्गुन कहा गया था, एवं तत्सम्बन्ध से ही यह मास फाल्गुन कहलाया था। पुराण ने यहाँ फाल्पुनी-पूर्णिमा को जो सारवती कह दिया है, इसका एकमात्र कारण वह यज्ञिय सत्याग्नि ही है, जिसका अग्निहोत्र से सम्बन्ध है। ऋतसोम फल्गु है, तत्सम्बन्ध से फाल्गुनी-पूर्णिमा फल्गु--[असारवती]--है, जबकि सत्याग्निरूप अग्न्याधान से वही फाल्गुनी--पूर्णिमा सारवती भी प्रमाणित हो रही है॥

*--आत्मानन्ददायिनी, आत्मरतिप्रवर्त्तिका।

÷ एतद्वै जान्धितमं प्रज्ञातस्थानं--यच्चतुष्पथम् [शतपथ०]।

हैं लोकाचार में । अग्निगर्भ, सोमब्राह्म-शमीवृक्ष अग्नीषोमात्मक बनता हुआ उस यज्ञाग्नि का ही नैदानिक प्रतिमान बन रहा है, जिसका अग्निप्रज्ज्वलनात्मक होलिकापर्व से सम्बन्ध है । ऐसे वृक्ष की शाखा ही लोकाचार में होलिका-होली-रूप से अत्यन्त पवित्रभाव से लाई जाती है सम्मानातिथ्यपूर्वक वसति-बालक,-मानवों के द्वारा, जिसका सर्वप्रथम पूजन होता है चतुष्पथानुगत गर्त्त में रोपणानन्तर । यह मानों साक्षात् अग्निदेव है, रक्षोघ्न अग्निदेवता है, यही रक्षादेवी है, जिसे आहुति प्रदान करने के लिए ही मानों जिस के चारों ओर उसीप्रकार शुष्ककाष्ठ-तृण-गोमयोपल-सञ्चित कर दिए जाते हैं, जैसे कि यज्ञकुण्ड में स्थापित अग्नि के चारों ओर अग्निप्रज्ज्वलन के लिए (अग्निसमिन्धनकर्त्ता-आधानकर्त्ता-याज्ञिक ब्राह्मण के द्वारा) समिध-उपल सञ्चित किए जाते हैं अग्न्याधानकर्म्म में । और यहाँ आकर द्विजातिभावानुगत नैगमिक पूजनकर्म्म उपरत होता है, जिस पूजनर्म्म का इन शब्दों में दिग्दर्शन हुआ है—

* "असृक्पा-भयसन्त्रस्तैः कृता त्वं होलि ! बालिशैः ॥
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भूते ! भूतिप्रदा भव ॥"

तदनन्तर गृहदेवियाँ मङ्गलगानपूर्वक नवधान-कुँकुमाक्षत-धूप-दीप-नैवेद्यादि पूजनपरिग्रहों से संयुक्त पूजनथाल लेकर होलिकास्थान पर पहुँचतीं हैं । अपनी मानस-मान्यता से अनुप्राणित लोकभावनामन्त्रों से होलिका का पूजन करतीं हैं । परिक्रमा लगातीं हैं । और यों यह लौकिक-पूजनकर्म्म श्रद्धापूर्वक सम्पन्न होता है श्रद्धामयीं गृहदेवियों के द्वारा । तदनन्तर शासनतन्त्र में सुव्यवस्थिता होलिका का ही सर्वप्रथम विधिपूर्वक मन्त्रपूत उल्मुक से प्रज्ज्वलन होता है, जिसके उत्तर क्षण में ही शमीशाखारूपा होलिकादेवी तो सुरक्षितरूपसे निकाल ली जाती है । एवं शेष काष्ठ-तृण-उपलादि-प्रज्ज्वलित हो पड़ते हैं । शासनतेजोमयी इसी अग्निज्वाला से नागरिक मण्डल स्व-स्व उल्मुकों को प्रज्ज्वलित कर प्रचण्डवेग से अनुधावन करते हुए स्व-स्व-वसतियों की होलिका प्रज्ज्वलित करते हुए राजा-प्रजा के, शासक-शासितके अङ्गाङ्गिभाव को ही मानो सुदृढ प्रमाणित करते हैं । और इसी इतिकर्त्तव्यतात्मक-आचरणात्मक-आयोजन से यह महान् सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-'होलिकापर्व' नामक आयोजन सुसम्पन्न होता रहता है प्रतिवर्ष, प्रति फाल्गुनी पूर्णिमातिथि के माङ्गलिक मुहूर्त्त में राष्ट्रीय तेजोऽग्नि को ही मानो प्रतिवर्ष अधिकाधिक प्रदीप्त करता हुआ ।

१८२-'ढुण्ढा' राक्षसी का तात्त्विक स्वरूप, एवं होलिकापर्वानुगता 'बालरक्षाविधि' का समन्वय—

"ढुण्ढा"-नाम की राक्षसी के भय से बालबन्धुओं का परित्राण करने के लिए ही आधि-भौतिक होलिकापर्व के लौकिक-स्वरूप का स्थापन हुआ है पुराणपुरुष के द्वारा," उक्त पौराणिक-आख्यान-भाषा का यही निष्कर्ष है । यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व, तथा-ऐन्द्र-पैत्र्य-प्राजापत्य-ब्राह्म, इन अष्टविध चान्द्र सौम्यप्राणदेवताओं में आदि के चार प्राणदेवता असुरभावप्रधान हैं, एवं इन्हीं के सम्बन्ध से श्रुति ने 'चन्द्रमा' को वृत्रासुर मान लिया है, जिसका प्रति अमावास्यातिथि में सौर इन्द्र के द्वारा

* असृक्पा-आकारान्त शब्द-राक्षसीवाचक । रुधिरपान करने वाली ढुण्ढा राक्षसी के भय से परित्राण करने वाली भूतिप्रदा होलिका नाम की रक्षादेवी । (अग्निशक्ति) ।

वध हुआ करता है। शेष ऐन्द्रादि उत्तर के चारों सौम्यदेवता देवप्राणप्रधान हैं। वह सौम्यप्राण, जो अग्नि से सर्वथा पृथक् होकर बालकों में क्षयरोग उत्पन्न कर देता है,-'राक्षस' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे सौम्या-शक्ति के अनुबन्ध से-'राक्षसी' भी कहा जासकता है। सोमप्रधानत्त्व-ही इस प्राण का स्त्रीधर्म्मत्त्व है। अतएव इसे 'राक्षसी' कहना अन्वर्थ बनता है। इसी के आक्रमण से क्षय का सम्बन्ध है, जिस यक्ष्मा नामक क्षयरोग में मानव का रक्त ही परिसमाप्त होजाता है। सौम्यावस्था ही बालावस्था है। नारी, और आषोडशवर्षान्त के बालक इसी सोमप्राधान्य से सौम्य माने गए हैं। अतएव विशेषतः स्त्रियों, तथा बालकों में ही यक्ष्मा रोग विशेष प्रभाव दिखलाता है। अत्यन्त छोटे बच्चों में यही रोग-'सूखारोग' कहलाया है। सूखारोग, तथा क्षयरोग दोनों ही स्नेहधर्म्म-संकोचधर्म्म-सोम की प्रधानता से निरतिशयरूपेण साङ्क्रामिक माने गए हैं। अतएव जैसे भिषग्वर यक्ष्माके रोगी को अन्य मानवों से बचाते हैं, तथैव जिन बच्चोंके सूखारोग हो जाता है, उन की प्रज्ञाशीला माताएँ भी अपने बालकों को सर्वथा ही पृथक् करने की चेष्टा में तल्लीन रहतीं है उस रोग को महान् संक्रामक राक्षस ही समझतीं हुईं। 'ढुण्ढ' शब्द यदृच्छाशब्दात्मक है, जो 'ठूँठ' से मिलता जुलता शब्द है। जिसप्रकार आग्नेय मधुरसात्मक जीवनीय प्राणरस से वञ्चित वृक्ष सूख कर निरा 'ठूँठ' ही रह जाता है, तथैव इस राक्षसप्राणात्मक सौम्यरोग से बालकों का शरीर सूखकर 'ठूँठ' सा ही रह जाता है। यही 'ठूँठ'-'ढुण्ढ' है, यही 'ढुण्ढाराक्षसी' है, जिसका शिशिर ऋतुके अन्त में, तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रधानरूप से साम्राज्य रहता है। अतएव इस ऋतुसन्धिरूप काल को श्रुतिने भी आधि-व्याधियों का आवासस्थान मान लिया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है।

चातुर्म्मास्यानि प्रयुञ्जानः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां प्रयुङ्क्ते। मुखं वा एतत्-सम्वत्सरस्य-यत्फाल्गुनी पौर्णमासी। मुखमुत्तरे फल्गु, पुच्छं पूर्वे। तद्यथा प्रवृत्तस्यान्तौ समेतौ स्यातामेवैतौ सम्वत्सरस्यान्तौ समेतौ। तत्-यत्-फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां वैश्वदेवेन यजते, मुखत एव तत्सम्वत्सरं प्रीणाति। अथो भैषज्ययज्ञा वा एते-यच्चातुर्म्मास्यानि। तस्मात्-ऋतुसन्धिषु-प्रज्युयन्ते। "ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते"।

—शाङ्खायनारण्यक ५।१।

१८३-'शीतकालो विनिष्क्रान्तः प्रातर्ग्रीष्मो-भविष्यति'-मूलक होलिकामहोत्सव—

उक्त शाङ्खायनश्रुति को सम्मुख रखिए, एवं पूर्वोक्त पौराणिक आख्यान के अष्टम (८ वें) श्लोकके-"शीतकालो विनिष्क्रान्तः, प्रातर्ग्रीष्मो भविष्यति' इस पूर्वभाग पर दृष्टि डालिए। पुराणने जिस सन्धिकाल में राक्षसी का भय बतलाया है, श्रुति उसी काल में व्याधिभय का उल्लेख कर रही है। पुराण जिस काल में-'तत्राग्निं विधिवत् हुत्त्वा रक्षोघ्नैर्म्मन्त्रविस्तरैः, (११ श्लोक से) अग्निप्रज्ज्वलनरूप होमका विधान कर रहा है, उसी पूर्णिमातिथि में श्रुति भैषज्ययज्ञरूप वैश्वदेव नामक चातुर्म्मास्ययज्ञ का विधान कर रही है। श्रुति वैज्ञानिक कर्म्मरूप वैश्वदेवहोम से द्विजातियोंके द्वारा राक्षसी भय से परित्राण सूचित कर रही है, तो पुराण भी-"सर्वदुष्टापहो होमः सर्वलोकोपशान्तिदः। क्रियतेऽस्यां (पौर्णमास्यां) द्विजैः पार्थ !" इत्यादिरूप से उसी नैगमिक-वैध-सांस्कृतिक-आचार (यज्ञकर्म्म) का स्मरण कराता हुआ तदाधार पर ही प्रतिष्ठित भौतिक अग्निप्रज्ज्वलनरूप सांस्कृतिक लौकिक-आयोजनरूप होलिकोत्सव का संस्थापन कर रहा है।

१८४--'सर्वदुष्टापहो होमः' मूलक होलिकापर्व—

शिशिरऋतु-जनित श्लेष्माविकार से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के रोग ही वे विविध दुष्ट हैं, जिन का-'**सर्वदुष्टापहो होमः**' से सङ्केत किया है पुराणपुरुष ने। अतएव प्रत्येक दशामें शिशिरावसान में भौतिक-आत्मिक-दैविक-तीनों प्रकार की अग्नियों का आधान आवश्यक होजाता है, जिस अग्न्याधानके दैविक-आत्मिक-आचार का जहाँ नैगमिक यज्ञकर्म्म से सम्बन्ध है, जिसमें द्विजाति-मानव ही अधिकृत है, जो अग्निजागरणात्मक-नवसस्येष्टिसमन्वित-'**अग्न्याधान, वैश्वदेवहोम,**' आदि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, वहाँ तदनुष्टान में असमर्थ, अतएव अनधिकृत स्त्री-बाल-शूद्रादि सामान्य वर्गों के प्राणाग्नि के जागरण के लिए ही भूताग्निरूप होलिकाप्रज्वलन-कर्म्मलक्षण-सांस्कृतिक-आयोजन विहित हुआ है, जो फलांश में नैगमिक-कर्म्म से ही समतुलित है। दोनों हीं वैदिक-लौकिक आचार, तथा आयोजनों का पुराणपुरुष ने अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण निदानभाषा में समन्वय कर भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-निष्ठा को जैसा जीवन प्रदान किया है, वैसा तो तत्त्वविश्लेषणात्मक निगमशास्त्र से भी सम्भव न था। पुराणशास्त्र के इसी लोकानुबन्धी, किन्तु लोकोत्तर महत्त्व को लक्ष्य बना कर महाभाग सूत को ये उद्‌गार अभिव्यक्त कर ही तो देने पड़े कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरश्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

१८५-राजराजेश्वर 'रघु' नामक भारतीय सम्राट् के माध्यम से होलिकापर्व का संस्मरण—

तदित्थं-प्रकृतिसिद्ध निगमानुगत-त्रयीविद्यामूलक-सौरमध्वग्निजागरणात्मक-वासन्तिक आधिदैविक अग्निप्रज्वलन से समन्वित-आध्यात्मिक प्राणाग्निके समुत्तेजक-सर्वराक्षसासुरप्राणविनाशक-फाल्गुनीपूर्णिमा में उपक्रान्त अग्न्याधान, वैश्वदेवहोमरूप प्राणप्रधान होलिकापर्व के आधार पर प्रतिष्ठित, माघशुक्लवसन्तपञ्चमी से अनुगत '**रतिपतिमदनपूजनमहोत्सव**', श्रीपञ्चम्यनुगत '**शारदामहोत्सव**', फाल्गुनशुक्लत्रयोदशी-अनुगत '**महाशिवरात्रिमहोत्सव**', श्लेष्मान्तक-'**दोलामहोत्सव**', चैत्रशुक्लपक्षीय-षोडशदिवसानुगत '**गणपति-गौरीपूजनमहोत्सव**', चैत्रकृष्णाष्टमी-अनुगत '**शीतलापूजनमहोत्सव**', आदि आदि अनेक नैगमिक-आगमिक-उत्सवपरम्पराओं से समलङ्कृत, '**फाल्गुनोत्सव-वसन्तोत्सव-मधुमहोत्सव-दाम्पत्यमहोत्सव-मदनमहोत्सव-पुष्पमहोत्सव-होलिकामहोत्सव**' इत्यादि विविध नामों से उपगीयमान, वसन्तऋत्वनुगत अमुक (पूर्वोक्त) लौकिक वासन्तिक-दाम्पत्य-काम-मधु-पुष्प-सङ्गीत-होलिकाप्रज्वलनात्मक-लोकाचार-युक्त-भारतराष्ट्र के राष्ट्रीय-महान् सांस्कृतिक-भौतिक उस होलिकापर्व का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है, जो पर्व निगमनिष्ठायुगात्मक वेदयुगात्मक कृतयुग से, तद्युगानुगत भारतसम्राट् सूर्य्यवंशी क्षत्रियकुलावतंस राजराजेश्वर रघुके धार्मिक-शासनकाल से, सर्वोपरि संस्कृति की अविच्छिन्न-धारा को आज पर्य्यन्त येनकेनरूपेण प्रक्रान्त बनाए रखने वाली आस्था-श्रद्धा-परायणा आस्तिक-जनता की आचारपरम्पराओं के निःसीम अनुग्रह से, तत्रापि सर्वतोऽधिक श्रद्धा की सगुणमूर्त्ति-संस्कृति की साकारप्रतिमा आर्य्यनारी की श्रद्धानुगता कृपा से ही भारतराष्ट्र की महान्-पर्वतिथि फाल्गुनी पूर्णिमा को अपने भूताग्निप्रज्वलधर्म्म से अपने सांस्कृतिक-निगमनिष्ठ भारतराष्ट्र को मानो प्रत्येक सम्वत्सर के आरम्भ में यही सन्देश प्रदान करता रहता है कि—

"राष्ट्र का वह प्राणरूप सांस्कृतिक-आधिदैविक सौर अग्नि, एवं तदभिन्न यज्ञमात्रिकवेदरूप आध्यात्मिक अग्नि जग पड़ा है, जिसकी ऋचाएँ कामना करतीं रहतीं हैं, जिसकी ओर साम अनुगत होते रहते हैं, एवं जिस

इत्थंभूत प्रचण्डतम–प्रज्ज्वलिततम–उद्दीप्ततम राष्ट्रीय अग्निदेव में सम्पूर्ण विश्व के भोग्यरूप सोमपदार्थ प्रणतभाव से यही आत्मनिवेदन करते हुए इस भारतराष्ट्राग्नि के हव्य–कव्य–बनते रहते हैं कि–हे राष्ट्राग्नि–देवते ! हम हैं आपके भोग्यरूप अवरकक्षा में प्रतिष्ठित–सखा"। इसी माङ्गलिक संस्मरण के साथ भारतराष्ट्र के इस महान् सांस्कृतिक–होलिकापर्व का चिरन्तन–चिरपुरातन, किन्तु चिरनूतन माङ्गलिक इतिवृत्त आग्नेय–सम्वत्सरों की मङ्गलभावना के साथ विश्राम लेता हुआ अपने यही सांस्कृतिक उद्घोष उन्मुक्त, किन्तु राष्ट्ररक्त, अतएव 'मुक्तरक्त–हृदय' से अभिव्यक्त कर रहा है कि—

१८६- 'होलिकापर्व नामक सांस्कृतिक आयोजन का उपराम, एवं तन्माध्यम से राष्ट्रीय जाग्रत अग्नि का माङ्गलिक–संस्मरण—

अग्निर्जागार–तमृचः कामयन्ते –
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

—इति शम् ब्रह्म

उपरता चेयं–शूद्रवर्णानुगता—

होलिकापर्वस्वरूपमीमांसा चतुर्थी

४

श्रीः

तृतीय प्रकरणान्तर्गत—

शरीरासक्त–राष्ट्ररक्षित–शूद्रानुगत राष्ट्रीय–'होलिकापर्व' उपरत

४



श्रीः

* निबन्ध-परिशिष्ट, एवं निबन्धोपराम

श्रीः

❀–निबन्धपरिशिष्ट, एवं निबन्धोपराम

संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृति–आयोजन, मानवता, धर्म्म, आदर्श, जीवन, जीवनपद्धति, आदि आदि शब्द उस सुरभारती–देववाणी–'संस्कृतभाषा' के शब्द हैं, जिन का **प्रकृति–प्रत्यय**–निबन्धन, **उपसर्ग–निपात–धातु**–प्रत्ययार्थ–समन्वित, निरुक्तनियमानुगत, प्रकृतिसिद्ध, अतएव ज्ञान–विज्ञानात्मक एक सुनिश्चित तात्त्विक–वाच्यार्थ ही हुआ करता है, जिस के सम्बन्ध में अन्यान्य लौकिकी–प्राकृत–भाषाओं से अनुप्राणिता सङ्केत–विध्यनुगता **'लाक्षणिकता'** का, एवं तन्मूला **'यदृच्छा'** का संस्पर्श भी एकान्ततः निषिद्ध ही माना गया है। अतएव **'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः'** इस सुप्रसिद्ध आभाणक के अनुसार संस्कृतवाङ्मय में एक भी वैसा **'यदृच्छाशब्द'** नहीं है, जिसे लाक्षणिक मानते हुए हम यथेच्छ अपनी कल्पना के बल से समन्वित कर डालें। अपितु प्रत्येक शब्द अपना ज्ञानविज्ञानात्मक एक स्वतन्त्र वैसा इतिहास स्वसीमा में सुरक्षित रख रहा है, जिस शब्देतिहास के समन्वय के बिना अन्यान्य भाषाओं की पर्य्यायवृत्ति से तो क्या, स्वयं संस्कृतशब्दों की पर्य्यायता से भी उन शब्दों का वाच्यार्थ गतार्थ नहीं बन सकता। अमुक वाच्यार्थ के लिए अमुक शब्द प्रकृत्या ही नियत है, जिस का शब्दशास्त्र सङ्केतग्रहमात्र करा के विश्रान्त हो जाता है। शब्दशास्त्र (व्याकरणशास्त्र) शब्दों का निर्म्माण नहीं करता, अपितु स्वतःसिद्ध शब्दों का निर्वचनमात्र करता है। शब्द भी प्रकृत्या सिद्ध हैं, तो तच्छब्दार्थ भी प्रकृत्यैव सिद्ध हैं, जैसाकि– **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** इत्यादि से प्रमाणित है। इसी आधार पर शब्दशास्त्रवेत्ता वैय्याकरणोंनें शब्द को **'नित्य'** माना है। अतएव च पूर्वमीमांसा के कर्त्ता भगवान् जैमिनिके द्वारा शब्दार्थ का **'औत्पत्तिकसम्बन्ध'** ही स्वीकृत हुआ है *।

औत्पत्तिकसम्बन्धावच्छिन्न शब्दों के चिरन्तन इतिहास के माध्यम से ही तच्छब्दों के वाच्यार्थ जब सर्वथा नियत हैं, तो ऐसी दशा में इन भारतीय संस्कृतशब्दों के प्रयोग में, तदाचार–व्यवहार में हमें प्रत्येक दशा में अवधानपूर्वक इन के प्रकृतिसिद्ध चिरन्तन वाच्यार्थों का ही आश्रय लेना पड़ेगा अपनी पर्य्यायभ्रान्ति से सर्वथा पृथक् ही रहते हुए। दिग्देशकालानुबन्धिनी–युगधर्म्मानुगता काल्पनिकी मान्यताओं के आकर्षण–विकर्षण (खैंचातानी) से सम्बन्ध रखने वाले तात्कालिक–लाक्षणिक–यदृच्छात्मक–भावों के माध्यम से कदापि सांस्कृतिक शब्दों का यथायवत् समन्वय नहीं किया जासकेगा। और इसी आधार पर अब हमें यह भी असंदिग्धरूप से मान ही लेना पड़ेगा कि, भारतीय मौलिक साहित्य का वास्तविक वाच्यार्थ तो तद्भाषा (संस्कृतभाषा) के शब्दों में हीं पिनद्ध–सुरक्षित है।

अतएव संस्कृतभाषा के शब्द ही परस्पर की पर्य्यायता से जब एक दूसरे के यथार्थ वाच्यार्थों का यथार्थ समन्वय नहीं कर सकते, तो फिर इतर भाषाओं के द्वारा तो कदापि यह समन्वय सम्भव ही नहीं है।

---

* **"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानेपक्षत्वात्"** (**पूर्वमीमांसा १।५।**)।

'वास्तविक' (असल), और 'अनुकरण' (नकल) में जो अन्तर है, वही **'मूल'** और **'अनुवाद'** में अन्तर है। मूलशब्द ही वास्तविकता के अभिव्यञ्जक हैं, जब कि अनुवादशब्दों में अनुवादकर्त्ता के मानसिक स्खलन--भावों का बहुत सावधानी करने पर भी समावेश हो ही जाता है। और उस अवस्था में-**'हम ऐसा समझते हैं इसका अर्थ'** इसप्रकार का वैसा व्यक्तित्व--विमोहन ही उत्पन्न हो जाता है, जिससे वास्तविक मूल अर्थ तो हो जाता है अभिभूत, एवं मान्यतात्मक अर्थ बन जाता है प्रधान। कहना न होगा कि, इसी पर्य्यायता से भारतीय मूलशास्त्र के तद्वाच्यार्थों का स्थान इन मान्यतात्मक अर्थोंने हीं अपहृत कर लिया है।

अतएव निश्चितार्थ के प्रतिपादक एक ही शास्त्र के आधार पर व्याख्याताओं की युगधर्म्मानुगता मान्यताओं के भेद से परस्परात्यन्तविरूद्ध अनेक वैसे अर्थ आविर्भूत हो पड़े हैं, जिन के निग्रहात्मक अनुग्रह से स्वसंस्कृति, धर्म्म, आदर्श, आचारादि के प्रति आस्था-श्रद्धा रखने वाली भी राष्ट्रीय-प्रजा की आस्था-श्रद्धाएँ आज सर्वात्मना विकम्पित हो पड़ीं हैं इन परस्परात्यन्त-विरूद्ध मतवादार्थों के महतोमहीयान् विजृम्भणों से उत्पन्न हो पड़ने वालीं * संशयपरम्पराओं से। स्वयं की **'अज्ञता'** प्रथम, एवं प्रमुख दोष, अज्ञता--जनिता **'अश्रद्धा'** दूसरा महाभयानक दोष, एवं अपने आपको विज्ञ-सुविज्ञ कहने वाले व्याख्याता-विद्वानों की ओर से उपस्थित परस्परविरूद्धभावात्मक-मतवादों से उत्पन्न हो पड़ने वाला **'संशय'** नामक तीसरा घोरघोरतम दोष, इन तीनों हीं महान् दोषों से आज सचमुच ही राष्ट्रप्रजा त्रिदोषात्मक उस सन्निपातरोग से ही ग्रस्ता, अभिभूता बन गई है, जिसे भिषग्वरोंनें असाध्य रोग कहा है। एवं संस्कृति-धर्म्म-संस्थापक अवतारपुरुषों के शब्दों में तो जो त्रिदोष मानव के आत्मबुद्धिनिबन्धन 'मानव' स्वरूप को अन्ततोगत्वा नष्ट ही कर देता है, जिस इस 'मानव' स्वरूप के विनष्ट होजाने पर मानव के कोश में केवल मनःशरीरनिबन्धन कामार्थमय पशुस्वरूप ही शेष रह जाया करता है ÷।

अज्ञता, अश्रद्धा एवं **संशय**-लक्षण इस त्रिदोष से आत्मत्राण प्राप्त करने का प्रमुख राजपथ तो स्वाध्यायनिष्ठामूलक-स्वस्वरूपदर्शन ही माना जायगा। विगत तीन सहस्र वर्षों से स्व स्व मतवादों के पोषणमात्र के लिए प्रवृत्त होतीं रहने वालीं मतवादात्मिका व्याख्याओं को प्रणम्य मान कर स्वयं के स्वाध्यायतप से स्वयं मूलग्रन्थों को ही आराध्य बना कर स्वस्वरूपदर्शन में प्रवृत्त होजाने वाले तपस्वी को स्वयं शास्त्र ही स्वस्वरूप का साक्षात्कार करा देगा निरपेक्षरूपेण। ऐसी निरपेक्षता में कदापि व्यक्ति में व्यक्तित्वविमोहन जागरूक न होगा, जो विमोहन नवीन सम्प्रदाय-संस्थापन के लिए आतुर होजाया करता है। अपितु इस निरपेक्षदर्शन में तो द्रष्टा मानव अधिकाधिक परम्परा का ही अनुगामी बनता जायगा अपने व्यक्तित्व से पृथक होता हुआ, जो कि पार्थक्य ही इसका महान् व्यक्तित्व माना गया है शास्त्रीय-भाषा में। सचमुच **'मूलग्रन्थों के स्वाध्याय का परित्याग, एवं तत्स्थाने च व्याख्याग्रन्थों का ही व्यामोहन'**, इस गतानुगति-

---

***-एकस्मिन् धर्म्मिणि विरूद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानमेव संशयः**

÷--अज्ञश्च, अश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परः, न सुखं संशयात्मनः॥ (गीता ४।४०)।

कता ने ही भारतीय मानव को स्वस्वरूपनिष्ठा से पराङ्मुख ही प्रमाणित कर दिया है। यदि अमुक महानुभावों ने अनुग्रह कर मूलग्रन्थों पर दृष्टिपात का अनुग्रह किया भी है तो, सर्वप्रथम युगधर्म्मानुगता मानसिक-मान्यताओं के आवेश से उन्होंनें अपना एक स्वतन्त्र सिद्धान्त स्थापित कर लिया है। तदनन्तर अपने इस कल्पित सिद्धान्त के पोषण के लिए मूलग्रन्थों को माध्यम बना लिया है जनसाधारण की आस्था-श्रद्धा के अनुरोधमात्र से। इस मध्यस्थता में मूलग्रन्थ क्योंकि अपनी स्वरूप-मर्य्यादा से सर्वथा तटस्थ बने रहते हैं। अतएव सिद्धान्त-वादी अपने सिद्धान्त के अनुरूप ही शास्त्रीय-शब्दों के अर्थसमन्वय में प्रवृत्त हो पड़ते हैं। और इस पार-स्परिक-विवाद से सत्तासिद्ध भी सद्ग्रन्थों को भातिरूप में परिणत होकर स्व मौलिक स्वरूप से, ज्ञानविज्ञान-समन्वित वाच्यार्थ से अन्तर्म्मुख ही बन जाना पड़ता है *, बन जाना पड़ा है, जिस इस महान् पापके कारण ही विश्व की महती विभूति 'भारतीय-संस्कृति' जैसी अखण्डा-शाश्वत-संस्कृति भी आज संशयोच्छेद के स्थान में संशयजननी ही प्रमाणित की जारही है तथोक्त त्रिदोषग्रस्त प्राकृत-मानवों के द्वारा।

"यह भी ठीक है, वह भी ठीक है। ऐसा भी सम्भव है, वैसा भी सम्भव है। वह भी सम्भव हो सकता है, और यह भी हो सकता है। सभी कुछ ठीक ठीक है"-इत्थंभूत प्ररोच-नात्मक-आचारशून्य-लोकप्रिय, किन्तु व्यामोहनकुशला-घोषणाओं का स्पष्ट अर्थ है-'कुछ-भी ठीक नहीं **है'**। संशयरहिता निश्चितभाषा का आत्यन्तिक अभाव ही इसप्रकार की व्यामोहनवृत्ति का निराधारात्मक आधार माना गया है, जिसका सांस्कृतिक-जगत् में तो यत्किञ्चित् भी समादर नहीं हुआ। जिसका अपना कोई निर्णीत स्वरूप नहीं, उसके लिए संसार के सब **'सब अच्छे'** भी **'बुरे'** ही प्रमाणित हो जाते हैं काला-न्तर में। ठीक इसके विपरीत-जिसका अपना नैष्ठिक-स्वरूप निर्णीत-व्यवस्थित-असंदिग्ध बना रहता है, उसकी इस निश्चित-निष्ठा के सामने संसार के 'बुरों' को भी विवश बनकर **'अच्छा'** बन जाना पड़ता है। इसी नैष्ठिक-निर्णय को कहा गया है **'व्यवसाय'**, जिससे समन्विता, स्वस्था, तथा प्रकृतिस्था बुद्धि ही **'व्यवसायात्मिका-बुद्धि'** नाम से प्रसिद्ध हुई है, जो समदर्शनमूला-परमुखापेक्षिता से असंस्पृष्ट रहती हुई स्वयं अपने निर्भ्रान्त 'एक'-'सुनिश्चित' उत्तरदायित्व के माध्यम से ही निर्णय कर डालती है ×। स्वयं वेदशास्त्रने बड़ी ही प्राञ्जल, तथा उदात्तभाषा में ऐसे व्यवसायनिष्ठ, अबुद्धियोगात्मक-बुद्धियोगनिष्ठ, सम्प्र-दायवादनिरपेक्ष, अतएव निश्चित-निर्णयात्मक तत्त्वनिष्ठ आचारपरायण-विद्वान् के सम्बन्ध में अपने ये उद्‌गार अभिव्यक्त किए हैं कि, "हे पूषादेवता! **आप अनुग्रह कर हमें वैसे विद्वान् के सान्निध्य में ले चलिए, जो** (हमें अपने काल्पनिक व्याख्याजाल में न उलझाता हुआ) **सरलता से, अव-**

***-हरित भूमि तृण संकुल समुझि परे नहिं पन्थ।**
जिमि विवाद पाखडतें लुप्त भये सद्ग्रन्थ
—महात्मा तुलसी

×-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यसायिनाम्॥—(गीता)

रूप से स्थिति का बोध करादे। एवं जो 'इदमित्थमेव नान्यथा' (यह निश्चयेन ऐसा ही है) इस निश्चित निर्णय से हमें अवगत करादे ÷"।

मूल संस्कृत-शब्दों के स्थान का स्वयं संस्कृतशब्द-पर्य्यायों के द्वारा अपहृत होजाना प्रथम-स्खलन माना जायगा सांस्कृतिक-मौलिकता के क्षेत्र से। एवं आगे चलकर तत्तत्-प्रान्तीय प्राकृत भाषाओं (हिन्दी-मराठी-गुजराती-तेलगू-बंगाली-कन्नड़-पञ्जाबी-आदि आदि) का माध्यम द्वितीय-स्खलन माना जायगा। इन दोनों ही स्खलनों को लोकव्यवहारसमन्वय-दृष्ट्या इसलिए क्षम्य ही मान लिया जायगा अमुक-सीमापर्य्यन्त कि, ये सभी भारतीय भाषाएँ अपनी मूलजननी संस्कृतभाषा को ही आधार बना कर प्रवृत्त हुई हैं। अतएव गत्व्कतः स्खलनरूप से इन प्रान्तीय-भाषाओं के माध्यम से भी अमुक सीमापर्य्यन्त सन्तोष कर लिया जा सकेगा। किन्तु अत्रापि मूलशब्दों को ज्यों का त्यों ही रखना पड़ेगा। क्योंकि मूलशब्दों का भाषान्तरीकरण सर्वथा असम्भव ही है पूर्वकथनानुसार। वैसे भी परम्परानुप्राणिता इन प्रान्तीया विशुद्ध-भाषाओं में संस्कृतप्रधान शब्द ही अधिक-संख्या में समाविष्ट हुए हैं सांस्कृतिक-आचारों की अखण्डता के कारण। जिस 'संस्कृतभाषा' को अभिनवबुद्धिवादी 'मृतभाषा' कहता रहता है, यह उस 'संस्कृत' का ही अनुग्रह है, जिसने यत्त्यावत् प्रान्तों को अबतक येनकेनरूपेण अखण्ड बनाए रक्खा है। ब्रिटिशराज्य में संस्कृत की उपेक्षा रही। अतएव हमारा सांस्कृतिक-संघठन उच्छिन्न रहा तद्युगों में। और दुर्भाग्यवश आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सत्तायुग में भी निष्ठा की दृष्टि से इस ओर राष्ट्र का ध्यान अबतक आकर्षित नहीं हुआ है।

हाँ, तो भारत की प्रान्तीय-भाषाएँ क्योंकि संस्कृत के सन्निकटतम हैं। अतएव इनके माध्यम से (किन्तु मूलशब्दों को अखण्ड-रूपेण सुरक्षित रखते हुए ही) यथाकथंचित् हम अनुवादैषणा उपशान्त कर सकते हैं। किन्तु जिन प्रतीच्य-भाषाओं को मध्यस्थ बना कर आज कतिपय विद्वान् भाषान्तर के लिए आतुर हो रहे हैं, वह प्रयास इसलिए गतार्थ नहीं माना जासकता कि, जिन प्रकृतिसिद्ध वाच्यार्थों के लिए हमारे शब्दकोश में जो शब्द उपात्त हुए हैं, प्रतीच्यभाषाओं के शब्दों में तत्सम शब्दों का मिलना सर्वथा असम्भव ही माना जायगा। अतएव भारतीय संस्कृति का, तन्मूलक सांस्कृतिक-साहित्य का इंगलिश-अमेरिकन-आदि प्रतीच्य-भाषाओं के माध्यम से भावानुवाद होजाना हमें तो अपनी स्वल्पप्रज्ञा से कठिन ही प्रतीत हो रहा है। अनुवाद हो सकता है, किन्तु भारतीय-शब्दों के ज्यों के त्यों समावेश से। अनुवादमूला इसी एषणा का तो यह दुष्परिणाम हुआ है कि, सुनैष्ठिक-स्वाध्यायनिष्ठ-अध्यवसायशील जिन प्रतीच्य विद्वानोंनें भारतीय-ग्रन्थों के माध्यम से अपने शब्दों की मान्यता के माध्यम से जो अनुवाद किए हैं, वे अनुवादग्रन्थ ही आज भारतीय विद्वानों के प्रमुख स्वाध्याय-ग्रन्थ प्रमाणित हो रहे हैं। उनका अपना प्रयास उनकी मान्यता के अनुपात से जहाँ स्तुत्य माना जायगा, वहाँ उन अनुवादों के ये अनुवादग्रन्थ भारतीय दृष्टिकोण से न केवल प्रतिकूल ही, अपितु मौलिक-वाच्यार्थों के स्थान में अनर्थ के ही सर्जक प्रमाणित होंगे, एवं हुए हैं। उदाहरण के लिए 'संस्कृति' शब्द ही पर्य्याप्त होगा। समब्रह्म की शाश्वत-सनातन-रूपा नित्या कृति के संग्राहक-'संस्कृति' शब्द के साथ प्रतीच्य भाषा के-'कल्चर' (Culture) शब्द का यत्किञ्चित् भी तो

÷-सम्पूषन् ! विदुषा नय यो अञ्जसानुशासति ।
य एवेदमिति ब्रवत् ॥ (ऋक्संहिता ६।५४।१।)

साम्य नहीं है। अतएव यह सर्वथा आवश्यक है कि, हम सर्वप्रथम भारतीय–शब्दों के वाच्यार्थों का समन्वय–बोध प्राप्त करलें, एवं तदनुपात से ही इन वाच्यार्थों की मर्य्यादा सुरक्षित रखते हुए ही अनुवादव्यामोहन के अनुगामी बनें मूलशब्दों को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हुए। **'समझाने'** की आतुरता के स्थान में स्वयं **'समझने'** की आतुरता के जाग्रत होते ही हम इस तथ्य का सर्वात्मना समन्वय कर लेंगे अपने अन्त–र्जगत् में।

अशन-पान–हसन–गमनादि मनःशरीरानुबन्धी लोकक्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली लोकप्रियता, सबके समझ में आजाने वाली सरलता का यहाँ भी समादर हुआ है। और इस दिशा में लोकक्षेत्रानुगत सांस्कृतिक-आयोजनों में जैसी ऋजुता, जैसी सरलता, जैसी लोकप्रियता का समावेश हुआ है ऋषिप्रज्ञा के द्वारा, वैसी सामासिकता का, वैसी लोकप्रियता का सम्पूर्ण विश्व के किसी भी लोकजीवन में आप साक्षात्कार नहीं कर सकेंगे। आबालवृद्धवनिता–आमूर्खविद्वज्जन सभी अपने मनःशरीरतन्त्रों से समष्ट्या, तथा व्यष्ट्या, उभयथा भारतीय–सांस्कृतिक–आयोजनों में, पर्व–उत्सव–सम्मेलन–समारोहों में, इनकी आयोजनात्मिका आचारपद्धतियों में अञ्जसा समाविष्ट होते रहते हैं। किन्तु आत्मबुद्ध्यनुगता ज्ञानविज्ञानात्मिका संस्कृति के क्षेत्र में, तथा तन्नि–यन्त्रित सुसूक्ष्म कर्म्मात्मक-सांस्कृतिक–आचारों में कदापि वैसी मनःशरीरानुबन्धिनी सरलता सम्भव ही नहीं है। तत्त्वचिन्तनमूला संस्कृति, तथा तत्त्वाचरणमूलक सांस्कृतिक आचार, दोनों हीं क्षेत्र आत्मबुद्धिप्रधान बनते हुए तन्निष्ठों में ही मर्य्यादित बने रहते हैं, जिनमें मानसिक–सरलता का प्रवेश भी निषिद्ध मान लिया है ऋषिप्रज्ञा ने। जो महानुभाव इस क्षेत्र में भी सरलता, लोकप्रियता, आज की सभ्यभाषा के अनुसार 'पापूलर' (Popular) आदि के इच्छुक हैं, उनके लिए यह क्षेत्र है ही नहीं। फिर तो इनके लिए मनःशरीरानुबन्धी अशनपानादि कामार्थ, और आज के नृत्य–गीत–वाद्यादि लक्षण, अमुक (सांस्कृतिक तो नहीं) आयोजन ही 'पापूलर' माने जायँगे। अथवा कामभावपूरक सामयिक नाटक–उपन्यासादि ही इनकी मानसिक तुष्टि के कारण माने जायँगे, जो शय्यारूढावस्था में भी सर्वथा सरलता से सशरीर ही मानो इनके प्रज्ञाकोश में विलीन होते रहते हैं। दुर्भाग्यवश इस आत्मबुद्धिक्षेत्र में भी यदि प्राणिमात्र को समझाने जैसी लोकप्रियता का व्यामोहन जागरूक हो जाता है, तो उसका वही परिणाम होता है, जो आज भारतराष्ट्र के सम्मुख है। सब के लिए बोधगम्य आज के सांस्कृतिक–अनुवादों से, लेखों से, एवं रेडियोभाषणों से जनजीवन के सांस्कृतिक–आचारात्मक जीवन में कितना, कैसा, और क्या उत्कर्ष हुआ ?, प्रश्न का समाधान सम्भवतः अब तो प्रज्ञाशीलों के लिए परोक्ष नहीं रह गया होगा।

'समझ में नहीं आता' इस सामयिक उद्‌गार का परोक्ष–प्रच्छन्न वास्तविक अर्थ है–**'समझा नहीं सकते'**। आत्मबुद्धिस्वरूपविस्मृत, अतएव मनोबुद्धिप्रधान मानव 'समझने' से पहिले 'समझाने' के लिए ही विशेषरूपेण आतुर बना रहता है। बुद्धिक्षेत्र का विषय इसके मनस्तन्त्र से परिगृहीत हो नहीं सकता। अतएव केवल मानसिक–दृष्टि से, दृष्टि–अनुग्रहमात्र से यह बुद्धिगम्य विषय तत्काल इसकी समझ में नहीं आने पाता। किन्तु व्यक्तित्त्व–विमोहन के निग्रह से यह अपनी इस अल्पता को व्यक्त कर देने में अपनी हीनता समझ बैठता है। फलस्वरूप यह स्वयं न समझने के कारण समझाने में असमर्थ रहता हुआ बुद्धिगम्य विषयों के सम्बन्ध में **"कठिन है, अतएव जनसाधारण के लिए कोई उपयोगिता नहीं है इनकी"** इत्यादि रूप से आलोचना कर अपने मनस्तन्त्र को यथाकथञ्चित् कल्पना के राज्य में ही सन्तुष्ट मान बैठता है।

सत्यं चैतत् । हम कोई अतिरञ्जन नहीं कर रहे इस सम्बन्ध में इसलिए कि, मानव का विभूतिशाली आत्मबुद्धिनिबन्धन गौरवपूर्ण महान् स्वरूप हमारे सम्मुख विद्यमाम है, जिस के लिए 'न समझने जैसी' हीन भावना का कदापि कोई भी अवसर नहीं है—यदि वह समझने के प्रकृतिसिद्ध सहज उपायों का प्रणतभाव से अनुगामी बन जाता है, तो । ज्ञात अज्ञात—उन असंख्य उपायों में से यहाँ हम तीन उपायों की ओर ही संस्कृतिजिज्ञासु मानव का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिस उपायत्रयी का उस अतिमानवश्रेष्ठ के द्वारा स्वरूप—विश्लेषण हुआ है, हम समझते ही नहीं, अपितु यह आस्था रखते हैं कि, उस के प्रति भारतराष्ट्र के प्रत्येक आस्तिक हिन्दू—मानव की तो आस्था—समन्विता श्रद्धा अक्षुण्णा ही बनती चली आ रही है ।

अपने कल्पित—व्यक्तित्वविमोहन का सर्वात्मना परित्याग कर,—'**पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**' । (बृ० आ० उप०) इत्यादि औपनिषद—सिद्धान्त के अनुसार अपने दिग्देशकालात्मक—बुद्धिवादात्मक—पाण्डित्य को विस्मृत कर, तत्स्थाने च बालभाव का आश्रय लेते हुए, महर्षि दीर्घतमा के—'**अचिकित्वान, चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्**' (ऋक्सं० १।१६४ ।) इस उद्बोधनादेश के अनुसार अपनी विज्ञता के दम्भ का एकान्ततः विसर्ज्जन करते हुए, अपने शारीरिक '**दम्भ**', मानसिक '**मान**', तथा बौद्धिक '**मद**'—भावों से असंस्पृष्ट होकर जो मानव सर्वथा ऋजुभाव से निश्छलरूप से आस्था—श्रद्धा—पूर्वक तत्त्वज्ञ—तत्त्वाचारनिष्ठ विद्वान् के प्रति आत्मसमर्पणात्मक '**प्रणिपात**' कर लेता है, वह अवश्य ही अपनी इस श्रद्धापूता प्रणतिभावमूला मूकजिज्ञासा के अनुग्रह से अपनी बुद्धि में '**संवित्**' नामक उस तत्त्व को प्रतिष्ठित कर लेता है, जिसे —'**संविदेषा स्वयंप्रभा**' इत्यादिरूप से स्वतःप्रकाशित रहने वाला एक अलौकिक तत्त्व माना गया है, जिसे कि लोकभाषा में हम—'**समझ**' नाम से व्यवहृत किया करते हैं, एवं जिस 'समझ' रूपा संवित् के बिना मानवीया बुद्धि अपने बौद्धिक—विमोहन से एकान्ततः निरीहा ही बनी रहती है, जिसके आधार पर ही राजपत्तन में यह लोकसूक्ति प्रसिद्ध है कि—'**समझ बिना बुध बापड़ी**' । एक नितान्त मूर्ख, किन्तु श्रद्धापूर्वक आचारधर्म्म में आरूढ मानव बुद्धिमान् न होता हुआ भी जहाँ 'समझदार' (संवित्शाली) माना जायगा, वहाँ एक विद्वान्—बुद्धिमान् भी इस संविदनुग्रह से वञ्चित होता हुआ '**हीनप्रज्ञ-नासमझ**' ही कहलाएगा । यही हीनप्रज्ञता, अर्थात् यही बौद्धिक दम्भ मानव को प्रणिपातमूला सहज—जिज्ञासा से पराङ्मुख बनाए रखता है, जब कि श्रद्धा—द्वारा स्वतःप्राप्ता संवित् से मानव स्वतः एव प्रणिपातभावानुगत बन जाया करता है, और यही वह प्रथम, एवं प्रमुख आत्मसमर्पणरूप '**प्रणिपात**' धर्म्म है, जिसे अतिमानव भगवान् ने प्रथम स्थान दिया है ।

तत्त्वनिष्ठा के साथ आत्मसमन्वय का दूसरा उपाय है-'**परिप्रश्न**' । मानसिक, तात्कालिक कुतूहल की उपशान्ति के लिए हठात् होपड़ने वाले, असम्बद्ध—युक्ति—तर्काभासादिरूप भातिसिद्ध प्रश्न का नाम हीं है—'प्रश्न' । एवं विनय को आधार बनाए रखने वाला, जिज्ञासामूलक, सामयिक—युक्ति—तर्क—सम्मत—आस्थाश्रद्धात्मक—पूर्वापरपरिणामसमन्वयात्मक—घृतिगुणयुक्त—तात्त्विक—गम्भीर—स्थिति के परितः समाविष्ट रहने वाला प्रश्न ही वास्तविक प्रश्न कहलाया है, जिसे इस '**परितः**' भाव से संस्कृतभाषा में जहाँ '**परिप्रश्न**' कहा गया है, वहाँ वेदभाषा में यही—'**सम्प्रश्न**' नाम से प्रसिद्ध है * । जिसप्रकार प्रणिपात में श्रद्धागर्भिता, अतएव मनो-

---

***—यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।**
यो देवानां नामधा एक एव तं 'सम्प्रश्नं' भुवना यन्त्यन्या ॥
—ऋक्संहिता १०।८२।३।

गर्भिता आस्थाभावप्रधाना आत्मानुगता **'बुद्धि'** की प्रधानता है, तथैव इस सम्प्रश्नात्मक परिप्रश्न में आस्था-गर्भित, अतएव बुद्धिगर्भित श्रद्धाभावप्रधान **'मन'** ही प्रधान माना गया है। और यही तत्त्वनिष्ठाबोध का दूसरा उपाय है।

शेषभूत तीसरे उपाय में बुद्धि--मनोगर्भित, किंवा आस्था--श्रद्धा--गर्भित उस 'भक्तिभाव' की प्रमुखता है, जिसे **'सेवा'** कहा गया है ÷। प्रणिपात, एवं सम्प्रश्न, इन दोनों में असमर्थ अस्मदादि प्राकृत-मानवों के समुद्धार का एकमात्र उपाय यह तीसरा **'सेवा'** भाव ही माना गया है लोकमान्यताओं में। वस्तुस्थिति का निष्कर्ष यही है कि, तत्त्वोपदेष्टा **आचार्य्य** (आचरणशील तत्त्ववेत्ता, न तु आचारशून्य केवल तत्त्ववादी दार्शनिक) का प्राकृतिक स्वरूप भी बुद्धि--मनः--शरीर--भेद से त्रितन्त्रात्मक है, एवं उपदेशश्रोता, तथा तदनुसार आचरण में प्रवृत्त होने वाला **अन्तेवासी** भी अपने प्राकृत--स्वरूप से बुद्धि मनः--शरीर--धर्म्मा ही बना हुआ है। इन तीनों प्राकृतिक भावों की एकतानता से आचार्य्य के प्रति अपनीं निष्ठाएँ अभिव्यक्त करने के लिए इस अन्तेवासी को आचार्य्य के भी बुद्धि--मनः--शरीर-तन्त्रों का संस्पर्श करना हीं पड़ता है। बिना ऐसा किए आचार्य्य के बुद्धयादि भाव अन्तेवासी के बुद्धयादि--भावों की ओर प्रवृत्त ही नहीं हो सकते। शरीरमनोगर्भिता बुद्धि का आचार्य्य की तथाविधा ही बुद्धि के प्रति **समर्पण** कर देने का नाम ही **'प्रणिपात'** है, यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीर-बुद्धि-गर्भित मन का आचार्य्य के तथाविध ही मन के प्रति **अर्पण** कर देने का नाम हीं **'परिप्रश्न'** है, एवं बुद्धि--मनोगर्भित--शरीर को आचार्य्य के तथाविध ही शरीर के प्रति **समुपस्थित** किए रहने का नाम हीं 'सेवा' है। सेवा में आचार्य्य का **शरीरप्रधान 'आदेश'** प्रधान बना रहता है अन्तेवासी के लिए, परिप्रश्न में आचार्य्य का **मनःप्रधान 'उपदेश'** प्रधान बना रहता है, एवं प्रणिपात में आचार्य्य का **बुद्धिप्रधान 'अनुशासन'** प्रधान बना रहता है। इन्हीं तीनों महान् उपायों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ —गीता ४।३४।

१--शरीर--मनो--गर्भिता बुद्धिः--तदनुगतः--प्रणिपातभावः-तत्रनिष्ठः--उत्तमोऽधिकारी

२--शरीर--बुद्धि--गर्भितं मनः--तदनुगतः-परिप्रश्नभावः--तत्रनिष्ठः--मध्यमोऽधिकारी

३--मनो--बुद्धि--गर्भितं शरीरम्--तदनुगतः--सेवाभावः--तत्रनिष्ठः--सामान्योऽधिकारी

उक्त तीनों उपायों में से किसी भी एक भी उपाय को यदि मानव निश्छलपूर्वक अपना लेता है, तो अवश्य ही कालान्तर में इस में वैसी अजिह्मता--ऋजुता का आविर्भाव हो ही जाता है, जिसके अनुग्रह से इस का काल्पनिक व्यक्तित्व तो हो जाता है पलायित, एवं तत्स्थान में उस 'संवित्' का होजाता है उदय, जिसे 'समझ' कहा गया है पूर्व में। यही 'समझ' इसे आत्मबुद्धिगम्य विषयों को अञ्जसा 'समझा' देती है, और फिर कोई भी तो कठिनता--दुर्बोध्यता नहीं रह जाती तत्त्व के समन्वय में, एवं तदनुगत आचरण में। इस 'समझ' के अनुग्रह से मानव ज्यों ज्यों आत्मबुद्धिनिष्ठ इस शास्त्रीय तत्त्वस्वाध्याय के सन्निकट आता जाता है

÷ 'भज'--सेवायाम्

ऋजुतापर्वक, त्यों त्यों स्वत: ही इस में सहज–बोध का उदय होता जाता है, एवं उसी अनुपात से आत्मप्रसाद-रूपा शान्ति अभिव्यक्त होती जाती है * । ÷ अवक्रचेता (अकुटिल) अव्ययब्रह्म के उपासक, ऋजुता के प्रतिरूप भारतीय महर्षि की सहजभावानुगता संवेदनशीला ऋजुप्रज्ञा से दृष्ट भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में तो कठिनता–वक्रता–दुर्बोध्यता–जैसे भावों की कल्पना भी नहीं की जासकती । जो कुछ कहा गया है, सरलता से कहा गया है । तभी तो वेदशास्त्र का-'**योऽञ्जसानुशासति**' कहना अन्वर्थ बनता है । वेदशास्त्र कठिन तो उस दशा में होजाता है, जब हम अपने बुद्धिवादव्यामोहन से अपनी मान्यताओं के अनुपात से इसे सरल बनाने के लिए आतुर हो पड़ते हैं । किंवा आत्मबुद्धिसम्मता सहज ऋजुता को जब हम मन:शरीर-निबन्धना लोकप्रियता से समन्वित कर डालने के लिए कटिबद्ध बन जाते हैं । और उस अवस्था में तो यह कठिनता चरम-सीमा पर ही पहुँच जाती है, जबकि हम स्वयं–'**समझने**' की निष्ठा से पराङ् मुख होते हुए दूसरों को '**समझाने**' जैसी भयावहा भावुकता से आविष्ट होते हुए दूसरों की लोकानुबन्धिनी भाषाओं के पर्य्याय-माध्यम से शास्त्रीय–शब्दों के लाक्षणिक–अर्थ करने में प्रवृत्त हो जाते हैं । निश्चय ही इसी प्रमुख भूल ने सरलतम भी, सुबोधगम्य भी भारतीय ऋजुशास्त्र को, तदभिन्ना संस्कृति को, एवं तन्मूलक आचार, आयोजनादि को स्वयं उस भारतीय मानव के लिए ही आज कठिनतम–दुर्बोध्यतम बना दिया है, जिस कठिनता–दुर्बोध्यता के काल्पनिक आवेश में आकर ही यह भारतीय–मानव अपने इस महान् सांस्कृतिक–वैभव से विगत तीन सहस्र–वर्षों से तो बनता आरहा है पराङ् मुख, एवं तत्स्थाने च स्वकल्पनाप्रसूता–पर्य्यायशब्दभ्रान्तिमूला सरला–बोधगम्या–लोकप्रिया–काल्पनिक–व्याख्याओं के प्रति होता आरहा है आकर्षित । परिणाम इस स्खलन का जो हुआ, सम्मुख विद्यमान है इसके । इसी पारम्परिक स्खलन का यह दुष्परिणाम है कि, चिरन्तनेतिवृत्तात्मक मौलिक–पारिभाषिक शब्दों के वाच्यार्थ तो होगए अन्तर्म्मुख, एवं तत्स्थान में लाक्षणिक–लोकानुबन्धी–पर्य्याय-शब्दार्थ बन गए 'शास्त्र' । दूसरे शब्दों में '**संस्कृति**' बन गई परोक्ष, एवं लाक्षणिक '**कल्चर**' शब्द बन गया 'संस्कृति' । यही स्थिति सभी मौलिक–शब्दों के सम्बन्ध में घटित–विघटित हो पड़ी 'पापूलर' शब्द के महान् व्यामोहन से, किंवा 'समझने' के स्थान में आविर्भूत हो पड़ने वाले 'समझाने' के महान् विमोहन से । "**हमें अपना कुछ नहीं समझना है, किन्तु समझा अवश्य देना है दूसरों को । दूसरे भला हमारे मौलिक शब्द कैसे समझलेंगे । अत: हमें उन के शब्दों के माध्यम से उन के लिए बोधगम्य बना कर ही उन्हें समझा देना है**" इसप्रकार की स्खलन–वृत्ति से ही आगे चल कर यह परिणाम निकल पड़ा कि, उनके शब्दों के द्वारा जो कुछ समझा जाता है, वही हम भी समझ गए अपने शब्दों को विस्मृत ही करते हुए । अथवा तो उनकी अपनी मान्यता के अनुपात से उनके लोकप्रिय–शब्दों के जो अर्थ उन्होंनें किए हैं, वे ही अर्थ हमनें अपने मौलिक शब्दों के अर्थ मान लिए उसी–'समझाने' की पापूलरता के व्यामोहन से ।

***-यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥**
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ —मनुः ४।२०।

÷ पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
—कठोपनिषत् ५।१।

अतएव आज जब हम से 'संस्कृति' शब्द का अर्थ पूँछा जाता है, तो हम बड़े गौरव से तत्काल उत्तर दे डालते हैं कि--"**संस्कृति, अर्थात् कल्चर, सभ्यता--अर्थात्--सिविलाइज़ेशन, सांस्कृतिक, अर्थात् कल्चर्ड, सभ्य--अर्थात् जन्टिलमेन**"। और जब कल्चर--आदि का अर्थ पूँछा जाता है, तो उन्हीं की डिक्सनेरियाँ हमारे सामने रख दीं जातीं हैं। एवं इसी पद्धति से आज के अभिनव--भारतीय--विद्वानों के द्वारा, अर्थात् '**स्कॉलरों**' के द्वारा लोकोत्तरा '**डॉक्टरेट**' उपाधि--प्राप्ति से सम्बन्ध रखने वाले तथाभूत 'तत्त्वशोधकार्य्य', अर्थात् '**रिसर्च**' के कार्य्य बड़े ही आवेश से प्रक्रान्त हैं, जिन के मूलाधार प्रमुखरूप से अभारतीय लाक्षणिक--शब्दकोश ही बने हुए हैं। यही वह सरलता ? है, जिस इस कठिनतानें हीं भारतीय सांस्कृतिक--निधि से भारतीय मानव को सर्वथा ही पराङ्मुख बना दिया है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस से अधिक और क्या होगा कि, '**छन्दोभ्यस्ता**' नाम से प्रसिद्धा भारतीय **वेदभाषा में** *, किंवा '**संस्कृतभाषा**' में, किंवा तत्प्रसूतिरूपा सांस्कृतिक--हिन्दी--(हिन्दुस्तानी नहीं)--मराठी--गुजराती--तेलगू--बंगाली--आदि प्रान्तीय-भाषाओं में उपनिबद्ध भारतीय--वाङ्मय तो हम भारतीय--मानवों के लिए बन गया है आज कठिनतम, एवं दुर्बोध्यतम, और····अलमतिपल्लवितेन आलप्यालात्मकप्रसङ्गेन।

अपनी मूलनिधि को (जिस मूलनिधि के गर्भ में सम्पूर्ण विश्व के मानवमात्र के स्व--स्व कर्त्तव्यों के दिगदेशकालानुबन्धी प्रकृतिसिद्ध बीज निहित हैं ÷) शब्दों की बाह्याकृतिमात्र से कठिन मान कर सर्वात्मना निरपेक्ष बना देने वाले, तत्स्थाने च अभारतीय भाषाओं के व्यामोहन में आसक्त हो पड़ने वाले, एवं तन्माध्यम से ही भारतीय समस्याओं के समन्वय में प्रवृत्त होपड़ने वाले अपने भारतीय बन्धुओं का ध्यान हम उन प्रतीच्य-विद्वानों की सहज सांस्कृतिक--निष्ठा की ओर ही आकर्षित करेंगे, जो प्रतीच्य--विद्वान् हीं आज इनके आदर्श प्रमाणित होरहे हैं। वेदशास्त्र जैसे पारिभाषिक शास्त्र की, एवं संस्कृतभाषाप्रधान अन्यान्य भारतीय शास्त्रों की कथा तो विदूर रही। अपितु सांस्कृतिक-शब्दप्रधाना विशुद्धा 'हिन्दीभाषा' भी जिन हमारे आत्मबन्धुओं को आज कठिन, अर्थात् अनपापूलर (unpopular) प्रतीत हो रही है, उन्हें सम्भवतः ही क्यों, निश्चयेन यह तो विदित होगा ही कि, स्वनामधन्य अमुक पश्चिमी विद्वानोंनें अपनी सहज जिज्ञासा-निष्ठा-आस्था-के बल पर ही अन्याय भारतीय--शास्त्रों की भाँति वेदशास्त्र की भी पर्य्याप्त आराधना की है अपनी मान्यता के अनुपात से। जो वेद--भाषा, तथा संस्कृतभाषा उनके लिए सचमुच में दुर्बोध्या--कठिनतमा थी, उसकी आराधना में वे तो न केवल प्रवृत्त ही हो रहे हैं, अपितु अपनी मान्यताओं के अनुपात से इन ग्रन्थों की स्वतन्त्र--व्याख्याएँ कर रहे हैं। और हमारे उन भारतीय बन्धुओं के लिए सांस्कृतिक--हिन्दी भी 'कठिन' शब्द माध्यम से आज उपेक्षणीय बन रही है, इससे अधिक हमारा सांस्कृतिक--अधःपतन और क्या होगा ? । वेदादि शास्त्रों के उनके (प्रतीच्य)

---

* '**पथ्यास्वस्ति**' नाम से प्रसिद्धा वैदिक-वर्णमात्रिका में २८८ वर्ण हैं, जिस स्वतःसिद्ध इस वर्णसमाम्नाय के लिए ही षडङ्गशास्त्रों में '**शिक्षाशास्त्र**' को प्रथम स्थान मिला है। अपने इसी वर्णमहिमा-भाव से समन्विता वेदभाषा--'**छन्दोभ्यस्ता**' नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका--'**वैदिक--वर्णमात्रिकास्वरूप-परिचय**' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में स्पष्टीकरण हुआ है।

÷--**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ [मनुः]।

अनुवादों को आधार बना कर ही आज अमुक भारतीय विद्वानों की वेदज्ञता पुष्पित–पल्लवित हो रही है । और जिसप्रकार विगत शताब्दियों में सम्प्रदायवादसापेक्षतामूला सत्ताश्रयता की छत्रछाया में पुष्पित–पल्लवित होते रहने वाले संस्कृतज्ञ भारतीय–विद्वानों की सरलतानुगता-मान्यता से सम्बन्ध रखने वालीं व्याख्याएँ हीं प्रमाण बनतीं रहीं हैं, तथैव आज भी उसी सत्ताश्रयमूलक विमोहन की कृपा से प्रतीच्य–व्याख्याएँ हीं अस्मदादि जनसाधारण के लिए प्रमाणभूता संस्कृति बन रही है, जिसके आकर्षण से ही आज दुर्भाग्यवश हम मनःशरीरानुबन्धी काल्वालीकृत–नृत्य––गीत–वाद्यादि––समाकुलित अमुक आयोजनाभासों को ही– **'सांस्कृतिक–आयोजन'** जैसी पावन अभिधा से समन्वित करने लग पड़े हैं बड़े ही आवेश के साथ ।

त्रिसहस्रवर्षावधि से प्रक्रान्त रहने वाले साम्प्रदायिक–मतवादों से एकान्ततः असंस्पृष्टा श्रुति–स्मृति–पुराण–प्रतिपादिता भारतीय मौलिक–संस्कृति, एवं तदभिन्न शाश्वतधर्म्म के प्रति एकान्ततः निरपेक्ष बन जाने के कारण, साथ ही प्रतीच्य–मान्यताओं के अनुपातमात्र से समायोजित आज के लोकविश्रुत **'सांस्कृतिक-आयोजनों'** के प्रति सर्वात्मना सापेक्ष बन जाने कारण हीं भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-प्रज्ञा अपनी राष्ट्रीयता से सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित होती जारही है । इस पराङ्मुखता से प्रत्येक राष्ट्रीय–मानव का चिन्तित होना स्वाभाविक है । शत–शत-शताब्दियों, सहस्राब्दियों से अपनी तथाकथिता सांस्कृतिक थाथी (धरोहर) का येनकेनरूपेण गच्छतः स्खलनरूपेणापि अद्यावधि परम्परया अनुगमन करते रहने वाले राष्ट्रीय मानव का इस प्रक्रान्त दशवर्षीय परतन्त्रता–विमुक्ति–काल में यों सहसा कैसे, क्यों परिवर्त्तन होगया ?, प्रश्न के उत्पीड़न ने हीं हमें **संस्कृति, सभ्यता, सांस्कृतिक–आचार, सांस्कृतिक–आयोजन**, इत्यादि भारतीय–शब्दों की ओर आकर्षित कर लिया, एवं तदाकर्षण से ही बुद्धिव्यामोहनात्मक-प्रस्तुत सांस्कृतिक–निबन्ध उपनिबद्ध हो पड़ा ।

वेदवाङ्मय के यत्किञ्चित् संस्पशमात्र से अनुगृहीत, तथैव तत्प्रसूतिरूपा देववाणी–संस्कृतभाषा के चञ्चुप्रवेश से उपकृत, तत्प्रसूतिभूता हिन्दी के क्रमबद्ध अध्ययन से तो सर्वथा ही वञ्चित, एवं आज के युग के लिए अनिवार्य्यरूपेण समाराध्या इंगलिशादि प्रतीच्य–भाषाओं से तो सर्वथा ही पराःपरावत, इत्थंभूत इस प्राकृत-व्यक्ति ने अपनी अज्ञता–परम्पराओं से आवेष्टित रहते हुए **'संस्कृति, सभ्यता-शब्दों के चिरन्तन–इतिहास'** के सम्बन्ध में, एवं **'भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों की रूपरेखा'** के सम्बन्ध में जो किञ्चिदिव निवेदन कर लेने की अनधिकार–चेष्टा करली है, उसके लिए एकमात्र राष्ट्रहितानुबन्ध से ही हम राष्ट्र के विज्ञ-सुविज्ञ–संस्कृतिमर्म्मज्ञ विद्वानों से क्षमा–याञ्चा कर लेना अपना राष्ट्रीय–कर्त्तव्य ही मान रहे हैं ।

विश्वदर्शन, अन्तर्राष्ट्रीय––स्थितिपरिस्थितिदर्शन–––राष्ट्रस्वरूपदर्शन–––दिग्देशकालदर्शन––समाजदर्शन––लोकराजनीतिदर्शन–आदि आदि दर्शनों की कथा का तो अवसर ही उपलब्ध नहीं हुआ है हमें अपने इस भौतिक–जीवन में अहोरात्र एकमात्र 'स्वदर्शन' के लिए ही निरन्तर प्रयत्न–शील बने रहने के कारण । अतएव हम सर्वात्मना उसी सम्मानित उपाधि से सदा ही समलङ्कृत रहे हैं, जो उपाधि–**'कूप–मण्डूक'** नाम से प्रसिद्ध है संस्कृतसाहित्य में । हमने तो आजतक अपनी मण्डूकप्लुति के द्वारा 'तात' के उसी कूप के क्षारजल से ही स्वपिपासा शान्त करते रहने का प्रयास किया है, जिसका पान करने वाले को

दिग्देशकालविज्ञ, एवं **समुद्र के सुमधुरतम !** जल का पान करते रहने वाले विश्वद्रष्टा मनीषी **'कापुरुष'** * कहा करते हैं, जिस इस शब्द का अनुवाद आज की लोकप्रिय भाषा में सुसांस्कृतिक-उदार-मानवों के द्वारा-**'दकियानूसी'-'पुराणपन्थी'-'रूढिवादी'-'सम्प्रदायवादी'** इत्यादि अभिधाओं से समलङ्कृत है, जिन अभिधाओं को सचमुच हमनें तो सदा से अपने अलङ्कार ही माना है, और यही हमारी निरतिशया मनस्तुष्टि है। अवश्य ही युगधर्म्मप्रभाव से मध्ये मध्ये वित्तैषणागर्भिता लोकैषणा के आकर्षण से **सत्तातन्त्रों** के प्रति, लोकैषणागर्भिता वित्तैषणा के आकर्षण से सम्पन्न **भलन्दनवंशजों** के प्रति, विशुद्धा लोकैषणा के व्यामोहन से सम्प्रदायवादभक्त संस्कृतज्ञ **प्राच्य विद्वानों** के प्रति, एवं अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमुग्ध संस्कृतिमर्म्मज्ञ अभिनव **भारतीय विद्वानों** के प्रति भी हम अंशतः आकर्षित होते रहे हैं, जिस इस युगधर्म्मानुगता आकर्षण-परम्परा से हमें तो वैसा उद्बोधन ही उपलब्ध हुआ, जिस की कृपा से इन व्यापक-सामुद्र-जलों के समतुलन में हमें तो अपने तात के कूप का क्षारजल ही सुस्वादु प्रतीत हुआ। और अन्ततोगत्त्वा हमें अपनी परम्परासिद्धा कूपमण्डूकता से इसी निर्णय पर पहुँच जाना पड़ा कि, युगधर्म्मानुगता ये सभी एषणाएँ, सभी सुख-सुविधाएँ, सभी सापेक्षताएँ मानव को दिग्देशकालातीता, अतएव सर्वनिरपेक्षा, किन्तु ईश्वरसापेक्षा, लोकक्षेत्रे च आत्मश्रद्धा-परायण जनतन्त्र-सापेक्षा भारतीय संस्कृति के प्रति सर्वात्मना निरपेक्ष ही बना देतीं हैं, जिस निरपेक्षता से बाह्य तन्त्रों में आसक्त-व्यासक्त बन जाने वाली मानवप्रज्ञा संस्कृति की स्वाध्यायनिष्ठा से तो सर्वथा ही पराङ्मुख प्रमाणित हो जाया करती है, जैसा कि तत्सापेक्षतावसरों पर सर्वात्मना हम अनुभव करते रहे हैं।

सम्भवतः इसीलिए संस्कृति के स्वरूपद्रष्टा ऋषि ने सत्तानिरपेक्षा, अतएव सर्वनिरपेक्षा इस ईश्वरीय-संस्कृति के उपासक भारतीय-ब्राह्मण को × **'गुहानिहित'** बने रहने के आदेश से ही समन्वित कर दिया है।

*** तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति।**

× संस्कृति-स्वाध्यायनिष्ठ, एवं तदाधारेण सभ्यतास्वरूप-व्यवस्थापक, किंवा सांस्कृतिक-आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजन-व्यवस्थापक आत्मनिष्ठ ब्राह्मण की निष्ठा का केन्द्र आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-नामक चार तन्त्रों में से वह **'आत्मा'** ही बना रहता है, जिसे-**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'** (उपनिषत्) के अनुसार श्रुति ने **गुहानिहित** (एकान्तनिष्ठ-परोक्ष) ही माना है। इस गुहानिहित आत्मा को, तदभिन्ना संस्कृति को चिन्तन के द्वारा अपना उपास्य बनाए रखने वाले ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक है कि, वह प्राकृतिक-बाह्यतन्त्रों से पृथक् रहता हुआ गुहानिहित ही, एकान्तनिष्ठ ही बना रहे, जिसका-**'अरतिर्जन-संसदि'** (गीता) से भी समर्थन हुआ है। सांस्कृतिक-आचार, तथा सांस्कृतिक-आयोजनों की [सभ्यता की] व्यवस्थाओं को लोकतन्त्रद्वारा स्वीकृत कराने वाला, अतएव सभ्यता-व्यवस्था-मात्र का संरक्षक क्षात्रतन्त्रात्मक सत्तातन्त्र **'सौर्य्यमारुतिक'** माना गया है, जिसका अर्थ है विभ्राट्तेजोमय पौरुष से समन्वित, एवं वायुवेगसम क्रियाशील। बाह्य-लौकिक-व्यवस्थाओं की आर्थिक-सञ्चय-व्यवस्था के उत्तरदायित्व से अनुप्राणित अर्थ-कुशल वैश्य **'वाताताविक'** कहलाया है, जिसका अर्थ है धूप-छाह-की चिन्ता न करता हुआ अपने व्यवसाय-कर्म्म में सदागति-धर्म्मा वायु की भाँति एकनिष्ठ बने रहना। यों **गुहानिहित ब्राह्मण** की ज्ञाननिष्ठा से, **सौर्य्य-मारुतिक सत्तातन्त्र** की पौरुषनिष्ठा से, तथा **वाताविक-वैश्यतन्त्र** की अर्थनिष्ठा से राष्ट्र की ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मयी तीनों राष्ट्रशक्तियाँ पुष्पित पल्लवित होतीं रहतीं हैं। ज्ञान से नियन्त्रित कर्म्म, एवं कर्म्म से नियन्त्रित अर्थ ही राष्ट्र के राष्ट्रत्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है।

लोक–समाज–सत्ता–आदि के सम्पर्क से सम्बन्ध रखने वाली प्रसिद्धि–[यशःख्यापन] ही संस्कृतिनिष्ठ भारतीय–ब्राह्मण का वह महान् पतन है, जिस पतनगर्त्त में समाविष्ट होने के अनन्तर इसका कुछ भी तो सांस्कृतिक–स्वरूप शेष नहीं रह जाता। लोकसम्मान से बड़ा शत्रु इस उपासक के लिए अन्य कोई दूसरा नहीं है। लोक–तान्त्रिकी सम्पूर्ण उन आर्थिक–सुख–सुविधाओं का अहिःकञ्चुकिवत् परित्याग करते हुए गुहानिहितवृत्त्या स्वाध्यायनिष्ठ, एवं आचारशील बने रहना, साथ ही लोकसम्मानों से अपने आपको सर्वथा असंस्पृष्ट बनाए रखना, सर्वोपरि युगधर्म्म की कृपा से आविर्भूत–तिरोभूत–होतीं रहने वालीं अपमान–तिरस्कार–भर्त्सना–उत्पीड़न–परम्पराओं को अपना सम्मान मानते रहना हीं भारतीय ब्राह्मण की संस्कृति–स्वाध्यायनिष्ठा के संरक्षण का वह महान् राजपथ है, जिसके प्रति भगवान् मनु ने इन शब्दों में उद्बोधन प्रदान किया है भारतराष्ट्र की भूसुरप्रज्ञा को कि—

(१)–सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता (मनुः ४।१७)।

(२)–सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ (मनुः २।१६२)।

'न त्वहं तेषु, ते मयि' ही गुहानिहित–शब्द का भावार्थ है। **'समब्रह्म'** नाम से प्रसिद्ध अव्ययात्मा ही वह गुहानिहित 'ब्रह्म' है, जिसकी शाश्वत कृति का ही नाम 'संस्कृति' है, जोकि आत्मब्रह्मवत्–**'आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायां–तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः'**–इत्यादि औपनिषद सिद्धान्तानुसार गुहानिहित, परोक्ष ही माना गया है *। स्वतः ही तत्कृतिरूपा संस्कृति की भी गुहानिहितता प्रमाणित हो जाती है। अतएव जबतक ब्राह्मण आत्मनिष्ठ बन कर सम्पूर्ण लोक–बाह्य–व्यासङ्गों से पृथक् होकर एकान्तनिष्ठारूपेण गुहानिहित नहीं बन जाता, तबतक कदापि 'संस्कृति' के वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाली **'निरपेक्षा-संस्कृति'** के चिन्तन-स्वाध्याय में तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है। लोकव्यासङ्ग मानव के बहिर्म्मुख मन को दिग्देश-कालानुबन्धिनी योगमायात्मिका मान्यताओं की ओर बलपूर्वक आकर्षित कर ही लेता है ÷। और उस दशा में संस्कृति के उपासक को इस मानसिक–आकर्षण से मूलसंस्कृति के साथ मानसिक वैसी कल्पनाओं का भी समावेश कर ही देना पड़ता है, जिन कल्पनाओं से कालान्तर में संस्कृति का मूल तो हो जाता है अन्तर्म्मुख, एवं काल्पनिक मान्यताएँ हीं बन जातीं हैं–संस्कृतियाँ। 'संस्कृति' का अखण्डत्त्व उच्छिन्न होते ही 'संस्कृति' 'संस्कृति' न रह कर **'संस्कृतियाँ'** कहलाने लग पड़तीं हैं, जिनका आज की अभिनवभाषा में नामकरण हो पड़ा है—**'सामासिक–संस्कृति'**, जिसका अर्थ किया जारहा है—**'अनेक संस्कृतियों के मेल से उत्पन्न होने वाली संस्कृति'**, जिसका महान् व्यामोहक दूसरा नाम है–**'अन्तर्राष्ट्रीय–संस्कृति'**। एवं निश्चयेन इस

*** नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।** [गीता]

÷ ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥ [श्रीदुर्गासप्तशती]

दशवर्षात्मक जागरणकाल में अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिविमोहन के निग्रहात्मक--अनुग्रह से ही संस्कृति--सभ्यता--शब्दों के चिरन्तनशब्द--वाच्यार्थों से एकान्ततः असंस्पृष्ट भारतराष्ट्र की सनातन--संस्कृति से सर्वथा ही विपरीत **सांस्कृतिक-आयोजन** नामक वैसा **महा अभ्व, महा यत्त** आविर्भूत हो पड़ा है, जैसा आविर्भाव विगत तीन सहस्र--वर्षों के सांस्कृतिक--अधःपतनकाल में भी नहीं हुआ था।

क्यों नहीं हुआ था ?, इस प्रश्न का उत्तर संस्कृतिनिष्ठों से परोक्ष नहीं है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, विगत तीन सहस्र--वर्षों से भारतराष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा ब्राह्मणप्रज्ञा भी सत्ताश्रयता के द्वारा संस्कृति के संरक्षण--व्यामोहन से उत्तरोत्तर भावुक ही प्रमाणित होती रही। **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** मूलक यज्ञेश्वर--सोममूर्त्ति पारमेष्ठ्य महद्ब्रह्म के स्थान में इसने भी सामान्य प्रजावत् सत्ताधीश को ही स्वस्वामी मान कर तत्प्रति अपनी सांस्कृतिक--निष्ठाएँ समर्पित करदीं, जबकि इसे--**'तस्माद्ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्'** [शतपथब्राह्मण] इत्यादि श्रुतिमूलक **'राजान्नं तेज आदत्ते'** इस स्मार्त्त आदेश के अनुसार सत्तातन्त्रों से सर्वथा निरपेक्ष ही बना रहना चाहिए था। इस सापेक्षता से ही इसका सांस्कृतिक--चिन्तन शिथिल ही होता गया उत्तरोत्तर, जिस शैथिल्य का पर्य्यवसान आगे चलकर संस्कृतिस्वरूपविघातक, किंवा आवरक विभिन्न मतवादों पर ही हुआ, और इन मतवादों से ही राष्ट्र का सांस्कृतिक अखण्डत्व खण्ड--खण्ड--रूप में परिणत होगया। यों एकमात्र सत्तासम्मान--सत्ताश्रय--कामुक ब्राह्मण की यत्किञ्चित् सी ही भूल से राष्ट्रीय--संस्कृति धूमिल ही बन गई।

इन सब अकाण्ड--ताण्डवों के घटित--विघटित होते रहने पर भी राष्ट्र में स्वनामधन्य वैसे ब्राह्मणश्रेष्ठ भी आविर्भूत होते ही रहे, जो लोकतन्त्रों से पृथक् रह कर संस्कृति के शब्दकोशमात्र का तो पारायण के द्वारा प्राणपण से संरक्षण करते ही रहे। एतदतिरिक्त जिन्होंनें सत्तातन्त्र के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था, वे भी श्रुति--स्मृति--पुराणादि मौलिक शास्त्रों की प्रामाण्यबुद्धि से विचिलित नहीं हुए ब्रिटिशसत्तातन्त्र के पूर्वयुग पर्य्यन्त (मुगलशासनयुगपर्य्यन्त)। अतएव बुद्धयुग से आरम्भ कर मुगलकालपर्य्यन्त के सांस्कृतिक--अधः--पतनकाल में भी मध्ये मध्ये यदा कदा वैसी सांस्कृतिक प्रतिभाएँ आविर्भूत होतीं रहीं, जिनके द्वारा सांस्कृतिक आचार--आयोजनरूप विकम्पित भवनों को आधार मिलता रहा येनकेनरूपेण। तदित्थं--गच्छतः स्खलनरूपेण यदा कदा उपलब्ध होते रहने वाले सांस्कृतिक--सूत्रों के अनुग्रह से ही भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक--चेतना का सर्वात्मना अभिभव न हो सका। अतएव च वर्त्तमानयुग के आयोजनात्मक अभ्व--यत्त यों नग्नरूप से आविर्भूत न हो सके विगत तीन सहस्र वर्षों की अवधिरूप सांस्कृतिक--ह्रासकाल में भी एकमात्र भारतीय--ब्राह्मण की संस्कृतिनिष्ठा के अनुग्रह से ही। यही तो कारण है कि, तथोक्ता अवधि में भारत में बुद्धयुग से आरम्भ कर आजतक जितने भी सम्प्रदायवाद, मतवाद आविर्भूत--तिरोभूत होते रहे, सब ने किसी न किसी रूप में ब्राह्मण के प्रति अवश्य ही अपना आक्रोश व्यक्त किया। यही नहीं, ब्रिटिशसत्तायुग में इसायत के प्रचार को अग्रणी बना कर यहाँ पधारते रहने वाले पादरियोंतकने एकमात्र ब्राह्मणवर्ग को ही अपने प्रचार का महान् प्रतिबन्धक अनुभूत किया। और तदनन्तर तो सभी की यह भाषा ही हो गई कि, 'इस देश का ब्राह्मण ही राष्ट्रीय-प्रगति का शत्रु है'। छोटे बड़े आज के प्रत्येक आयोजन में तबतक आयोजन की इतिकर्त्त-व्यता सर्वाङ्गीण मानी ही नहीं जाती, जबतक कि परम्परानुगत राष्ट्रीय ब्राह्मण के प्रति प्रतिक्रियात्मक आक्रोश येन-केनरूपेण अभिव्यक्त नहीं कर दिए जाते।

मुगलसत्तापर्य्यन्त संस्कृति के, एवं तदनुगता शिक्षा के सूत्र जनतन्त्र से ही समन्वित बने रहे। अतएव सत्ताश्रयता के विद्यमान रहते भी तद्युगपर्य्यन्त भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक-शिक्षात्मक हृदय सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो अवश्य ही विशुद्ध रहा। किन्तु ब्रिटिशसत्ता के चाणाक्षचतुर लोकराजनीतिपटु **लॉर्ड मेकॉले** जैसे दूरदर्शियों के अनुग्रह से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण होजाने मात्र से, तथा श्रीविक्टोरिया की लोकप्रिया धर्म्मनिरपेक्षघोषणा के अनुग्रह से जनतन्त्र के हृदय सर्वथा ही अन्तम्मुर्ख बन गए। राष्ट्र की विशिष्ट प्रज्ञाएँ भी इस नवीन चाकचिक्य से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं।

जिन विशिष्ट प्रतिभाओं को आर्थिक-सौकर्य्य उपलब्ध था, वे तो प्रतीच्य शिक्षायन्त्रों से यन्त्रिता, किंवा नियन्त्रिता बन गईं। एवं जिन विशिष्ट प्रज्ञाओं को वैसी सुविधा उपलब्ध न होसकीं, वे परम्परया प्राप्त मतवादात्मक पाण्डित्य की ही अनुगामनी बनी रह गईं, जिन में से कतिपय वैसी प्रज्ञाओं को ब्रिटिशसत्ता ने अपने तन्त्र में ही दीक्षित कर लिया अमुक उपाधि-दानों से, जिनमें कुछ विशेष योग्यताएँ थीं। अब रह गया वैसा वर्ग, जो पाण्डित्य में भी असमर्थ था। मानना पड़ेगा कि, एकमात्र उसी के अनुग्रह से, स्व-योगक्षेमार्थ विहित उसके पूजन-पाठ-पारायण-ग्रहहवनादि-व्यासङ्गानुबन्धों से ही, किन्तु सर्वथा विकीर्णरूप से-दैन्यभाव से ही संस्कृतिसूत्र अभिव्यक्त होते रहे, जिस उस सर्वशून्य निरीह ब्राह्मणवर्ग का ब्रिटिशयुग में कोई भी सामाजिक स्तर शेष नही रह गया था। एकप्रकार से तद्युग का अर्थकुशल वैश्यसमाज ही उस वर्ग का रक्षक बना हुआ था। वैश्य की व्यावसायिकी धर्म्मभीरुता से ही उसे सर्वथा सेवकरूप से ही वैश्य के यहाँ यथाकथंचित् प्रश्रय मिल जाता था। पण्डितम्मन्य, अमुक उपाधिविभूषित प्रसिद्ध विद्वान् व्याकरण-न्याय-साहित्य-काव्य-अलङ्कार-आदि अङ्गशास्त्रों के पाण्डित्य से विभोर बने रहते हुए श्रुति-स्मृति-पुराण-के अध्ययनाध्यापन से प्रायः पराङ्मुख ही बन गए थे ब्रिटिशयुग में। अधिक से अधिक सम्मेलन-समारोहों के नेतृत्वमात्र पर ही इनका पाण्डित्य परिसमाप्त हो जाता था। ऐसे घोरघोरतम सांस्कृतिक-संघर्षकाल में भारत के मूलप्राणरूप वेदशास्त्र के मन्त्र यदा कदा तथाविध निरीह ब्राह्मणों के द्वारा ही सुनने का महद्भाग्य उपलब्ध होता रहता था यहाँ की आस्तिक प्रजा को।

सुनते हैं—उसी युग में भारतराष्ट्र की एक ब्राह्मणप्रज्ञा के द्वारा ही भारतीय संस्कृति के सन्देशवाहक वेदशास्त्र के सम्बन्ध में महान् उद्घोष अभिव्यक्त हुआ था, जो प्रज्ञा **'स्वामी दयानन्द'** नाम से लोकविश्रुत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि, भारत की सांस्कृतिक-विद्वत्प्रज्ञा को उद्बोधन-प्रदान करने के लिए स्वामीजी का वेदोद्घोष महान् उपयोगी ही प्रमाणित हुआ, और फलस्वरूप निद्रानिमग्न विद्वानोंनें भी वेद की ओर दृक्पात का अनुग्रह किया। किन्तु सांस्कृतिक-आचार के प्रति न केवल निरपेक्ष ही, अपितु तत्प्रति सर्वथा आक्रुष्ट ही स्वामीजी का यह उद्घोष, एवं विद्वानों का तात्कालिक वह जागरण, दोनों हीं क्रमशः **सनातन-धर्म्मवाद**, तथा **आर्य्यसमाज**, नामक दो और नवीन मतवादों का सर्ज्जन कर अपने पारस्परिक संघर्ष में सुन्दोपसुन्दन्याय से शीघ्र ही उपशान्त होगए। एक ही वेदशास्त्र को मध्यस्थ बना कर इन दोनों मतवादों में वैसे वैसे प्रचण्ड शास्त्रार्थ घटित विघटित हुए हैं तद्युग में, जिनके मलीमस इतिवृत्त के श्रवणमात्र से भी सांस्कृतिक-हृदय विकम्पित है आजतक। सम्भवतः जन्मजात सहज शत्रुओं में भी वैसे अनार्य्यजुष्ट संघर्ष घटित न हुए होंगे कभी भी, इति नु महतीयं विडम्बना सनातनधर्म्मवादात्मकमतवादस्य, एवं आर्य्यसमाज-वादस्य च वेदभक्तस्य। अतएव अन्ततोगत्त्वा निरीह ब्राह्मणवर्ग ही तद्युग में भी प्रधानरूपेण संस्कृतिसूत्रों का

आस्थाश्रद्धापूर्वक उच्चारण करता हुआ जनतन्त्र की परम्परा का गच्छतः-स्खलनरूपेण आधार बना रहा, और बना हुआ है आजतक भी, जिसका एकमात्र ईश्वरनिष्ठा के अतिरिक्त आज कोई भी सहायक नहीं है। और हम समझते हैं कि, अब वैसा अनुकूल काल उपस्थित हो पड़ा है, जिसमें अवश्य ही निकट–भविष्य में हीं भारतराष्ट्र में अपनी मूलसंस्कृति का शीघ्र ही जागरण होगा, निश्चयेन होगा ही, इसी माङ्गलिक–काल–प्रेरणा ही से प्रस्तुत निबन्ध जनतन्त्र की सेवा में प्रणतभाव से उपस्थित हो रहा है।

किस जनतन्त्र की सेवा में ?। विश्व के उन सभी जनतन्त्रों की सेवा में, जो जनतन्त्र आत्म–बुद्धिनिबन्धन 'मानवस्वरूप' के प्रति आंशिक भी निष्ठा रखते हैं। उन भारतीस जनतन्त्रों की सेवा में, जो आस्था--श्रद्धा--पूर्वक भारतीय संस्कृति के मूलस्वरूप के प्रति सदा से ही अपनी निष्ठाएँ समर्पित करते आए हैं। और सर्वोपरि उस **'महाराष्ट्रीय–जनतन्त्र'** की सेवा में, जिसने विगत तीन सहस्र वर्षों में, विशेषतः महान् संघर्षकालात्मक ब्रिटिशयुग में, सर्वोपरि वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष भी सत्तातन्त्रयुग में भारतीय संस्कृति के सैद्धान्तिक सूत्रों को, तथा अमुक सीमापर्य्यन्त आचारनिष्ठाओं को येनकेनरूपेण सुरक्षित ही रक्खा है।

जैसाकि निवेदन किया जा चुका है, तीन सहस्र--वर्षों में जैसा सांस्कृतिक पतन नहीं हुआ था, इन दस वर्षों में वैसा सांस्कृतिक--पतन हो पड़ा है, जिसे देख कर आश्चर्य्य इसलिए नहीं हो रहा कि, आज से पूर्व के युगों में संस्कृति--धर्म्म--आचार--आयोजनों के सम्बन्ध में इसप्रकार के उत्पीड़न **'पर'** भावों से ही अनुप्राणित थे, जबकि आज हम स्वयं ही राष्ट्रीय संस्कृति को, सांस्कृतिक आचारों को, तथा पर्वोत्सवसम्मेलन--समारोहात्मक भारतीय सांस्कृतिक–आयोजनों को अश्रद्धा की दृष्टि से देखने लग पड़े हैं। दृष्टि यह कहीं से भी हमें मिली हो, आज इस विवाद का अवसर नहीं है। दृष्टि बन अवश्य गई है आज हमारी। तभी तो यह देख कर आश्चर्य्य होता है कि, जिन आज के अमुक नृत्य--गायानादिरूप आयोजनों का 'संस्कृति' शब्द से सम्पर्क भी नहीं है, उनकी इस राष्ट्रव्यापकता पर भी राष्ट्र की सांस्कृतिक--प्रज्ञाएँ तूष्णीं हीं विराजमाना हैं। हम परिचित ही क्या हैं, सान्निध्य में हैं राष्ट्र की कतिपय विशेषप्रज्ञाएँ हमारे। इस सम्बन्ध में दुःख भी इन्हें अपार है। हम यह भी जानते हैं कि, उनकी लेखिनी में वैसा सांस्कृतिक–बल भी है, जिस से वे राष्ट्र को उद्बोधन प्रदान कर सकते हैं। किन्तु देखते हैं, सुनते हैं कि, परोक्ष में इन अकाण्डताण्डवों से दुखार्त्त बने रहते हुए भी ज्ञात–अज्ञात वे आत्मबन्धु प्रत्यक्ष में वही सब कुछ करते जारहे हैं, जैसा तीन सहस्र--वर्षों से सत्तासापेक्षतानुबन्ध से होता आरहा है। प्रश्न करने पर उत्तर मिलता है–"**बात तो ठीक है, कुछ करना तो चाहिए, किन्तु इस से लोकसंग्रह का विघात सम्भावित है। अतएव लोकभावुकता-संरक्षण-पूर्वक ही कुछ होना चाहिए**"--जिस इस इत्यादि इत्यादि उत्तर का एक अक्षर भी हमारी प्राकृत–लोक–बुद्धि में तो समाविष्ट नहीं हो रहा। इस भावुकता–संरक्षण में हीं तो सांस्कृतिक--निष्ठा को, इसके आचार पक्ष को उस सीमापर्य्यन्त हम से पराङ्मुख कर लिया है कि, आज स्वयं हमें हीं अपने आचारों में सन्देह होने लग पड़ा है। राष्ट्रीय–संस्कृति के लिए आज ऐसा संकटकाल समुपस्थित है कि, राष्ट्र की सांस्कृतिक–प्रज्ञाएँ व्यक्तित्वविमोहन के निग्रह से अब भी 'भावुकता' का संरक्षण ही करतीं रहीं, तो भारतराष्ट्र का सांस्कृतिक–भविष्य अत्यन्त ही गुहानिहित बन जायगा, जिसका अन्वेषण सहसा असम्भव ही बन जायगा कालान्तर में। अतएव राष्ट्रप्रज्ञाओं से, विशेषतः **महाराष्ट्रीय–विद्वत्प्रज्ञा** से हम प्रणतिपुरस्सर यह आत्मनिवेदन कर देना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य मानेंगे कि, व यच्चयावत् सम्प्रदायवादों से, एवं सत्ताविमोहनों से असंस्पृष्ट रहती हुई राष्ट्र

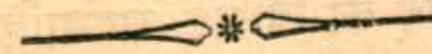
की मूलसंस्कृति की अभिव्यक्ति को ही अपना प्रधान लक्ष्य बना ले, जो कि इसका चिरन्तन--अभ्यास है। इस आत्मनिवेदन के रूप में ही प्रस्तुत निबन्ध तज्जनतन्त्र की सेवामें प्रणतभाव से समुपस्थित हो रहा है।

अपने स्वल्पतम व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध में राष्ट्र के विद्वानों से यह निवेदन कर देने में हमें कोई संकोच नहीं हो रहा कि, किसी भी प्रकार के पाण्डित्य का हमारे व्यक्तित्त्व से संस्पर्श भी नहीं है। अपने स्व० आचार्यचरण परमश्रद्धेय पूज्यवर **श्रीश्रीमधुसूदनजी ओझा** महाराज के शरीरसान्निध्य में प्रणतभाव से समासीन हो कर अपनी स्वलित मनोवृत्ति से मूलसंस्कृति के व्याख्यारूप वेदशास्त्र के सम्बन्ध में जो कुछ सुना है, उस में से जितना अंश--प्रत्यंश गच्छतः स्खलनरूपेण 'स्मृति' का अनुगामी बन पाया है, उसी के आधार पर हमने भारतराष्ट्र की सांस्कृतिक-राष्ट्रीयता का आंशिक-अनुमानमात्र लगाया है। एवं एकमात्र उसी उच्छिष्टांश के बल पर हमने राष्ट्रभाषा हिन्दी को बिना इसकी व्यवस्थित शिक्षा--प्राप्त किए हुए की मातृभाव से अपने अनुमान को व्यक्त करने का माध्यम बना लिया है। अतएव विद्वानों की दृष्टि में विद्वत्ता की दृष्टि से बाल--चपलतापूर्ण हमारे इत्थंभूत बुद्धि--व्यामोहमूलक इन प्रयासों में कुछ भी तथ्य नहीं है। किन्तु सांस्कृतिक--सनातनपद्धति में प्रचण्डालोकमूर्ति भगवान् सूर्य्यनारायण को भी दीप दान समर्पित करने का आदेश विहित है। इसी भाव से राष्ट्र के सूर्य्योपम प्रचण्ड--प्रज्ञाशील--विद्वानों के प्रति पूज्यभाव से दीपदानात्मक यह प्रयास भी समर्पित तो किया ही जासकता है। इसी मङ्गलार्पणरूप **परिशिष्ट--वक्तव्य** के साथ प्रस्तुत **निबन्ध--उपरत** हो रहा है।

इति शम्.

उपरतश्चायं--उद्बोधनात्मकः
सांस्कृतिक-निबन्धः

प्रीयतामनेन संस्कृतिमूर्त्तिर्विश्वेश्वरोऽव्ययः
पुरुषोत्तमो धर्म्मसंस्थापकः
ओं शान्ति ! शान्तिः !! शान्तिः



श्रीः

सत्तानिरपेक्ष–'संस्कृति' शब्द, एवं सत्तासापेक्ष–'सभ्यता' शब्द का चिरन्तन–इतिवृत्त

तथा

भारतीय–'सांस्कृतिक–आयोजनों' की रूपरेखा

नामक

उद्बोधनात्मक–सामयिक–निबन्ध

उपरत

———— ** ————